जैन धर्म

(जैन धर्म के इतिहास, सिद्धांत, आचार, साहित्य,
कला, पुरातत्व, पंथ, पर्व, तीर्थक्षेत्र
आदि का प्रामाणिक परिचय)

लेखक
सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचंद्र शास्त्री
प्राचार्य एवं अधिष्ठाता, स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी-वाराणसी

भूमिका लेखक
डॉ० संपूर्णानंद

श्रुत संवर्द्धन संस्थान
मेरठ

परम पूज्य आचार्य 108 श्री शांतिसागर 'छाणी' जी महाराज के समाधि हीरक महोत्सव
वर्ष **2019-20** के अवसर पर आचार्य श्री शांतिसागर 'छाणी' परंपरा के
षष्ठ पट्टाचार्य 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज की
पावन प्रेरणा से प्रकाशित

जैन धर्म

पुण्यार्जक : श्री संयज जैन (नावला वाले)
मुजफ्फरनगर

ISBN : 978-81-924847-2-3

पूर्व संस्करण (सत्रह) : 30100 प्रतियाँ
प्रस्तुत संस्करण : 5000 प्रतियाँ

न्योछावर राशि : ₹ 150.00 (पुनर्प्रकाशन हेतु)

प्राप्ति स्थान :

- **श्रुत संवर्द्धन संस्थान**
  प्रथम तल, 247 दिल्ली रोड
  मेरठ-250002 (उ०प्र०)

- **संस्कृति संरक्षण संस्थान**
  32/3C कांति नगर एक्सटेंशन
  दिल्ली-110051
  फोन : 9811352054, 9312243845

- **प्राच्य श्रमण भारती**
  12/ए निकट जैन मंदिर
  प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर-251001 (उ०प्र०)

आशीर्वचन



जैन धर्म की विराटता के वैविध्यपूर्ण सौंदर्य से साक्षात्कार कराने को पुस्तक 'जैन धर्म', यशस्वी विद्वान् (स्व०) पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री की एक अनुपम कालजयी कृति है जो धर्म की गुत्थियाँ खोलती है और अपने उस पाठक के साथ भी सहज-स्वाभाविक संवाद रचने में सफल होती है जो आगमिक भाषा की क्लिष्टतम् और दार्शनिक अवबोधों की दुरूहताओं से वाकिफ नहीं है। एक आम आदमी को सरल एवं बोधगम्य भाषा में जैन धर्म के अवधारणात्मक पक्ष से परिचय कराना, इस कृति के स्वनामधन्य कृतिकार का लक्ष्य रहा है जिसकी पूर्ति भी उन्होंने भली-भाँति की है।

'जैन धर्म' कृति, आगमिक ज्ञान की आत्यांतिक गहराइयों, चिंतन की गहन अनुभूतियों और साधना की अनंत ऊँचाइयों एवं तार्किक प्रामाण्यों से उद्भूत हो, विषय-चिंतन के सहज परिष्कार में सतत् सन्नद्ध है। इस कृति के माध्यम से लेखक ने उदात्त आगमिक चिंतन की ऊर्जस्वी धारा को प्रवाहमान कर तत्वज्ञान को स्पष्ट व्याख्याओं से समृद्ध किया है। इस पुस्तक का केंद्रीय तत्व उस जैन धर्म की ऊर्जस्वी व्याख्या के साथ सन्नद्ध है जो यह प्रतिष्ठापित करता है कि शाश्वत-सनातन-प्रवाह इस धर्म की बुनियाद, वास्तविकताओं के तथ्यों और ज्ञान के सत्यपरक अनुभवों, ठोस दार्शनिक अवबोधों, मन की गहरी परतों में व्याप्त चेतना के मनोवैज्ञानिक बहुआयामों, वस्तुनिष्ठ चिंतन की वैज्ञानिक अवधारणाओं, शुचितापूर्ण आचार की प्रमाणिकताओं, चिंरतन सत्य की अनेकांतिकताओं, वैभवपूर्ण कला एवं स्थापत्य के प्रतिमानों, तपश्चर्या एवं साधना को समर्पित आराधनाओं, दान के उदात्त-चिंतन की प्रतिबद्ध अनुपालनाओं, अहिंसा और करुणा की मानवीय संदृष्टियों तथा जिन-भक्ति की उत्कंठाओं से रची गई है एवं वह उस जगत् में व्याप्त है, जिसका कोई नियंता नहीं, भाग्यविधाता नहीं– जो है, वह है आत्म-स्वातंत्र्य, जो बताता है हर पल हर जीव को एक फर्क, शरीर और आत्मा में। यह पुस्तक एक संबोधि है जिसमें संदर्भ है, पूरी मानवता को दिया गया जैन आचार्यों एवं उनकी प्रशस्त गौरवशालिनी परंपरा के विचार-नवनीत का प्रतिबोध। यह पुस्तक जन-जन की प्रमाद-मूर्च्छा तोड़ने में सहायक हो और हर व्यक्ति, आत्मा को चैतन्य की जगमगाहट से दीप्त करने में सफल हो सके, प्रभु आराधना एवं भक्ति के अनुगुंजन के महत्व को आत्मसात् कर सके और अतींद्रिय चेतना के स्तर पर सहज, स्थायी, शाश्वत और निरपेक्ष सुख की संप्राप्ति में सफल हो सके, यह मेरी शुभेच्छा है और, है यही मेरा आशीर्वाद भी सभी भव्यात्माओं के लिए।

–आचार्य ज्ञानसागर

प्रकाशकीय

यों तो जैन दर्शन जितना व्यापक साहित्य किसी अन्य दर्शन या धर्म का नहीं है परंतु यदि हमसे कोई एक ऐसी पुस्तक चाहता है जिससे वह कम समय में जैन धर्म की ऐतिहासिकता और सिद्धांतों को समझ सके तो प्रस्तुत पुस्तक 'जैन धर्म' उसके लिए एक आदर्श पुस्तक है।

हमारा समाज, इस कृति के लेखक जैन साहित्य और संस्कृति के गहन अध्येता, प्रभावक लेखनी के धनी, अनेक उच्च कृतियों के सर्जक, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जी द्वारा स्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के पूर्व प्राचार्य (स्व०) पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री के प्रति सदैव आभारी रहेगा।

जैन धर्म की गहराई तथा जैन धर्म की वैज्ञानिकता को जन-जन समझे, इसी उद्देश्य से 1948 में प्रथम बार प्रकाशित यह पुस्तक आज भी उतनी ही महत्व की है जितनी की पूर्व में थी। यह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है कि अब से पूर्व तक पुस्तक के अनेकानेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण पूर्व संस्करण का ही पुनर्मुद्रण है। इसमें हमने अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं किया है।

'श्रुत संवर्द्धन संस्थान' एवं इसकी सहयोगी प्रकाशन संस्थाएँ 'प्राच्य श्रमण भारती' एवं 'आचार्य शांतिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रंथमाला' श्रुत सेवा में सदैव संलग्न रहने वाली संस्थाएँ हैं। प्राचीन अनुपलब्ध या अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करना इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य है। जिन शासन को समृद्धि देने वाले नव-लेखन को भी ये संस्थाएँ प्रकाशित और प्रसारित कर रही हैं।

परम पूज्य दिगंबर जैन मुनि सराकोद्धारक शाकाहार-प्रवर्तक आचार्य श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज का मंगल आशीर्वाद, संबल-प्रेरणा और साक्षात् मार्गदर्शन इन संस्थाओं को सतत् प्राप्त हो रहा है जिससे अब तक डेढ़ सौ से अधिक ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है।

'जैन धर्म' के नवीन संस्करण को सुधी पाठकों को समर्पित करते हुए हम हर्षित हैं एवं लेखक सिद्धांताचार्य (स्व०) पं० कैलाशचंद्र शास्त्री को विनम्र श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हैं। साथ ही ग्रंथ प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जिनका भी सहयोग रहा है, उन सभी का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

महामंत्री
श्रुत संवर्द्धन संस्थान

पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री और उनका साहित्यिक-अवदान

गहन ज्ञान, अगाध अनुभव और अटूट आस्था को मिलाकर परोपकार के स्वरस में सान लें, फिर इस मिश्रण को निस्पृहता और फक्कड़पने के साथ एकमेव करके एक मानव-मूर्ति का आकार दे दें तो निश्चित ही वह सिद्धांताचार्य पंडित कैलाशचंद्र जी शास्त्री की अनुकृति बन जाएगी। जिस प्रकार छः द्रव्यों से सृष्टि का निर्माण हुआ है, वैसे ही उपर्युक्त छः तत्वों से पंडित जी के सलोने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था। सीमित साधनों में संतोष से गुजारा करने की उनकी जीवन पद्धति में 'गरीबी की गरिमा' झलकती थी। अस्त-व्यस्त वेशभूषा में सिमटा उनका प्रभावक व्यक्तित्व 'सादगी और सौंदर्य' का परिचायक होता था, और गार्हस्थिक जीवन की प्राथमिक सुविधाओं से सतत् वंचित जीवन-यात्रा में भी अपने आप में मग्न उनका फक्कड़ मन 'अभावों के आनंद' का आस्वाद करता-सा प्रतीत होता था। उनके संपर्क में यह सहज ही अनुभव हो जाता था कि उन्होंने अपने मन पर असाधरण अधिकार प्राप्त कर लिया था, और वे सही अर्थों में 'मनस्वी' और 'मनीषी' थे।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के प्रधानाचार्य व अधिष्ठाता पद पर आसीन होने के उपरांत पं० कैलाशचंद्र जी के व्यक्तित्व की एक-एक पहल में असाधारण चमक आती गई और उनका व्यक्तित्व संवरता चला गया। अध्यापक, अनुशास्ता, अध्येता और आराधक, चिंतक, लेखक, समीक्षक और प्रवचनकार, साथ ही निस्पृह मार्ग-दर्शक तथा सजग पत्रकार, और ऐसी ही न जाने कितनी विशेषताएँ पंडित जी के व्यक्तित्व में समाहित थीं। जैसे हीरे की हर पहल में असीम चमक होती है, वैसे ही कैलाशचंद्र जी शास्त्री के व्यक्तित्व की हर पहल में अशेष गरिमा के साथ अकूत संभावनाएँ दिखाई देती थीं। उनके उस महान् व्यक्तित्व को गढ़ने का काम पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी के यशस्वी करों से संपन्न हुआ था। इसके लिए पंडित जी बड़ी श्रद्धा से अपने गुरु का उल्लेख करते थे।

सन् 1903 ई० में बालक कैलाशचंद्र जी का जन्म हुआ था। उसके दो वर्ष बाद सन् 1905 ई० में पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी ने वाराणसी में जैन विद्याओं के प्रसार के लिए 'श्री स्याद्वाद महाविद्यालय' की स्थापना की थी। 13 वर्ष के कैलाश को पूज्य वर्णी जी ने ही बनारस के इस विद्यालय में भरती किया था। वर्णी जी को ऐसे अन्य अनेक मेधावी छात्रों को लाने और पढ़ाने का श्रेय प्राप्त था, जिनमें पं० देवकीनंदन जी शास्त्री तथा पं० भूरामल जी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यही भूरामल जी बाद में पूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी दीक्षित होकर मुनि ज्ञानसागर जी बने और अंततः आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के नाम से विख्यात हुए। पं० कैलाशचंद्र जी प्रायः कहा करते थे कि मेरे लिए ही बाबा जी ने विद्यालय स्थापित किया था। इसमें संदेह नहीं है कि पूज्य वर्णी जी का चरण-सान्निध्य और बनारस के श्री स्याद्वाद विद्यालय का आधार नहीं मिला होता तो बालक कैलाशचंद्र के जीवन का ऐसा उत्कृष्ट निर्माण होना असंभव-सा ही था, परंतु यह भी निःसंदेह कहा जा सकता है कि पं० कैलाशचंद्र जी का कुशल संचालन नहीं मिला होता तो बनारस विद्यालय भी शायद

इतना विशाल रूप लेकर बाबा जी की आकांक्षाओं की वैसी पूर्ति न कर पाता जैसी उसने पंडित जी के निमित्त से की है।

सन् 1923 ई० में, अपनी बीस वर्ष की आयु में कैलाशचंद्र शास्त्री ने धर्माध्यापक के रूप में विद्यालय की सेवा प्रारंभ की और फिर साठ-पैंसठ तक वे विद्यालय के अभिन्न अंग होकर रहे। अधीक्षक, प्रधानाचार्य और अधिष्ठाता और ऐसे अनेक पदों को उन्होंने बड़ी योग्यता और ममता से सुशोभित किया। विद्यालय का हित उनके जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य बना रहा। दीपक की बाती जैसे स्वयं जल-जलकर प्रकाश फैलाती है, वैसे ही पं० कैलाशचंद्र जी ने अपने जीवन को क्षण-क्षण समर्पित करके ज्ञान का अवदान वितरित किया और पूज्य वर्णी जी के स्वप्न को साकार करने का महान् कार्य किया। बाबा जी के चरणों में उनकी कैसी अमिट भक्ति थी, इसे मैंने बाबा जी की समाधि-सल्लेखना के अवसर पर साक्षात् देखा और अनुभव किया है। बाबा जी की पर्याय के अवसान के उपरांत पंडित जी जिस प्रकार बिलख-बिलखकर रोए थे, उसे देखकर तो ऐसा लगता था कि वही तेरह वर्ष का बालक कैलाश इष्ट वियोग में संतप्त बिलख रहा है। ऐसी गुरु-भक्ति और गुरु के प्रति ऐसी कृतज्ञता दिनोंदिन दुर्लभ होती जा रही है।

त्यागी-व्रतियों और मुनियों-आर्यिकाओं के लिए पंडित जी के मन में पर्याप्त श्रद्धा-भक्ति थी, पर वे शिथिलाचार पोषक नहीं थे।

पंडित जी अपने युग के श्रेष्ठ प्रभावक प्रवचनकार थे। धर्म के गूढ़तम रहस्यों को सरलतम वाक्यों में बाँधकर प्रस्तुत करने वाला ऐसा ओजस्वी वक्ता मैंने दूसरा नहीं सुना। उन्हें सुनकर और सुनने की लालसा बनी रहती थी। तृप्ति नहीं होती थी। निस्पृहता भी उनका एक विशिष्ट गुण था। उनका शिष्य समुदाय देश में फैला हुआ था। समाज भी उन्हें सर्वोच्च आदर और सम्मान देता था। पर प्रसिद्धि को उन्होंने कभी अपने लिए उपार्जन का साधन नहीं बनाया। जहाँ जो मिला, मार्ग-व्यय के अलावा सब कुछ विद्यालय में जमा करा देते थे। अपनी आकांक्षाओं पर अंकुश लगाकर पंडित जी ने निष्ठापूर्वक एक प्रामाणिक पाक्षिक श्रावक का जीवन अपनाया और अपराजित मन से उस पद्धति की सीमाओं के भीतर अपने जीवन का निर्वाह किया।

उनका साहित्यिक अवदान

जैन साहित्य की शोध-खोज तथा उसके संपादन में पं० कैलाशचंद्र जी का स्मरणीय योगदान है। साहित्य-सृजन की दिशा में (स्व०) श्री नाथूराम जी प्रेमी ने आपको प्रेरित और प्रोत्साहित किया। प्रेमी जी, श्री जुगलकिशोर जी मुख्यार और श्री ए०एन० उपाध्ये को आदर्श रूप में सामने रखकर पंडित जी ने इस क्षेत्र में काम किया। सबसे पहले पं० महेंद्र कुमार जी न्यायाचार्य के साथ उन्होंने 'न्यायकुमुदचंद्र' के संपादन में हाथ बंटाया तथा उसकी विस्तृत भूमिका लिखी। यह भूमिका अपने आप में एक शोध-प्रबंध है और पंडित जी की साहित्य-साधना का उज्जवल प्रमाण है। धवल ग्रंथों के अनुवाद और संपादन में वे पं० फूलचंद्र जी के सहयोगी रहे। इसके बाद 'तत्वार्थ सूत्र' की टीका तथा 'नमस्कार-महामंत्र', ये दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखकर पं० कैलाशचंद्र जी ने जैन लेखकों की सूची में

अपना नाम दर्ज करा लिया। फिर उनकी लेखनी से 'भगवान् ऋषभदेव', 'सोमदेव उपासकाध्ययन' और 'जैन-न्याय' जैसी पुस्तकों का सृजन हुआ।

इस बीच पंडित जी ने जैन वाङ्मय का तलस्पर्शी अध्यापन किया। पारंपरिक जैन विद्वानों की लीक से हटकर उन्होंने श्वेतांबर आगमों का भी गहन अध्ययन-अवलोकन किया। अंग्रेजी में उपलब्ध जैन साहित्य भी उन्होंने देखा। इस सारे अनुभव की पूँजी लेकर पं० कैलाशचंद्र जी ने एक ऐसे ग्रंथ की रचना का संकल्प किया जिसे पूरा करने का सामर्थ्य बड़ी संस्थाओं में ही हो सकता है, व्यक्ति में नहीं। उस महान् ग्रंथ का नाम है 'जैन साहित्य का इतिहास'। यह पंडित जी के लगभग पंद्रह वर्षों के घोर परिश्रम का फल है इसकी पूर्व पीठिका सहित और दो भागों में प्रकाशित हुआ है। मूलतः इस ग्रंथ की परिकल्पना श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला द्वारा सन् 1953 ई० में की गई थी। इसका भार पं० महेंद्र कुमार जी न्यायाचार्य, पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री और पं० फूलचंद्र जी को सम्मिलित रूप से सौंपा गया था। दुर्भाग्य से न्यायाचार्य जी का असमय वियोग हो गया और पं० फूलचंद्र जी ने इस दिशा में कुछ भी कार्य करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। फलतः पं० कैलाशचंद्र जी ने अकेले ही इसे लिखने का साहस किया और अथक परिश्रम करके इसे पूरा भी किया। ग्रंथ की प्रगति के लिए पूज्य वर्णी जी बहुत चिंतित रहते थे और हमेशा पंडित जी को प्रोत्साहित करते रहते थे। परंतु ग्रंथ की पूर्व पीठिका बाबा जी के स्वर्गवास के तीन वर्ष पश्चात् ही प्रकाशित हो सकी। इस ग्रंथ को पंडित जी का 'कीर्ति स्तंभ' कहा जा सकता है।

पंडित जी ने इस ग्रंथ की रचना के लिए भारी पुरुषार्थ किया। इतिहास की अनेक उलझी गुत्थियों को सुलझाकर प्रस्तुत किया और अनेक व्यक्तियों तथा घटनाओं का तात्कालिक संदर्भों के आलोक में जाँच-परखकर प्रस्तुत किया। उनके इस श्रम की बड़ी सराहना विद्वत् समाज में हुई। जैन संस्कृति उनके इस अनुपम अवदान के प्रति सदैव कृतज्ञ रहेगी। प्राचीन विधाओं के प्रसिद्ध विद्वान् महामना श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस ग्रंथ के प्राक्कथन में लिखा था–

'इस ग्रंथ में जैन धर्म की मूल स्थापना से लेकर संघ-भेद तक के सुदीर्घ काल का इतिहास लिखा गया। इसमें श्रमण-परंपरा इस देश में किस प्रकार विकसित हुई उसका भी विवेचन किया गया है। इतिहास लेखन एक विशेष कला है। उसमें प्रमाण-सामग्री और लेखक की निजी दृष्टि के अनुसार उसकी व्याख्या, इन दो चक्रों पर ऐतिहासिक लेखन का रथ गतिशील होता है।

कहना ही होगा कि पंडित कैलाशचंद्र जी ने अपने लेखन में प्रमाण-सामग्री और अपनी निजी दृष्टि, इन दोनों को ही पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। इस कार्य के लिए उन्हें शताब्दियों तक स्मरण किया जाएगा।'

इन ग्रंथों के अतिरिक्त सम-सामायिक सामाजिक विषयों पर पंडित जी के शताधिक लेख जैन पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों पर तथा अभिनंदन ग्रंथों आदि में बिखरे पड़े हैं। उन सबका संकलन और मूल्यांकन अभी शेष है। उस समग्र लेखन के अध्ययन के बिना पंडित जी के व्यक्तित्व को सही ढंग से समझा नहीं जा सकेगा।

पंडित जी की अंतिम रचना में उन्होंने तत्वार्थ-सूत्र के विस्तृत विषय को खोलने के

लिए प्रश्नोत्तर शैली में एक स्वतंत्र पुस्तक की रचना की थी। तत्वार्थ-सूत्र में जितने भी सूत्र हैं, उनसे भी अधिक प्रश्न उठाकर पंडित जी ने आगम के आधार पर उनके समाधान प्रस्तुत किए हैं। सुनकर ही इस पुस्तक को देखने की बलवती इच्छा मन में जागृत होती है।

एक छोटी कालजयी कृति 'जैन धर्म'

'जैन धर्म' पंडित कैलाशचंद्र जी की एक ऐसी सारगर्भित और सर्वोपयोगी कृति है जिसे हम धार्मिक रुचि रखने वाले पूरे मानव समुदाय के लिए पंडित जी का 'बहुमूल्य उपहार' कह सकते हैं। आज से पचास वर्ष पूर्व उज्जैन के श्रीयुत् लालचंद्र जी सेठी ने जैन धर्म पर एक सरल पुस्तक लिखने के लिए एक हजार रुपये का पुरस्कार घोषित किया था। सेठी साहब की भावना का आदर करते हुए पंडित जी ने यह पुस्तक लिखी और वह तत्काल पुरस्कृत होकर प्रकाशित हुई, पुस्तक इतनी पसंद की गई कि शीघ्र ही इसे मराठी और कन्नड़ में अनुवादित किया गया।

'जैन धर्म' की संयोजना ऐसी सुविचारित बन पड़ी है कि यह छोटी-सी पुस्तक अपने आप में एक संपूर्ण ग्रंथ की अर्थवत्ता धारण करती है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अब तक का जैन संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास अंकित करके पुस्तक के प्रारंभ में जैनेतर भारतीय दर्शनों और संस्कृतियों के अंतर संबंधों को भी रेखाकिंत किया गया है। उन सबकी तुलना में जैन संस्कृति के वैशिष्ट्य को प्रमाणपूर्वक उभारकर प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् षट् द्रव्य, सप्त तत्व, नौ पदार्थ और दस लक्षण धर्म की विवेचना करते हुए पंच अणुव्रतों की व्याख्या करके, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के माध्यम से श्रावक धर्म को सरलतापूर्वक व्याख्यायित किया गया है। यथास्थान जैन सिद्धांत का सरल परिचय देते हुए कर्म सिद्धांत को व्याख्यायित किया गया है। मोक्ष मार्ग के रूप में रत्नत्रय की चर्चा भी की गई है। विशेषता यह है कि विद्वान् लेखक ने जैन श्रावक के आचरण को समाज उत्थान, देशभक्ति एवं विश्व शांति के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण प्रतिपादित करके जैन धर्म को वास्तविक 'जन धर्म' सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। महावीर के अनुयायियों में दिगंबर-श्वेतांबर संघ– भेद को तात्कालिक परिस्थितियों के आलोक में परखते हुए उनकी अनिवार्यता का तटस्थ निरूपण किया है।

पुस्तक का समापन करते हुए लेखक ने कतिपय जैनाचार्यों का इतिहास सम्मत उल्लेख करके जैन पर्वों के संदर्भ और विवरण प्रस्तुत किया है। अंत में कुछ प्रसिद्ध जैन तीर्थों की तालिका देकर जैन शास्त्रों में से कुछ उपयोगी सूक्तियाँ देते हुए पुस्तक समाप्त की है। अंतिम पृष्ठों पर पारिभाषिक-शब्दावली ने पुस्तक का महत्व बढ़ाया है। इस प्रकार यह पुस्तक अपने आप में जैन संस्कृति के एक महाग्रंथ की संदर्भ सूचनाएँ समेटे हुए है। यह हमारे लिए पं० कैलाशचंद्र शास्त्री की ऐसी अमूल्य देन है जिसकी प्रासंगिकता और जिसकी उपयोगिता कभी कम नहीं होगी। इस पुस्तक का अधिक से अधिक प्रचार किया जाना ही पंडित जी के प्रति हमारा यथार्थ कृतज्ञता-ज्ञापन कहा जा सकता है।

—नीरज जैन, सतना

प्राक्कथन

मैं जैन धर्म का अनुयायी नहीं हूँ इसलिए जब श्री कैलाशचंद्र जैन ने मुझसे जैन धर्म का प्राक्कथन लिखने को कहा तो मुझको कुछ संकोच हुआ। परंतु पुस्तक पढ़े जाने पर संकोच स्वतः दूर हो गया। यह ऐसी पुस्तक है जिसका प्राक्कथन लिखने में अपने को प्रसन्नता होती है। छोटी होते हुए भी इसमें जैन धर्म के संबंध की सभी मुख्य बातों का समावेश कर दिया गया है। ऐसी पुस्तकों में, स्वमत स्थापना के साथ-साथ कहीं-कहीं पर मत दोषों को दिखलाना अनिवार्य-सा हो जाता है। कम से कम अपने मत के आलोचकों की आलोचना तो करनी ही पड़ती है। प्रस्तुत पुस्तक में स्याद्वाद के संबंध में श्री शंकराचार्य ने लेखक की सम्मति में इस सिद्धांत के समझने में जो भूल की है उसकी ओर संकेत किया गया है। परंतु कहीं भी शिष्टता का उल्लंघन नहीं होने पाया है। आजकल हम भारतीय इस बात को भूल से गए हैं कि गंभीर विषयों के प्रतिपादन में अभद्र भाषा का प्रयोग निंद्य है और सिद्धांत का खंडन सिद्धांतों पर कीचड़ उछाले बिना भी किया जा सकता है। यह पुस्तक इस विषय में अनुकरणीय अपवाद है।

भारतीय संस्कृति के संवर्द्धन में उन लोगों ने उल्लेख्य भाग लिया है जिनको जैन शास्त्रों से स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। वास्तुकला, मूर्तिकला वाङ्मय सब पर ही जैन विचारों की गहरी छाप है। जैन विद्वानों और श्रावकों ने जिस प्राणप्रण से अपने शास्त्रों की रक्षा की थी वह हमारे इतिहास की अमर कहानी है। इसलिए जैन विचारधारा का परिचय शिक्षित समुदाय को होना ही चाहिए। कुछ बातें ऐसी हैं जिनमें जैनियों को स्वभावतः विशेष अभिरुचि होगी। दिगंबर-श्वेतांबर विवाद में सबको स्वारस्य नहीं हो सकता और न सब लोगों को उन खाद्याखाद्य व्रतादि के नियमोपनियमों की जानकारी की विशेष आवश्यकता है। परंतु जो लोग धर्म और दर्शन का अध्ययन करते हैं उनको यह तो यह जानना ही चाहिए कि ईश्वर, जीव, जगत् मोक्ष जैसे प्रश्नों के संबंध में आचार्य ने क्या कहा है? विशेष और विस्तृत अध्ययन के लिए तो बड़े ग्रंथों को देखना ही होगा परंतु प्रारंभिक ज्ञान के लिए यह छोटी-सी पुस्तक बहुत उपयोगी है।

जैनदर्शन जगत् को सत्य मानता है। यह बात शाङ्कर के अद्वैतवाद के विरुद्ध तो है परंतु आस्तिक विचारधारा से असंगत नहीं है। उसका अनीश्वरवादी होना भी स्वतः निंद्य नहीं है। परम आस्तिक सांख्य और मीमांसा शास्त्रों के प्रवर्तकों को भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने में अनावश्यक गौरव की प्रतीति होती है। वेद को प्रमाण न मानने के कारण जैन दर्शन की गणना नास्तिक विचार शास्त्रों में है परंतु कर्मसिद्धांत, पुर्नजन्म,

तप, योग, देवादि विग्रहों में विश्वास जैसी कई ऐसी बातें हैं जो थोड़े से उलटफेर के साथ भारतीय आस्तिक दर्शनों तथा जैन और बौद्ध दर्शनों की समान रूप से संपत्ति है। इन सबका उद्गम एक है। आर्य जाति ने अपने मूल पुरुषों से जो आध्यात्मिक दाय पाया था उसकी पहली अभिव्यक्ति उपनिषदों में हुई। देशकाल के भेद से किंचित नए परिधान धारण करके फिर वही वस्तु हमको महावीर और गौतम के द्वारा प्राप्त हुई।

अनेकांतवाद या सप्तभंगीन्याय जैन-दर्शन का मुख्य सिद्धांत है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात 'अंत' या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे हैं उनको ठीक उसी रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् भी सात में कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को यह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिए एक ही समय में 'है और नहीं है' दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं। परंतु कठिनाई के होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है। जो लेखनी मेरे हाथ में है, वह मेज पर नहीं है। जिस बच्चे का अस्तित्व आज है, उसका अस्तित्व कल नहीं था। जो वस्तु पुस्तक रूप से है वह कुर्सी रूप से नहीं है। जो घटना एक के लिए भूतकालिक है वही दूसरे के लिए वर्तमान की और तीसरे के लिए भविष्य की है। अखंड ब्रह्म पदार्थ भले ही एक रस और ऐकांतिक हो परंतु प्रतीयमान जगत् में तो सभी वस्तुएँ, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो, अनेकांतिक हैं। शंकराचार्य जी ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है इसलिए उन्होंने माया को सत् और असत् में विलक्षण, अथ च अनिवर्चनीया कहा है। मैं सप्तभंगी न्याय को तो बाल की खाल निकालने के समान आवश्यकता से अधिक बारीकी में जाना समझता हूँ। इसलिए चिद्विलास से मैंने माया को सत् और असत् अर्थात् अनिवर्चनीय माना है।

अस्तु, सब लोग इन प्रश्नों की गहराई में न भी जाना चाहें तब भी मैं आशा करता हूँ कि इस सुबोध और उपादेय पुस्तक का आदर होगा। ऐसी रचनाएँ हमको एक दूसरे के निकट लाती हैं। ऐसा भी कोई समय था कि जब **'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न विशेज्जैनमन्दिरम्'** जैसी उक्तियाँ निकली थीं। जैनों में भी इस जोड़ी की कहावतें होंगी, आज वह दिन गए। अब हमें दार्शनिक और उपासना संबंधी बातों में वैषम्य रखते हुए एक-दूसरे के प्रति सौहार्द रखना है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हम चाहे जिस संप्रदाय में रहें, परंतु हमको यह ध्यान में रखना है कि कपिल, व्यास, शंकराचार्य, बुद्ध और महावीर प्रत्येक भारतीय के लिए आदरास्पद हैं और हमको निःश्रेयस् के पथ पर ले जाने में समर्थ हैं।

वैशाख शु० 1, 2005

—संपूर्णानंद

लेखक के दो शब्द

यों तो जैन धर्म का साहित्य विपुल है, किंतु उसमें एक पुस्तक की कमी थी जिसे पढ़कर जन-साधारण जैन धर्म का परिचय प्राप्त कर सके। इस कमी को सभी अनुभव करते थे। उज्जैन के सेठ लालचंद जी सेठी ने तो ऐसी पुस्तक लिखने वाले को अपनी ओर से एक हजार रुपया पारितोषिक प्रदान करने की घोषणा भी कर दी थी। मुझे भी यह कमी बहुत खटक रही थी। अतः मैंने इस ओर अपना ध्यान लगाया, जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत पुस्तक तैयार हो सकी।

प्रत्येक धर्म के दो रूप होते हैं– एक विचारात्मक और दूसरा आचारात्मक। प्रथम रूप को दर्शन कहते हैं और दूसरे को धर्म। दर्शन के अभ्यासियों के लिए दोनों ही रूपों को जानना आवश्यक है। इसलिए मैंने इस पुस्तक में जैन धर्म के विचार और आचार का परिचय तो कराया ही है, साथ ही साथ साहित्य, इतिहास, पंथ-भेद, पर्व, तीर्थक्षेत्र आदि अन्य जानने योग्य बातों का परिचय दिया है, जिसे पढ़कर प्रत्येक पाठक जैन धर्म के सभी अंगों और उपांगों का साधारण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसके लिए इधर-उधर संबंध रखने वाले जिन विषयों की चर्चा की गई है, सब लोगों को वे सभी विषय रुचिकर हों यह संभव नहीं है, क्योंकि– **'भिन्नरुचिर्हि लोकः।'** इसी से विभिन्न रुचि वाले लोगों को अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल जैन धर्म की जानकारी प्राप्त कर सकने का प्रयत्न किया गया है।

भारतीय विद्वानों की प्रायः यह एक आम मान्यता है कि भारत में प्रचलित प्रत्येक धर्म का मूल उपनिषद् है। इस मान्यता के मूल में हमें तो श्रद्धामूलक विचारसरणि का ही प्राधान्य प्रतीत होता है। पुस्तक के अंत में जैन धर्म के साथ इतर धर्मों की तुलना करते हुए हमने उक्त विचारसरणि की आलोचना की है। तत्वजिज्ञासुओं से हमारा अनुरोध है कि इस विचारसरणि पर नए सिरे से विचार करके तत्व की समीक्षा करें।

अपनी विद्वता और अध्ययनशीलता के कारण श्री संपूर्णानंद जी पर मेरी गहरी आस्था है। मेरी इच्छा थी कि वे इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखें। मैंने भाई प्रो० खुशालचंद्र से अपनी यह इच्छा व्यक्त की और संयुक्त प्रांत के मंत्रित्व का भार वहन करते हुए भी उन्होंने हम लोगों का अनुरोध की रक्षा की। एतदर्थ हम संपूर्णानंद जी के अत्यंत आभारी हैं।

जिन ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं के लेखों से हमें इस पुस्तक के लिखने में विशेष सहायता मिली है उन सभी लेखकों के भी हम आभारी हैं। उनमें भी प्रोफेसर ग्लैजनप

के जैन धर्म से हमें बड़ी सहायता मिली है, उसका पर्यवेक्षण करके ही इस पुस्तक की विषय-सूची तैयार की गई है। श्री नाथूराम जी प्रेमी के **'जैन साहित्य और इतिहास'** का उपयोग **'संप्रदाय-पंथ'** लिखने में विशेष किया गया है। जैन हितैषी के किसी पुराने अंक में जगत्कर्तृत्व के संबंध में (स्व०) बा० सूरजभानु वकील का एक लेख प्रकाशित हुआ था। वह मुझे बहुत पसंद आया था। प्रस्तुत पुस्तक में 'यह विश्व और उसकी व्यवस्था' उसी के आधार पर लिखा गया है। अतः उक्त सभी सुलेखकों के हम आभारी हैं।

अंत में पाठकों से अनुरोध है कि प्रस्तुत पुस्तक के संबंध में यदि वे कोई सूचना देना चाहें तो अवश्य देने का कष्ट करें। दूसरे संस्करण में उनका यथासंभव उपयोग किया जा सकेगा।

श्रुत पंचमी वी० नि० सं० 2474

—कैलाशचंद्र शास्त्री

अनुक्रम

इतिहास

1. आरंभ काल

एक समय था जब जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा समझ लिया गया था। किंतु अब वह भ्रांति दूर हो चुकी है और नई खोजों के फलस्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से न केवल एक पृथक् और स्वतंत्र धर्म है अपितु उससे बहुत प्राचीन[1] भी है। अब अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को जैन धर्म संस्थापक नहीं माना जाता और उनसे अढ़ाई सौ वर्ष पहले होने वाले भगवान् पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है। इस तरह अब जैन धर्म का आरंभकाल[2] सुनिश्चित रीति से ईसवी सन् से ८०० वर्ष पूर्व मान लिया गया है। किंतु जहाँ अब कुछ विद्वान् भगवान् पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं, वहीं कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो उससे पहले भी जैन धर्म का अस्तित्व मानते हैं। उदाहरण

---

1. इस भ्रांति को दूर करने का श्रेय स्व० डॉ० हर्मान याकोवी को प्राप्त है। उन्होंने अपनी जैन सूत्रों की प्रस्तावना में इस पर विस्तृत विचार किया है। वे लिखते हैं– 'इस बात से अब हम सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से प्रसिद्ध हैं, बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध-ग्रंथों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रंथों का जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ तो निर्ग्रंथों का संप्रदाय एक बड़े संप्रदाय के रूप में गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकों में कुछ निर्ग्रंथों का बुद्ध और उसके शिष्यों के विरोधी के रूप में और कुछ का बुद्ध के अनुयायी बन जाने के रूप में वर्णन आता है। उसके ऊपर से हम उक्त बात का अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रंथों में किसी भी स्थान पर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखने में नहीं आता कि निर्ग्रंथों का संप्रदाय एक नवीन संप्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपर से हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले अतिप्राचीन काल से निर्ग्रंथों का अस्तित्व चला आता है।'
2. उत्तराध्ययन सूत्र के प्राक्कथन में डॉ० चार्पेंटर लिखते हैं– 'हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म भगवान् महावीर से प्राचीन है और महावीर के आदरणीय पूर्वज पार्श्वनाथ निश्चित रूप से एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में वर्तमान थे। अतः जैन धर्म के मूल सिद्धांत भगवान् महावीर से बहुत पहले निर्धारित हो चुके थे।' विवलोग्राफिया जैन की प्रस्तावना में, डॉ० गैरीनाट लिखते हैं, 'इसमें कोई संदेह नहीं है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जैन मान्यता के अनुसार वे सौ वर्ष तक जीवित रहे और महावीर से 250 वर्ष पूर्व निर्वाण को प्राप्त हुए। अतः उनका कार्यकाल ईसवी सन् ८०० वर्ष पूर्व था। महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के धर्म को मानते थे।'

के लिए प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् स्वर्गीय डॉ० हर्मन याकोबी और प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक सर राधाकृष्णन् का मत उल्लेखनीय है। डॉ० याकोबी[1] लिखते हैं–

'इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परंपरा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।'

डॉ० सर राधाकृष्णन् कुछ विशेष जोर[2] देकर लिखते हैं–

'जैन परंपरा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाए जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।'

उक्त दो मतों से यह बात निर्विवाद हो जाती है कि भगवान् पार्श्वनाथ भी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे और उनसे पहले भी जैन धर्म प्रचलित था तथा जैन परंपरा श्री ऋषभदेव को अपना प्रथम तीर्थंकर मानती है और जैनेतर साहित्य तथा उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से भी इस बात की पुष्टि होती है। नीचे इन्हीं बातों को स्पष्ट किया जाता है।

जैन परंपरा

जैन परंपरा के अनुसार हमारे इस दृश्यमान जगत् में काल का चक्र सदा घूमा करता है। यद्यपि काल का प्रवाह अनादि और अनंत है तथापि उस काल चक्र के छह विभाग हैं– 1. अतिसुखरूप, 2. सुखरूप, 3. सुख-दुःखरूप, 4. दुःख-सुखरूप, 5. दुःखरूप और 6. अतिदुःखरूप। जैसे चलती हुई गाड़ी के चक्र का प्रत्येक भाग नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे जाता आता है वैसे ही ये छह भाग भी क्रमवार सदा घूमते रहते हैं अर्थात् एक बार जगत् सुख से दुःख की ओर जाता है, तो दूसरी बार दुःख से सुख की

1. 'There is nothing to prove the Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first *Tirthankara Indian Antiquary-Vol. IX P. 163.'*
2. 'There is evidence to show what so far back as the first century B.C. There were people were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or Parsvanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankara & Rishabha, Ajitanath and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism.' *Indian Philosophy, Vol. 1,P. 287.*

ओर बढ़ता है। सुख से दुःख की ओर जाने को अवसर्पिणी काल या अवनति काल कहते हैं और दुःख से सुख की ओर जाने को उत्सर्पिणी काल या विकास काल कहते हैं। इन दोनों कालों की अवधि लाखों करोड़ों वर्षों से भी अधिक है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के दुःख-सुखरूप भाग में 24 तीर्थंकरों का जन्म होता है जो 'जिन' अवस्था को प्राप्त करके जैन धर्म का उपदेश देते हैं। इस समय अवसर्पिणी काल चालू है। उसके प्रारंभ के चार विभाग बीत चुके हैं और अब हम उसके पाँचवें विभाग में से गुजर रहे हैं। चूँकि चौथे विभाग का अंत हो चुका, इसलिए इस काल में अब कोई तीर्थंकर नहीं होगा। इस युग के 24 तीर्थंकरों में से भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे और भगवान् महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। तीसरे काल विभागों में जब तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहे तब ऋषभदेव का निर्वाण हुआ और चौथे काल विभाग में जब उतना ही काल शेष रहा तब महावीर का निर्वाण हुआ। दोनों का अंतर काल एक कोटा-कोटी सागर बताया जाता है। इस तरह जैन परंपरा के अनुसार इस युग में जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव थे। प्राचीन से प्राचीन जैन शास्त्र इस विषय में एकमत हैं और उनमें ऋषभदेव का जीवन-चरित्र बहुत विस्तार से वर्णित है।

जैनेतर साहित्य

जैनेतर साहित्य में श्रीमद्भागवत का नाम उल्लेखनीय है। इसके पाँचवें स्कंध के, अध्याय 2-6 में ऋषभदेव का सुंदर वर्णन है, जो जैन साहित्य के वर्णन से कुछ अंश में मिलता-जुलता हुआ भी है। उसमें लिखा है कि जब ब्रह्मा ने देखा कि मनुष्य संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयंभू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नाम का लड़का हुआ। प्रियव्रत का पुत्र अग्नीध्र हुआ। अग्नीध्र के घर नाभि ने जन्म लिया। नाभि ने मरुदेवी से विवाह किया और उससे ऋषभदेव उत्पन्न किए, ऋषभदेव ने इंद्र के द्वारा दी गई जयंती नाम की भार्या से सौ पुत्र उत्पन्न किए, और बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और वे दिगंबर वेष में नग्न विचरण करते थे। मौन से रहते थे, कोई डराए, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्रविष्ठा फेंके तो इन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है ऐसा समझकर अहंकार ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुंदर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रियाकर्म बड़ा भयानक हो गया। शरीरादिक का सुख छोड़कर उन्होंने 'आजगर' व्रत ले लिया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरंतर परम आनंद का अनुभव करते हुए भ्रमण करते-करते कौंक, वेंक कुटक दक्षिण कर्नाटक देशों में अपनी इच्छा से पहुँचे और कुटकाचल पर्वत के उपवन में उन्मत्त की नाईं नग्न होकर विचरने लगे।

जंगल में बाँसों की रगड़ से आग लग गई और उन्होंने उसी में प्रवेश करके अपने को भस्म कर दिया।[1]

इस तरह ऋषभदेव का वर्णन करके भागवतकार आगे लिखते हैं– 'इन ऋषभदेव के चरित्र को सुनकर कोंक, बेंक कुटक देशों का राजा अर्हन् उन्हीं के 'उपदेश को लेकर कलियुग में जब अधर्म बहुत हो जाएगा तब स्वधर्म को छोड़कर कुपथ पाखंड (जैन धर्म) का प्रवर्तन करेगा। तुच्छ मनुष्य माया से विमोहित होकर, शौच आचार को छोड़कर ईश्वर की अवज्ञा करने वाले व्रत धारण करेंगे। न स्नान, न आचमन, ब्रह्म, ब्राह्मण, यज्ञ सबके निंदक ऐसे पुरुष होंगे और वेद-विरुद्ध आचरण करके नरक में गिरेंगे। यह ऋषभावतार रजोगुण से व्याप्त मनुष्यों को मोक्षमार्ग सिखलाने के लिए हुआ।'

श्रीमद्भागवत के उक्त कथन में से यदि उस अंश को निकाल दिया जाए, जो कि धार्मिक विरोध के कारण लिखा गया है तो उससे बराबर यह ध्वनित होता है कि ऋषभदेव ने ही जैन धर्म का उपदेश दिया था क्योंकि जैन तीर्थंकर ही केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर 'जिन' अर्हत् आदि नामों से पुकारे जाते हैं और उसी अवस्था में धर्मोपदेश करते हैं जो कि उनकी उस अवस्था के नाम पर जैन धर्म या आर्हत धर्म कहलाता है। संभवतः दक्षिण में जैन धर्म का अधिक प्रचार देखकर भागवतकार ने उक्त कल्पना कर डाली है। यदि वे सीधे ऋषभदेव से ही जैन धर्म की उत्पत्ति बतला देते तो फिर उन्हें धर्म को बुरा-भला कहने का अवसर नहीं मिलता। अस्तु, श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव जी के द्वारा उनके पुत्रों को जो उपदेश दिया गया है वह भी बहुत अंश में जैन धर्म के अनुकूल ही है। उसका सार निम्न प्रकार है–

1. हे पुत्रो! मनुष्य लोक में शरीरधारियों के बीच में यह शरीर कष्टदायक है, भोगने योग्य नहीं है। अतः दिव्य तप करो, जिससे अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

2. जो कोई मेरे से प्रीति करता है, विषयी जनों से, स्त्री से, पुत्र से और मित्र से प्रीति नहीं करता तथा लोक में प्रयोजन मात्र आसक्ति करता है वह समदर्शी प्रशांत और साधु है।

---

1. 'यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजा अर्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमंजसं निजमीषया मंदः सम्प्रवर्तयिष्यते।।6।।
येन बाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौच-चारित्रवाहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजेच्छया गृह्णाना अस्नानाचमनशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाऽधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ-पुरुषलोकविदूषिकाः प्रायेण भविष्यन्ति।।10।।
ते च स्वह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयाऽन्धपरम्परया श्वस्ताः तमस्यन्धे स्वयमेव पतिष्यन्ति। अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः।।' स्क० 5, अ० 6।

3. जो इंद्रियों की तृप्ति के लिए परिश्रम करता है उसे हम अच्छा नहीं मानते, क्योंकि यह शरीर भी आत्मा को क्लेशदायी है।

4. जब तक साधु आत्मतत्व को नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी है। जब तक यह जीव कर्मकांड करता रहता है तब तक सब कर्मों का शरीर और मन द्वारा आत्मा से बंध होता रहता है।

5. गुणों के अनुसार चेष्टा न होने से विद्वान् प्रमादी हो, अज्ञानी बनकर, मैथुन सुख प्रधान घर में बसकर अनेक संतापों को प्राप्त होता है।

6. पुरुष का स्त्री के प्रति जो काम भाव है यही हृदय की ग्रंथि है। इसी से जीव को घर, खेत, पुत्र, कुटुंब और धन से मोह होता है।

7. जब हृदय की ग्रंथि को बनाए रखने वाले मन का बंधन शिथिल हो जाता है तब यह जीव संसार से छूटता है और मुक्त होकर परमलोक को प्राप्त होता है।

8. जब सार-असार का भेद कराने वाली व अज्ञानांधकार का नाश करने वाली मेरी भक्ति करता है और तृष्णा, सुख-दुःख का त्याग कर तत्व को जानने की इच्छा करता है तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओं की निवृत्ति करता है तब मुक्त होता है।

9. जीवों को जो विषयों की चाह है यह चाह ही अंधकूप के समान नरक में जीव को पटकती है।

10. अत्यंत कामना वाला तथा नष्ट दृष्टि वाला यह जगत् अपने कल्याण के हेतुओं को नहीं जानता है।

11. जो कुबुद्धि सुमार्ग छोड़ कुमार्ग में चलता है उसे दयालु विद्वान् कुमार्ग में कभी भी नहीं चलने देता।

12. हे पुत्रो! सब स्थावर जंगल जीव मात्र को मेरे ही समान समझकर भावना करना योग्य है।

ये सभी उपदेश जैन धर्म के अनुसार हैं। इनमें नंबर 4 का उपदेश तो विशेष ध्यान देने योग्य है, जो कर्मकांड को बंध का कारण बतलाता है। जैन धर्म के अनुसार मन, वचन और काय का निरोध किए बिना कर्म बंधन से छुटकारा नहीं मिल सकता। किंतु वैदिक धर्मों में यह बात नहीं पाई जाती। शरीर के प्रति निर्ममत्व होना, तत्वज्ञान पूर्वक तप करना, जीवमात्र को अपने समान समझना, कामवासना के फंदे में न फँसना, ये सब तो वस्तुतः जैन धर्म ही हैं। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार भी श्री ऋषभदेव से ही जैन धर्म का उद्‌गम हुआ ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है। अन्य हिंदू पुराणों में भी जैन धर्म की उत्पत्ति के संबंध में प्रायः इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है। ऐसा एक भी ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया, जिसमें वर्धमान या पार्श्वनाथ से जैन धर्म की

उत्पत्ति बतलाई गई हो। यद्यपि उपलब्ध पुराण साहित्य प्रायः महावीर के बाद का ही है, फिर भी उसमें जैन धर्म की चर्चा होते हुए भी महावीर या पार्श्वनाथ का नाम तक नहीं पाया जाता। इससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि हिंदू परंपरा भी इस विषय में एकमत है कि जैन धर्म के संस्थापक ये दोनों नहीं हैं।

इसके सिवा हम यह देखते हैं कि हिंदू धर्म के अवतार में अन्य भारतीय धर्मों के पूज्य पुरुष भी सम्मिलित कर लिए गए हैं। यहाँ तक कि ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में होने वाले बुद्ध को भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया है जो बौद्ध धर्म के संस्थापक थे। किंतु उन्हीं के समकालीन वर्धमान या महावीर को उसमें सम्मिलित नहीं किया है, क्योंकि वे जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे जिन्हें हिंदू परंपरा जैन धर्म का संस्थापक मानती थी। वे श्री ऋषभदेव को पहले से ही आठवें अवतार माने हुए थे। यदि श्री बुद्ध की तरह महावीर भी एक नए धर्म के संस्थापक होते तो यह संभव नहीं था कि उन्हें छोड़ दिया जाता। अतः उनके सम्मिलित न करने और ऋषभदेव के आठवें अवतार माने जाने से भी इस बात का समर्थन होता है कि हिंदू परंपरा में अति प्राचीन काल से ऋषभदेव को ही जैन धर्म के संस्थापक के रूप में माना जाता है। यही वजह है जो उनके बाद में होने वाले अजितनाथ और अरिष्टनेमि नाम के तीर्थंकरों का निर्देश यजुर्वेद में मिलता है।

ऐतिहासिक सामग्री

इस प्रकार जैन और जैनेतर साहित्य से यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव ही जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक थे। प्राचीन शिलालेखों से भी यह बात प्रमाणित है कि श्री ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे और भगवान् महावीर के समय में भी ऋषभदेव की मूर्तियों की पूजा जैन लोग करते थे। मथुरा के कंकाली नामक टीले की खुदाई में डॉक्टर फूहरर को जो जैन शिलालेख प्राप्त हुए, वे करीब दो हजार वर्ष प्राचीन हैं और उन पर इंडोसिथियन (Indo-sythian) राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का संवत् है। उसमें भगवान् ऋषभदेव की पूजा के लिए दान देने का उल्लेख है।

श्री विंसेंट[1] ए० स्मिथ का कहना है कि 'मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परंपरा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में

1. 'The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present from, the series twentyfour pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era- The Jain Stupa...Mathura Intro, P.6. '

अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईसवी सन् के प्रारंभ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यताओं में दृढ़ विश्वास था।'

इन शिलालेखों से भी प्राचीन और महत्वपूर्ण शिलालेख खंडगिरि उदयगिरि (ओडिशा) की हाथी गुफा से प्राप्त हुआ है जो जैन सम्राट खारवेल ने लिखवाया था। इस 2100 वर्ष प्राचीन जैन शिलालेख से स्पष्ट पता चलता है कि मगधाधिपति पुष्यमित्र का पूर्वाधिकारी राजा नंद कलिंग जीतकर भगवान् श्री ऋषभदेव की मूर्ति, जो कलिंग राजाओं की कुलक्रमागत बहुमूल्य अस्थावर संपत्ति थी, जयचिह्न स्वरूप ले गया था। वह प्रतिमा खारवेल ने नंद राजा के तीन सौ वर्ष बाद पुष्यमित्र से प्राप्त की। जब खारवेल ने मगध पर चढ़ाई की और उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्र ने खारवेल को वह प्रतिमा लौटाकर राजी कर लिया। यदि जैन धर्म का आरंभ भगवान् महावीर या भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा हुआ होता तो उनसे कुछ ही समय बाद की या उनके समय की प्रतिमा उन्हीं की होती। परंतु जब ऐसे प्राचीन शिलालेख में आदि तीर्थंकर की प्रतिमा का स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख इतिहास के साथ मिलता है तो मानना पड़ता है कि श्री ऋषभदेव के प्रथम जैन तीर्थंकर होने की मान्यता में तथ्य अवश्य हैं।

अब प्रश्न यह है कि वे कब हुए?

ऊपर बतलाया गया है कि जैन परंपरा के अनुसार प्रथम जैन तीर्थंकर श्री ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के तीसरे भाग में हुए, और अब उस काल का पाँचवाँ भाग चल रहा है। अतः उन्हें हुए लाखों करोड़ों वर्ष हो गए। हिंदू परंपरा के अनुसार भी जब ब्रह्मा ने सृष्टि के आरंभ में स्वयंभू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया तो ऋषभदेव उनसे पाँचवीं पीढ़ी में हुए और इस तरह वे प्रथम सतयुग के अंत में हुए तथा अब तक 28 सतयुग बीत गए हैं। इससे भी उनके समय की सुदीर्घता का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः जैन धर्म का आरंभ काल बहुत प्राचीन है। भारतवर्ष[1] में जब आर्यों का आगमन हुआ उस समय भारत में जो द्रविड़ सभ्यता फैली हुई थी, वस्तुतः वह जैन सभ्यता ही थी। इसी से जैन परंपरा में बाद को जो संघ कायम हुए उनमें एक द्रविड़ संघ भी था।

---

1. मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लांग महोदय अपनी The Short Study in Science of Comparative Religion नाम की पुस्तक में लिखते हैं– 'ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैन धर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्य भारत आए तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे।'

2. श्री ऋषभदेव

काल के उक्त छह भागों में से पहले और दूसरे भाग में न कोई धर्म होता है, न कोई राजा और न कोई समाज। एक परिवार में पति और पत्नी ये दो ही प्राणी होते हैं। पास में लगे वृक्षों से, जो कल्पवृक्ष कहे जाते हैं उन्हें अपने जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उसी में वे प्रसन्न रहते हैं। मरते समय एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म देकर वे दोनों चल बसते हैं। दोनों बालक अपना-अपना अँगूठा चूसकर बड़े होते हैं और बड़े होने पर पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं। तीसरे काल का बहुभाग बीतने तक यही क्रम रहता है और इसे भोग-भूमि काल कहा जाता है, क्योंकि उस समय के मनुष्यों का जीवन भोग प्रधान रहता है। उन्हें अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ भी उद्योग नहीं करना पड़ता। किंतु इसके बाद परिवर्तन प्रारंभ होता है। धीरे-धीरे उन वृक्षों से आवश्यकता की पूर्ति के लायक सामान मिलना कठिन हो जाता है और परस्पर झगड़े होने लगते हैं, तब चौदह मनुओं की उत्पत्ति होती है। उनमें से पाँचवाँ मनु वृक्षों की सीमा निर्धारित कर देता है। जब सीमा पर भी झगड़ा होने लगता है तो छठवाँ मनु सीमा के स्थान पर चिह्न बना देता है। तब तक पशुओं से काम लेना कोई नहीं जानता था और न उनकी कोई आवश्यकता थी। किंतु अब आवश्यक होने पर सातवाँ मनु घोड़ों पर चढ़ना वगैरह सिखाता है। पहले माता-पिता संतान को जन्म देकर मर जाते थे। किंतु अब ऐसा होना बंद हो गया तो आगे के मनु बच्चों के लालन-पालन आदि का शिक्षण देते हैं। इधर-उधर जाने का काम पड़ने पर रास्ते में नदियाँ पड़ जाती थीं, उन्हें पार करना कोई नहीं जानता था। तब बारहवाँ मनु पुल, नाव वगैरह के द्वारा नदी पार करने की शिक्षा देता है।

पहले कोई अपराध ही नहीं करता था, अतः दंड व्यवस्था की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। किंतु जब मनुष्यों की आवश्यकता पूर्ति में बाधा पड़ने लगी तो मनुष्यों में अपराध करने प्रवृत्ति भी शुरू हो गई। अतः दंड व्यवस्था की आवश्यकता हुई। प्रथम के पाँच मनुओं के समय केवल 'हा' कह देना ही अपराधी के लिए काफी होता था। बाद को जब इतने से काम नहीं चला तो 'हा', 'अब ऐसा काम मत करना' यह दंड निर्धारित करना पड़ा। किंतु जब इतने से भी काम नहीं चला तो अंत के पाँच कुलकरों के समय में 'धिक्कार' पद और जोड़ा गया। इस तरह चौदह मनुओं ने मनुष्यों की कठिनाइयों को दूर करके सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया।

चौदहवें मनु का नाम नाभिराय था। इनके समय में उत्पन्न होने वाले बच्चों का नाभिनाल अत्यंत लंबा होने लगा तो इन्होंने उसको काटना बतलाया। इसलिए इनका नाम नाभि पड़ा। इनकी पत्नी का नाम मरुदेवी था। इनसे श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ।

यही ऋषभदेव इस युग में जैन धर्म के आद्य प्रर्वतक हुए। इनके समय में ही ग्राम, नगर आदि की सुव्यवस्था हुई[1]। इन्होंने ही लौकिक शास्त्र लोक व्यवहार की शिक्षा दी और इन्होंने ही उस धर्म की स्थापना की जिसका मूल अहिंसा है, इसलिए इन्हें आदि ब्रह्मा भी कहा गया है।

जिस समय ये गर्भ में थे, उस समय देवताओं ने स्वर्ण वृष्टि की इसलिए इन्हें 'हिरण्यगर्भ'[2] भी कहते हैं। इनके समय में प्रजा के सामने जीवन की समस्या विकट हो गई थी, क्योंकि जिन वृक्षों से लोग अपना जीवन निर्वाह करते आए थे वे लुप्त हो चुके थे और जो नई वनस्पतियाँ पृथ्वी में उगी थीं, उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। इन्होंने उन्हें उगे हुए इक्षु डंडों से रस निकालकर खाना सिखलाया। इसलिए इनका वंश इक्ष्वाकु वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ और ये उसके आदि पुरुष कहलाए तथा[3] प्रजा को कृषि, असि, मषी, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन षट्कर्मों से आजीविका करना बतलाया। इसलिए इन्हें प्रजापति भी कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए इन्होंने तीन वर्गों की स्थापना की। जिनको रक्षा का भार दिया गया वे क्षत्रिय कहलाए। जिन्हें खेती, व्यापार, गो-पालन आदि के कार्य में नियुक्त किया गया वे वैश्य कहलाए और जो सेवावृत्ति करने के योग्य समझे गए उन्हें शूद्र नाम दिया गया।

भगवान् ऋषभदेव की दो पत्नियाँ थीं– एक का नाम सुनंदा था और दूसरी का नंदा। इनसे उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। बड़े पुत्र का नाम भरत था। यही भरत इस युग में भारतवर्ष के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए।

एक दिन भगवान् ऋषभदेव राजसिंहासन पर विराजमान थे। राजसभा लगी हुई थी और नीलांजना नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी। अचानक नृत्य करते-करते नीलांजना का शरीरपात हो गया। इस आकस्मिक घटना से भगवान् का चित्त विरक्त हो उठा। तुरंत सब पुत्रों को राज्यभार सौंपकर उन्होंने प्रव्रज्या ले ली और छह माह की समाधि लगाकर खड़े हो गए। उनकी देखा-देखी और भी अनेक राजाओं ने दीक्षा ली। किंतु वे भूख-प्यास के कष्ट को न सह सके और भ्रष्ट हो गए। छह माह के बाद जब भगवान् की समाधि भंग हुई तो आहार के लिए उन्होंने विहार किया। उनके प्रशांत

---

1. पुरगामपट्टणादी लोयियसत्थं च लोयववहारो।
   धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबह्मेण।।802।।– त्रि०सा०
2. हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि।
   हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे त्वतः।।206।।
   आकन्तीक्षुरसं प्रीत्या बाहुल्येन त्वयि प्रभो।
   प्रजाः प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यसे।।210।।–हरि०पु०स०8
3. प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजाः– स्व०स्तो०

नग्न रूप को देखने के लिए प्रजा उमड़ पड़ी। कोई उन्हें वस्त्र भेंट करता था, कोई भूषण भेंट करता था, कोई हाथी-घोड़े लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होता था। किंतु उनको भिक्षा देने की विधि कोई नहीं जानता था। इस तरह घूमते-घूमते छह माह और बीत गए।

इसी तरह घूमते-घूमते एक दिन ऋषभदेव हस्तिनापुर में जा पहुँचे। वहाँ का राजा श्रेयांस बड़ा दानी था। उसने भगवान् का बड़ा आदर-सत्कार किया। आदरपूर्वक भगवान् को प्रतिग्रह करके उच्चासन पर बैठाया, उनके चरण धोए, पूजन किया और फिर नमस्कार करके बोला– भगवन्! यह इक्षु रस प्रासुक है, निर्दोष है, इसे आप स्वीकार करें। तब भगवान् ने खड़े होकर अपनी अंजलि में रस लेकर पिया। उस समय लोगों को जो आनंद हुआ वह वर्णनातीत है। भगवान् का यह आहार वैशाख शुक्ला तीज के दिन हुआ था। इसी से यह तिथि 'अक्षय तृतीया' कहलाती है। आहार करके भगवान् फिर वन को चले गए और आत्मध्यान में लीन हो गए। एक बार भगवान् 'पुरिमताल' नगर के उद्यान में ध्यानस्थ थे। उस समय उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस तरह 'जिन' पद प्राप्त करके भगवान् बहुत बड़े समुदाय के साथ धर्मोपदेश देते हुए विचरण करने लगे। उनकी व्याख्यान सभा 'समवसरण' कहलाती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें पशुओं तक को धर्मोपदेश सुनने के लिए स्थान मिलता था और सिंह जैसे भयानक जंतु शांति के साथ बैठकर धर्मोपदेश सुनते थे। भगवान् जो कुछ कहते थे सबकी समझ में आ जाता था। इस तरह जीवनपर्यंत प्राणिमात्र को उनके हित का उपदेश देकर भगवान् ऋषभदेव कैलाश पर्वत से मुक्त हुए। वे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। हिंदू पुराणों में भी उनका वर्णन मिलता है। इस युग में उनके द्वारा ही जैन धर्म का आरंभ हुआ।

भारतीय धर्म और अहिंसा

एक अध्ययन

नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की चर्चा प्रायः सभी हिंदू पुराणों में आती है। मार्कंडेय पु०अ० 90, कर्म पु०अ० 41, आ० पु०अ० 10, वायु पुराण अ० 33, गरुण पुराण अ०1, ब्रह्मांड पु० अ० 14, वाराह पु० अ० 74, लिंग पुराण अ० 47, विष्णु पु० र० अ० 1 और स्कंद पुराण वुभार खंड अ० 37 में ऋषभदेव का वर्णन आता है। इन सभी में ऋषभ को नाभि और मरुदेवी का पुत्र कहा है। ऋषभ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें से बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभ ने प्रव्रज्या ग्रहण की। इसी भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। यथा–

नाभि स्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशतोशुजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्नं दक्षिणं वर्ष तस्य नाम्ना विंदुर्बुधाः।

उक्त श्लोक थोड़े से शब्दभेद के साथ प्रायः उक्त सभी पुराणों में पाए जाते हैं। श्रीमद्भागवत में तो ऋषभावतार का पूरा वर्णन है और उन्हीं के उपदेश से जैन धर्म की उत्पत्ति बतलाई है। यथा–

बर्हिषि तिस्मन्ने विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामेः
प्रियविकीर्षया तदवरोधावने मरुदेज्यां धर्मान् दर्शायेतुकाभौ
वातरशनानां श्रमणानाम षोणामुर्ध्वमन्धिनां शुवक्लया
तनुवावततार '20' स्व० पू० अ० 31

उक्त कथन में वातरशन (नग्न) श्रमणों के धर्म से स्पष्ट ही जैन धर्म का अभिप्राय है क्योंकि आगे ऋषभदेव के उपदेश से ही आर्हत धर्म (जैन धर्म) की उत्पत्ति बतलाई है।

भारत के राष्ट्रपति और प्रसिद्ध दार्शनिक स्व० डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास (जि० प० पृ० 187) में लिखा है– 'जैन परंपरा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति का कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाए जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जी की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्देव में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नाम आते हैं। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।

भागवत्कार ने ऋषभदेव जी का जो वर्णन किया है वह जैन मान्यता के ही अनुरूप है। वह योगी थे। उनका योग कर्म संन्यास रूप था। जैन धर्म में कर्म संन्यास रूप योग की ही साधना की जाती है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत सभी तीर्थंकर योगी थे। मौर्यकाल से लेकर आज तक की सभी जैन मूर्तियाँ योगी के रूप में ही प्राप्त होती हैं।

योग की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। वैदिक आर्य उससे परिचित नहीं थे। किंतु सिंधु घाटी सभ्यता योग से अछूती नहीं थी। योग शास्त्रों के अनुसार योग के लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं– आसन, मस्तक, ग्रीवा और धड़ का सीधा रहना तथा अर्धनिमीलित नेत्र या नासाग्रदृष्टि। जैसा कि भगवद्गीता में भी कहा है–

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्भः चलास्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशाश्चानवलोकयन्॥5-13

स्व० श्री रामप्रसाद चंदा के अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त पत्थर की मूर्ति, जिसे मि० मैके पुजारी की मूर्ति बतलाते थे, योगी की मूर्ति है।

श्री चंदा ने मार्डन रिव्यू जून, 1932 में एक लेख प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने भारतीय धर्मों में योग की स्थिति का चित्रण करके लिखा है– सिंधु घाटी से प्राप्त मोहरों पर बैठी अवस्था में अंकित देवताओं की मूर्तियाँ ही योग की मुद्रा में नहीं हैं किंतु खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को बतलाती हैं। मथुरा म्यूजियम में दूसरी शती की कायोत्सर्ग में स्थित एक वृषभदेव जिन की मूर्ति है, इस मूर्ति की शैली से सिंधु से प्राप्त मोहरों पर अंकित खड़ी हुई देवमूर्तियों की शैली बिलकुल मिलती है।...ऋषभ या वृषभ का अर्थ होता है बैल और ऋषभदेव तीर्थंकर का चिह्न बैल है। मोहर नं० 3 से 5 तक के ऊपर अंकित देवमूर्तियों के साथ बैल भी अंकित है जो ऋषभ का पूर्वरूप हो सकता है। शैव धर्म और जैन धर्म जैसे दार्शनिक धर्मों के प्रारंभ को पीछे ठेलकर ताम्रयुगीन काल में ले जाना किन्हीं को एक अवश्य ही साहसपूर्ण कल्पना प्रतीत होगी किंतु जब एक व्यक्ति ऐतिहासिक और प्राग ऐतिहासिक सिंधु घाटी सभ्यता के बीच में एक अगम्य झाड़ी झरवा होने की उससे भी साहसपूर्ण कल्पना करने के लिए तैयार है तो यह अनुभव कि सिंधु मोहरों पर अंकित बैठी हुई और खड़ी हुई देवमूर्तियों की शैली में घनिष्ठ सादृश्य उस सुदूर काल में योग के प्रसार को सूचित करता है, एक कामचलाऊ कल्पना के रूप में मान लेने के योग्य है और आध्यात्मिक सरणि पर पहुँचे बिना योगाभ्यास करना संभव नहीं है।

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने अपनी हिंदू सभ्यता नामक पुस्तक में श्री रामप्रसाद चंदा के उक्त मत को मान्य करते हुए लिखा है– उन्होंने छह अन्य मोहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक 12 और 118 आकृति 7 (मार्शलकृति मोहन जोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ बैल जो आदिनाथ का लक्षण है मुहर संख्या F.G.H फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है, संभव है यह ऋषभ का ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिंधु सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिंधु सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभय साधारण सांस्कृतिक परंपरा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है (हि० स० 23-24)।

सिंधु घाटी सभ्यता वैदिक सभ्यता से भिन्न थी। दोनों में भेद होते हुए भी ऋग्वैदिक कालीन आर्य सिंधु सभ्यता से परिचित थे, ऐसा मत डॉ० राधाकुमुद

मुखर्जी का है। उनका कहना है कि ऋग्वेद की सामग्री के सम्यक् पर्यालोचन से यह ज्ञात होगा कि उसमें जो अनार्य लोगों के और उनकी सभ्यता के उद्धरण हैं वे सिंधु के निवासी जनों पर लागू हो सकते हैं।... अनार्यों अथवा भारतीय आदिम निवासियों के बारे में ऋग्वेद में भी बहुत-सी सामग्री है। आर्येतरों को उसमें दास, दस्यु या असुर कहा है। इसमें अनार्य सभ्यताओं की कुछ सार्थक विशेषताओं का उल्लेख है जो सिंधु सभ्यता की सूचक और उसके सदृश है। उदाहरण के लिए आर्येतर लोगों को अपरिचित भाषा में बोलने वाला (मृद्धवाक), वैदिक कर्मों से रहित (अकर्मन), वैदिक देवों को न मानने वाला (अदेवयु) श्रद्धा और धार्मिक विश्वास से रहित (अब्रहनन्), यज्ञों से शून्य (अयज्वन), एवं व्रतों से रहित (अव्रत) कहा गया है। वे केवल अपने नियमों का पालन करने वाले (अपव्रत) थे। इन नकारात्मक संकेतों के अतिरिक्त एक निश्चयात्मक सूचना अनार्यों के विषय में यह भी दी गई है कि वे लिंग पूजक थे। (शिश्नदेवाः ऋ० 7/21/5 (हि० स० पृ० 132-33)।

ऋग्देव के सूत्रों में 'शिश्नदेवाः' पद आया है। उसमें से (7-21-5) इंद्रदेव से प्रार्थना की गई है कि शिश्नदेव हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें। दूसरे में (10-99-3) इंद्र के संबंध में कहा गया है कि उसने शिश्नदेवों को चालाकी से मारकर शत द्वारों वाले दुर्ग की निधि पर कब्जा कर लिया। इससे स्पष्ट है कि शिश्नदेव वैदिक नहीं थे।

प्रायः सभी ने शिश्नदेवाः का अर्थ शिश्न को देवता मानने वाले अर्थात् लिंग पूजक किया है। किंतु इसका एक दूसरा अर्थ भी होता है– शिश्नयुत देवता को मानने वाले। अर्थात् जो नंगे देवताओं को पूजते थे। सिंधु घाटी से प्राप्त मूर्तियों को देखते हुए यही अर्थ ठीक प्रमाणित होता है, क्योंकि मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति तो नग्न है ही किंतु जिसे शिवजी की मूर्ति माना जाता है उसमें भी लिंग अंकित है। इस पर से यह अनुमान किया गया है कि मोहनजोदड़ो के निवासियों में लिंग सहित शिव को पूजने की प्रथा थी।

मोहनजोदड़ो की तरह हड़प्पा से प्राप्त मूर्तियाँ भी नग्न हैं, जिनमें से एक शिव की मूर्ति मानी गई है और दूसरी को भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के तत्कालीन संयुक्त निर्देशक श्री टी० एन० रामचंद्रन् ऋषभ तीर्थंकर की मूर्ति मानते हैं। उन्होंने भी अपने एक लेख में शिश्नदेव का अर्थ नंगे देवता से किया है। इस तरह सिंधु सभ्यता से प्राप्त नग्न मूर्तियों के प्रकाश में ऋग्वेद के शिश्नदेवाः का अर्थ शिश्नयुत देव अर्थात् नग्नदेव करना उचित प्रतीत होता है। जो उनके उपासक थे वे भी उससे लिए जा सकते हैं। यह अर्थ लिंग पूजकों में और लिंगयुत नग्नदेवों के पूजकों में समान रूप से घटित होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अपने चिह्न लिंग पूजा को लिए हुए शिव निश्चय ही अन-आर्य देवता हैं। बाद में आर्यों के द्वारा उन्हें अपने देवताओं में सम्मिलित कर लिया गया। किंतु लिंग पूजा का प्रचलन आर्यों में बहुत काल के पश्चात् हुआ है क्योंकि भाष्यकार पतंजलि ने अपने भाष्य में पूजा के लिए शिव की प्रतिकृति का निर्देश किया है शिवलिंग का नहीं। चीनी यात्री ह्युनत्सांग के यात्रा विवरण में शिव की मूर्ति का तो वर्णन है किंतु लिंग पूजा का वर्णन नहीं मिलता। डॉ० भंडारकर ने लिखा है कि (Wema Kadppises) के समय में भी लिंग पूजा अज्ञात थी ऐसा लगता है, क्योंकि उसके सिक्के के दूसरी ओर शिव की मानवमूर्ति अंकित है, जिसके हाथ में त्रिशूल है तथा बैल का चिह्न बना है। (शै० वै० पु० 164),

उक्त कथनों के प्रकाश में हमारा ध्यान ऋषभ और शिव की ओर जाता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त नग्न योगी की मूर्ति जिसे श्री रामप्रसाद चंदा और डॉ० रामचंद्रन् ऋषभ की मूर्ति होने की संभावना व्यक्त करते हैं तथा शिव की मूर्ति का पाया जाना और उस पर डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का यह लिखना कि यदि उक्त मूर्ति या ऋषभ का ही पूर्व रूप है तो शैव धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सभ्यता तक जाता है और इससे सिंधु सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभय साधारण सांस्कृतिक परंपरा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उभय शब्द से ऋषभ और शिव को लेने पर दोनों के मध्य एक साधारण सांस्कृतिक परंपरा का रूप सामने आता है, क्योंकि दोनों के कुछ बाह्य रूपों में आंशिक समानता है। ऋषभदेव का चिह्न बैल है जो मोहनजोदड़ो से प्राप्त सील नं० 3 से 5 तक पर अंकित है तथा कार्योत्सर्ग मुद्रा में अंकित प्राकृतियों के साथ भी अंकित है। उधर शिव का भी वाहन बैल है। इधर ऋषभदेव का निर्वाण कैलाश पर्वत से माना जाता है, उधर शिव भी कैलासवासी माने जाते हैं।

इस पर से यह कल्पना होती है कि दोनों का मूल एक तो नहीं है अथवा एक ही मूल पुरुष को दो परंपराओं ने अपने-अपने रूप में स्वीकार तो नहीं किया।

डॉ० भंडारकार शिव के साथ उमा के योग को उत्तरकालीन बतलाते हैं, उमा का नाम तो उपनिषद् में आया है और उसे हैमवती हिमवत् की पुत्री बतलाया है किंतु शिव या रूद्र की पत्नी नहीं बतलाया है।

इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने के लिए वेदों की ओर आना होगा। ऋग्वेद में (2-33-15) रुद्र सूक्त में एक ऋचा है।

एव वस्त्रो वृषभ चेकितान यथा देव न ह्रणोणे न हंसी। हे वृषभ! ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।

आगे चलकर वैदिक देवता रुद्र ने शिव का रूप ले लिया और वे पशुपति कहलाए। किंतु तांडय और प्रजापथ ब्रह्मा में ऋषभ को पशुपति कहा है। यथा–

ऋषमेवा पशुनामधिपति (तां० ब्रा० 14-2-5)

ऋषमेवा पशुनां प्रजापतिः (प्रजा० प्रा० 5, 2-5-17)

पशु शब्द का अर्थ प्रातः ब्रा० 6-2-1-2 में इस प्रकार किया है–

(अग्नि) एतान् पन्वच् पशूनपश्यत्। पुरुषमश्चं भविमजमं।

यदपश्यत्तरुमादेजे पशवः।

अर्थात् अग्नि ने (प्रजापति ने) पुरुष, अश्व, गौ, भेड़, बकरी को देखा। क्योंकि इनको देखा, इसलिए ये पशु कहलाए।

संस्कृत में देखना अर्थ वाली दृश् धातु के स्थान में 'पश्य', आदेश होता है।

ब्राह्म ग्रंथों में पशु शब्द के अर्थ इस प्रकार पाए जाते हैं–

श्री वै पशवः (ता० ब्रा० 13-2-3)

पशवो यशः (प्रात० ब्रा० 1-8-1-38)

शान्तिः पशवः (ता० 4-5-18)

पशवो वै रायः (प्रात० ब्रा० 3, 3-1-8)

आत्मा वै पशुः (कौस्य ब्रा० 12-7)

अर्थात् श्री, यश, शांति, धन, आत्मा आदि अनेक अर्थों में पशु शब्द का व्यवहार वैदिक साहित्य में हुआ है। अतः पशुपति का अर्थ हुआ– पूजा, श्री, यश, धन, आत्मा आदि का स्वामी और ऋषभ पशुपति हैं। इसी तरह महाभारत, अनुशासन पर्व में महादेव के नामों में शिव के साथ ऋषभ नाम भी गिनाया है। यथा ऋषभत्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः। (अ० 14, श्लोक 18)

3. जैन धर्म के अन्य प्रवर्तक

भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् जैन धर्म के प्रवर्तक 23 तीर्थंकर और हुए, जिनमें से दूसरे अजितनाथ, चौथे अभिनंदननाथ, पाँचवें सुमतिनाथ और चौदहवें अनंतनाथ का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ। तीसरे संभवदेव का जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। छठे पद्मप्रभु का जन्म कौशांबी में हुआ। सातवें सुपार्श्वनाथ और तेईसवें पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी नगरी में हुआ। आठवें चंद्रप्रभु का जन्म चंद्रपुरी में हुआ। नौवें पुष्पदंत का जन्म काकंदी नगरी में हुआ। दसवें शीतलनाथ का जन्म भद्दलपुर में हुआ। ग्यारहवें श्रेयांसनाथ का जन्म सिंहपुरी (सारनाथ) में हुआ। बारहवें वासुपूज्य का जन्म चंपापुरी में हुआ। तेरहवें विमलनाथ का जन्म कपिला नगरी में हुआ। पंद्रहवें धर्मनाथ का जन्म रत्नपुर में हुआ। सोलहवें शांतिनाथ, सत्रहवें कुंथुनाथ और अठारहवें अरहनाथ का जन्म हस्तिनापुर में हुआ। उन्नीसवें मल्लिनाथ और इक्कीसवें नेमिनाथ का जन्म मिथिलापुरी में हुआ। बीसवें मुनि सुव्रतनाथ का जन्म राजगृही नगरी में हुआ।

इनमें से धर्मनाथ, अरहनाथ और कुंथुनाथ का जन्म कुरु वंश में हुआ, मुनि सुव्रतनाथ का जन्म हरिवंश में हुआ और शेष का जन्म इक्ष्वाकु वंश में हुआ। सभी ने अंत में प्रव्रज्या लेकर भगवान् ऋषभदेव की तरह तपश्चरण किया और केवल ज्ञान को प्राप्त करके उन्हीं की तरह धर्मोपदेश किया और अंत में निर्वाण को प्राप्त किया।

इनमें से भगवान् वासुपूज्य का निर्वाण चंपापुर से हुआ और शेष तीर्थंकरों का निर्वाण सम्मेदशिखर से हुआ। अंतिम तीन तीर्थंकरों का वर्णन आगे पढ़िए।

भगवान् नेमिनाथ

भगवान् नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर थे। ये श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। शौरीपुर नरेश अंधक वृष्णि के दस पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम समुद्रविजय और सबसे छोटे पुत्र का नाम वसुदेव था। समुद्रविजय के घर नेमिनाथ ने जन्म लिया और वसुदेव के घर श्रीकृष्ण ने। जरासंध के भय से यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारका नगरी में जाकर रहने लगे। वहाँ जूनागढ़ के राजा की पुत्री राजमती से नेमिनाथ का विवाह निश्चित हुआ। बड़ी धूमधाम के साथ बारात जूनागढ़ के निकट पहुँची। नेमिनाथ बहुत-से राजपुत्रों के साथ रथ में बैठे हुए आस-पास की शोभा देखते जा रहे थे। उनकी दृष्टि एक ओर गई तो उन्होंने देखा कि बहुत-से पशु एक बाड़े में बंद हैं, वे निकलना चाहते हैं किंतु निकलने का कोई मार्ग नहीं है। भगवान् ने तुरंत सारथि को रथ रोकने का आदेश दिया और पूछा ये इतने पशु इस तरह क्यों रोके हुए हैं। नेमिनाथ को यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि उनकी बारात में आए हुए अनेक राजाओं के आतिथ्य सत्कार के लिए इन पशुओं का वध किया जाने वाला है इसलिए वे बाड़े में बंद हैं। नेमिनाथ के दयालु हृदय को बड़ा कष्ट पहुँचा। वे बोले यदि मेरे विवाह के निमित्त से इतने पशुओं का जीवन संकट में है तो धिक्कार है ऐसे विवाह को। अब मैं विवाह नहीं करूँगा। वे रथ से तुरंत नीचे उतर गए और अपने मुकुट और कंगन को फेंककर वन की ओर चल दिए। बारात में इस समाचार के फैलते ही कोहराम मच गया। जूनागढ़ के अंतःपुर में जब राजमती को यह समाचार मिला तो वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बहुत-से लोग नेमिनाथ को लौटाने के लिए दौड़े, किंतु व्यर्थ। वे पास में ही स्थित गिरनार पहाड़ पर चढ़ गए और सहस्राम्र वन में भगवान ऋषभदेव की तरह सब परिधान छोड़कर दिगंबर हो आत्मध्यान में लीन हो गए और केवल ज्ञान को प्राप्त कर गिरनार[1] से ही निर्वाण लाभ किया।

---

1. महाभारत में भी लिखा है–
   युगे युगे महापुण्यं दृश्यते द्वारिका पुरी।
   अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासशशिभूषणः।।

भगवान् पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ 23वें तीर्थंकर थे। इनका जन्म आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व वाराणसी नगरी में हुआ था। यह भी राजपुत्र थे। इनकी चित्तवृति प्रारंभ से ही वैराग्य की ओर विशेष थी। माता-पिता ने कई बार इनसे विवाह का प्रस्ताव किया किंतु उन्होंने सदा हँसकर टाल दिया। एक बार ये गंगा के किनारे घूम रहे थे। वहाँ पर कुछ तापसी आग जलाकर तपस्या कर रहे थे। ये उनके पास पहुँचे और बोले, 'इन लक्कड़ों को जलाकर क्यों जीवहिंसा करते हो?' कुमार की बात सुनकर तापसी बड़े झल्लाए और बोले, 'कहाँ है जीव?' तब कुमार ने तापसी के पास से कुल्हाड़ी उठाकर ज्योंही जलती हुई लकड़ी को चीरा तो उसमें से नाग और नागिन का जलता हुआ जोड़ा निकला। कुमार ने उन्हें मरणोन्मुख जानकर उनके कान में मूलमंत्र दिया और दुःखी होकर चले गए। इस घटना से उनके हृदय को बहुत वेदना हुई। जीवन की अनित्यता ने उनके चित्त को और भी उदास कर दिया और वे राजसुख को तिलांजलि देकर प्रव्रजित हो गए। एक बार वे अहिच्छेत्र के वन में ध्यानस्थ थे। ऊपर से उनके पूर्वजन्म का वैरी कोई देव कहीं जा रहा था। इन्हें देखते ही उसका पूर्वसंचित वैर भाव भड़क उठा। वह उनके ऊपर ईंट-पत्थरों की वर्षा करने लगा। जब उससे भी उसने भगवान् के ध्यान में विघ्न पड़ता न देखा तो मूसलाधार वर्षा करने लगा। आकाश में मेघों ने भयानक रूप धारण कर लिया। उनके गर्जन-तर्जन से दिल दहलाने लगा। पृथ्वी पर चारों ओर पानी ही पानी उमड़ पड़ा। ऐसे घोर उपसर्ग के समय जो नाग और नागिन मरकर पाताल लोक में धरणेंद्र और पद्मावती हुए थे, वे अपने उपकारी के ऊपर उत्सर्ग हुआ जानकर तुरंत आए। धरणेंद्र ने सहस्त्रफण वाले सर्प का रूप धारण करके भगवान् के ऊपर अपना फण फैला दिया और इस तरह उपद्रव से उनकी रक्षा की। उसी समय पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई, उस वैरी देव ने उनके चरणों में शीश नवाकर उनसे क्षमा-याचना की। फिर करीब 70 वर्ष तक जगह-जगह विहार करके धर्मोपदेश करने के बाद 100 वर्ष की उम्र में वे सम्मेदशिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए। इन्हीं के नाम से आज सम्मेदशिखर पर्वत 'पारसनाथहिल' कहलाता है। इनकी जो मूर्तियाँ पाई जाती हैं, उनमें उक्त घटना के स्मृतिस्वरूप सिर पर सर्प का फण बना हुआ होता है। जैनेतर जनता में इनकी विशेष ख्याति है। कहीं-कहीं तो जैनों का मतलब ही पार्श्वनाथ का पूजक समझा जाता है।

रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्।।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। लगभग 600 ई०पू० बिहार प्रांत के कुंडलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के घर में उनका जन्म हुआ। उनकी माता[1] त्रिशला वैशाली नरेश राजा चेटक की पुत्री थी। महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। इस दिन भारतवर्ष में महावीर की जयंती बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है। महावीर सचमुच में महावीर थे। एक बार बचपन में ये अन्य बालकों के साथ खेल रहे थे। इतने में अचानक एक सर्प कहीं से आ गया और उनकी ओर झपटा। अन्य बालक तो डरकर भाग गए किंतु महावीर ने उसे निर्मद कर दिया। महावीर जन्म से ही विशेष ज्ञानी थे। एक बार एक मुनि उनको देखने के लिए आए और उनके देखते ही मुनि के चित्त में जो शास्त्रीय शंकाएँ थीं वे दूर हो गईं। जब महावीर बड़े हुए तो उनके विवाह का प्रश्न उपस्थित हुआ किंतु महावीर का चित्त तो किसी अन्य ओर ही लगा हुआ था। उस समय यज्ञादिक का बहुत ज़ोर था और यज्ञों में पशु बलिदान बहुतायत से होता था। बेचारे मूक पशु धर्म के नाम पर बलिदान कर दिए जाते थे और 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' की व्यवस्था दे दी जाती थी। करुणा सागर महावीर के कानों तक भी उन मूक पशुओं की चीत्कार पहुँची और राजपुत्र महावीर का हृदय उनकी रक्षा के लिए तड़प उठा। धर्म के नाम पर किए जाने वाले किसी भी कृत्य का विरोध कितना दुष्कर है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। किंतु महावीर तो महावीर थे। 30 वर्ष की आयु में उन्होंने घर छोड़कर वन का मार्ग अपना लिया और भगवान् ऋषभदेव की तरह ही प्रव्रज्या लेकर ध्यानस्थ हो गए।

महावीर के जन्म आदि का वर्णन करने वाली कुछ प्राचीन गाथाएँ[2] मिलती हैं जिनका भाव इस प्रकार है–

---

1. श्वेतांबर मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहन थी तथा महावीर का विवाह भी हुआ था।
2. सुरमहिदोच्चुदकप्पे भोगं दिव्वाणुभागमणुभूदो।
   पुप्फूत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो।।
   बाहत्तरिवासाणि य थोवविहीणाणि लद्धपरमाऊ।
   आसाढजोण्हपक्खे छठ्टीए जोणिमुवयादो।।
   कुण्डपुरपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले।
   तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए।।
   अच्छिता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे।
   तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु।।
   मणुवत्तणसुहमतुलं देवकयं सेविऊण वासाइं।
   अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसमं।।

'जो देवों के द्वारा पूजा जाता था, जिसने अच्युत कल्प नामक स्वर्ग में दिव्य भोगों को भोगा, ऐसे महावीर जिनेंद्र का जीव कुछ कम बहत्तर वर्ष की आयु पाकर, पुष्पोत्तर नामक विमान से च्युत होकर, आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन, कुंडलपुर नगर के स्वामी सिद्धार्थ क्षत्रिय के घर, नाथवंश में, सैकड़ों देवियों से सेवित त्रिशला देवी के गर्भ में आया और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुए महावीर का जन्म हुआ।'

'अट्ठाईस वर्ष सात माह और बारह दिन तक देवों के द्वारा किए गए अमानुषिक अनुपम सुख को भोगकर जो आभिनिबोधित ज्ञान से प्रतिबुद्ध हुए, ऐसे देवपूजित महावीर भगवान् ने षष्ठोपवास के साथ मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन जिन-दीक्षा ली।'

'बारह वर्ष पाँच माह और पंद्रह दिन पर्यंत छद्मस्थ अवस्था को बिताकर (तपस्या करके) रत्नत्रय से शुद्ध महावीर भगवान् ने जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के किनारे सिलापट्ट के ऊपर षष्ठोपवास के साथ आतापन योग करते हुए अपराह्न काल में जब छाया पादप्रमाण थी, वैशाख शुक्ला दशमी के दिन क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया और चार घातिया कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान प्राप्त किया।

केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भगवान् महावीर ने 66 दिन तक मौन पूर्वक विहार किया, क्योंकि तब तक उन्हें कोई गणधर गण का–संघ का धारक, जो कि भगवान् के उपदेशों को स्मृति में रखकर उनका संकलन कर सकता, नहीं मिलता था। विहार करते-करते महावीर मगध देश की राजधानी राजगृही में पधारे और उसके बाहर विपुलाचल पर्वत पर ठहरे। उस समय राजगृही में राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ राज्य करते थे।

वहीं पर आसाढ़ शुक्ला पूर्णिमा जिसे गुरुपूर्णिमा भी कहते हैं, के दिन[1] इंद्रभूति नाम का गौतमगोत्रीय वेद-वेदांग में पारंगत एक शीलवान ब्राह्मण विद्वान् जीव-अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिए महावीर के पास आया और संदेह दूर होते ही

आभिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुलाए।
दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो।।
गमइ छदुमत्थत्तं वारसवासाणि पंचमासे य।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरदणसुद्धो महावीरो।।
उजूकूलणदीतीरे जंभियगामे बहि सिलाबट्टे।
छट्ठेणादावेंते अवरण्हे पादछायाए।।
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवयसेढिमारूढो।
हंतूण धाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो।।

1. गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंगवि।
णामेण इंदभूदिति सीलवं बह्मणुत्तमो।।–धवला 1 खं०, पृ०65

उसने महावीर के पादमूल में जिन-दीक्षा ले ली और उनका प्रधान गणधर बन गया। उसके बाद ही प्रातःकाल में[1] भगवान् महावीर की प्रथम देशना हुई। जैसा कि प्राचीन गाथाओं में लिखा है–

पंचशैलपुर[2] में (पाँच पर्वतों में शोभायमान होने के कारण राजगृही को पंचशैलपुर या पंचपहाड़ी कहते हैं) रमणीक, नाना प्रकार के वृक्षों से व्याप्त और देव-दानव से वंदित विपुल नामक पर्वत पर महावीर ने भव्य जीवों को उपदेश दिया।

'वर्ष के[3] प्रथम मास' अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में प्रतिपदा के दिन, प्रातःकाल के समय अभिजित नक्षत्र के उदय रहते हुए धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।'

'इस प्रकार[4] जिन श्रेष्ठ महावीर ने लगभग 42 वर्ष की अवस्था में राग, द्वेष और भय से रहित होकर अपने धर्म का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर ने तीस वर्ष तक अनेक देश-देशांतरों में विहार करके धर्मोपदेश दिया। जहाँ वह पहुँचते थे वहीं उनकी उपदेश सभा लग जाती थी और उसमें हिंसक पशु तक पहुँचते थे और जातिगत क्रूरता को छोड़कर शांति से भगवान् का उपदेश

---

1. पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
   णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे।।
   महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स।– धवला० 1 खं०, पृ० 61
2. श्वेतांबर साहित्य में लिखा है कि महावीर के प्रथम समवशरण में केवल देवता ही उपस्थित थे, कोई मनुष्य नहीं था इससे धर्म तीर्थ का प्रवर्तन-महावीर का प्रथमोपदेश वहाँ नहीं हो सका। महावीर को केवल ज्ञान की प्राप्ति दिन के चौथे पहर में हुई थी। उन्होंने जब यह देखा कि उस मध्यमा नगरी (वर्तमान पावापुरी) में सौमिलार्य ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ विषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देशांतरों के बड़े-बड़े विद्वान् आमंत्रित होकर आए हुए हैं तो उन्हें यह प्रसंग अपूर्व लाभ का जान पड़ा और उन्होंने यह सोचकर कि यज्ञ में आए हुए ब्राह्मण प्रतिबोध को प्राप्त होंगे और मेरे धर्म तीर्थ के आधार स्तंभ बनेंगे, संध्या समय ही विहार कर दिया और वे रातों-रात 12 योजन चलकर मध्यमा के महासेन नामक उद्यान में पहुँचे, जहाँ प्रातःकाल से ही समवसरण की रचना हो गई। इस तरह वैसाख सुदी 11 को दूसरा समवसरण रचा गया उसमें महावीर भगवान् ने एक पहर तक बिना किसी गणधर की उपस्थिति के ही धर्मोपदेश दिया। इसकी खबर पाकर इंद्रभूति आदि अपने शिष्यों के साथ समवसरण में पहुँचे और शंका समाधान करके शिष्य बन गए। बाद में वीर प्रभु ने उन्हें गणधर पद पर नियुक्त कर दिया। इस द्वितीय समवसरण के बाद महावीर ने राजगृही की ओर प्रस्थान किया, जहाँ पहुँचते ही उनका तृतीय समवसरण रचा गया और उन्होंने वर्षाकाल वहीं बिताया।
   –श्रमण भगवान् महावीर, पृ० 48-73
3. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
   पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि।।– धवला० 1 खं०, पृ० 63
4. णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिंणुत्तमो।
   रागदोसभयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ।।– जयधवला 1 खं०, पृ० 73

सुनते थे। इस तरह भगवान् काशी, कोशल, पांचाल, कलिंग कुरुजांगल कंबोज, वाल्हीक, सिंधु, गांधार आदि देशों में विहार करते हुए अंत में पावा[1] नगरी (बिहार) में पधारे और वहाँ से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि में अर्थात् अमावस्या के प्रातःकाल में सूर्योदय से पहले मुक्तिलाभ किया। जैसा कि लिखा है–

[2] 'उनतीस वर्ष, पाँच मास और बीस दिन तक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों और बारह गणों अर्थात् सभाओं के साथ विहार करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने पावानगर में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन स्वाति नक्षत्र के रहते हुए, रात्रि के समय शेष अघाति कर्मरूपी रज को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त किया।

वर्तमान में जो वीर निर्वाण संवत् जैनों में प्रचलित हैं, उसके अनुसार 527 ई० पू० में वीर का निर्वाण हुआ माना जाता है। कुछ प्राचीन जैन ग्रंथों में शकराजा से 605 वर्ष 5 मास पहले वीर के निर्वाण होने का उल्लेख मिलता है।[3] उससे भी इसी काल की पुष्टि होती है।

4. भगवान् महावीर के पश्चात्

जैन धर्म की स्थिति

भगवान् महावीर के संबंध में जैन और बौद्ध साहित्य से जो कुछ जानकारी प्राप्त होती है, उससे यह स्पष्ट पता चलता है कि महावीर एक महापुरुष थे और उस समय के पुरुषों पर उनका मानसिक और आध्यात्मिक प्रभाव बड़ा गहरा था। उनके प्रभाव दीर्घ दृष्टि और निस्पृहता का ही यह परिणाम है जो आज भी जैन धर्म अपने जन्मस्थान भारत देश में बना हुआ है जबकि बौद्ध धर्म शताब्दियों पूर्व यहाँ से लुप्त-सा हो गया था।

---

1. पूज्यपाद रचित संस्कृत निर्वाण भक्ति में लिखा है–
   पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
   श्री वर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रतिधूतपात्मा।।24।।
   अर्थ– पावापुर के बाहर स्थित और कमलों से व्याप्त सरोवर के बीच में, उन्नत भूमिदेश पर कर्मों का नाश करके भगवान् महावीर ने निर्वाण लाभ किया।
2. वासाणूणत्तीस पंच य मासे य बीस दिवसे य।
   चउवि अणगरेहि य वारहदिणेहि (गणेहि) विहरित्ता।।
   पच्चा पावाणयरे कत्तियमासस्स किण्हचोद्दसिए।
   सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ।।3।।– जयधवला खं० 1, पृ० 81
3. 'णव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
   पणामासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा।।1499।।–त्रि० प्र०

भगवान् महावीर का अनेक राजघरानों पर भी गहरा प्रभाव था। भगवान् महावीर ज्ञातृवंशी थे और उनकी माता लिच्छवि गणतंत्र के प्रधान चेटक की पुत्री थी। ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में पूर्वीय भारत में लिच्छवि राजवंश महान और शक्तिशाली था। डॉ० याकोवी ने लिखा है कि जब चंपा ने राजा कुणिक ने एक बड़ी सेना के साथ राजा चेटक पर आक्रमण करने की तैयारी की तो चेटक ने काशी और कौशल के अट्ठारह राजाओं को तथा लिच्छवि और मल्लों को बुलाया और उनसे पूछा कि आप लोक कुणिक की माँग पूरा करना चाहते हैं अथवा उससे लड़ना चाहते हैं? महावीर का निर्वाण होने पर उनकी स्मृति में उक्त अट्ठारह राजाओं ने मिलकर एक महोत्सव भी मनाया था।

इससे स्पष्ट है कि उस समय के प्रमुख राजवंश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महावीर से प्रभावित थे।

भगवान् महावीर के ग्यारह प्रधान शिष्य थे, जिनमें मुख्य गौतम गणधर थे। भगवान् महावीर के पश्चात् उनके शिष्यों में से तीन केवल ज्ञानी हुए– गौतम गणधर, सुधर्मा स्वामी और जंबू स्वामी तथा इनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए– विष्णु, नंदि मित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मगध में दुर्भिक्ष पड़ने पर बड़े जैन संघ के साथ दक्षिण देश को चले गए, जिसके कारण तमिल और कर्नाटक प्रदेश में जैन धर्म का खूब प्रसार हुआ।

अतः भगवान् महावीर के पश्चात् जैन धर्म की स्थिति का परिचय कराने के लिए उसे दो भागों में बाँट देना अनुचित न होगा। एक उत्तर भारत में जैन धर्म की स्थिति और दूसरा दक्षिण भारत में जैन धर्म की स्थिति।

उत्तर भारत में जैन धर्म

उत्तर भारत के विभिन्न प्रांतों में जैन धर्म की स्थिति तथा राजघरानों पर उनके प्रभाव का परिचय कराने से पूर्व पूरी स्थिति का विहंगावलोकन करना अनुचित न होगा।

विभिन्न बौद्ध इतिहासज्ञों के कथन से पता चलता है कि बुद्ध निर्वाण के पश्चात् प्रथम शती में उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में जैन लोग प्रमुख थे। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ईसवी सन् की सातवीं शती में भारत आया था। वह अपने यात्रा विवरण में नालंदा के विहार का वर्णन करते हुए लिखता है कि निर्ग्रंथ (जैन) साधु ने जो ज्योतिष विद्या का जानकार था, नए भवन की सफलता की भविष्यवाणी की थी। इससे प्रकट है कि उस समय मगध राज्य में जैन धर्म फैला हुआ था। जैन धर्म की उन्नति का सूचक दूसरा मुख्य प्रमाण अशोक की प्रसिद्ध घोषणा है, जिसमें निर्ग्रंथों को दान देने की आज्ञा है जो बतलाती है कि अशोक के समय में जैन जो पहले निर्ग्रंथ के नाम से

विख्यात थे, योग्य माने जाते थे तथा इतने प्रभावशाली थे कि अशोक की राज्य-घोषणा में उनका मुख्य रूप से निर्देश करना आवश्यक समझा गया था।

उत्तर भारत में जैन धर्म की उन्नति की दृष्टि से कलिंग का नाम उल्लेखनीय है। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी का प्रसिद्ध खारवेल शिलालेख कलिंग में जैन धर्म की प्रगति को प्रमाणित करता है। श्री रंगास्वामी आयंगर के मतानुसार बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रति अशोक ने जो उत्साह दिखलाया उसके फलस्वरूप जैन धर्म का केंद्र मगध से उठकर कलिंग चला गया जहाँ ह्वेनत्सांग के समय तक जैन धर्म फैला हुआ था।

खारवेल शिलालेख की तरह ही प्रसिद्ध मथुरा के शिलालेख प्रकट करते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी से बहुत पहले से मथुरा जैन धर्म का एक मुख्य केंद्र था।

इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग पाँच शताब्दियों तक जैन धर्म उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में बड़ी तेजी के साथ उन्नति करता रहा। किंतु सातवीं शताब्दी के पश्चात् उसका पतन प्रारंभ हो गया।

आगे उत्तर भारत के प्रत्येक प्रांत में भगवान् महावीर के बाद की जैन धर्म की स्थिति का परिचय कराते हुए ऐसे राजवंशों और प्रमुख राजाओं का परिचय कराया जाता है, जिन्होंने जैन धर्म को अपनाया था या जिनके साहाय्य से जैन धर्म फूला और फला। उससे पहले उत्तर भारत के प्रारंभिक इतिहास का विहंगावलोकन कराना अनुचित नहीं होगा।

भगवान् महावीर के समय में मगध के सिंहासन पर शिशुनागवंशी राजा बिंबसार उपनाम श्रेणिक विराजमान थे। उनका उत्तराधिकारी उनका पुत्र अजातशत्रु (कुणिक) हुआ। अजातशत्रु ने अपने नाना चेटक के राज्य पर आक्रमण करके वैशाली तथा लिच्छवि देशों को मगध के साम्राज्यों में मिला लिया और राजगृही के स्थान पर वैशाली को राजधानी बनाया। अजातशत्रु के पुत्र उदयन ने पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बनाया। इस वंश के राजच्युत होने पर नंदवंश का राज्य हुआ और चंद्रगुप्त मौर्य ने नंदों का सिंहासन छीन लिया।

चंद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिंदुसार गद्दी पर बैठा और बिंदुसार के बाद उसका पुत्र अशोक पदासीन हुआ। अशोक के बाद उसके चार उत्तराधिकारी और हुए। अंतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्पमित्र ने मारकर सिंहासन पर कब्ज़ा कर लिया और इस तरह शुंगवंश का राज्य हुआ।

अभी पुष्पमित्र मगध के सिंहासन पर जम भी न पाया था कि उसे दो प्रबल शत्रुओं का सामना करना पड़ा– उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रांत से मनींद्र ने उसके राज्य

पर आक्रमण कर दिया और दक्षिण से कलिंगराज खारवेल ने। तीसरी पीढ़ी के बाद शुंगवंश भी समाप्त हो गया। उसके बाद आंध्रों का राज्य हुआ जो दक्षिणी थे। ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारंभ में आंध्रों के एक अधिकारी ने ही जिसका नाम या उपाधि गुप्त थी, गुप्तवंश की नींव डाली। अस्तु, अब प्रकृत विषय पर आइए।

1. बिहार में जैन धर्म

बिहार तो भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ-साथ कार्यभूमि भी रहा। वहाँ के राजघरानों से महावीर भगवान् का कौटुंबिक संबंध भी रहा। फलतः उनके समय में और उनके बाद भी वहाँ जैन धर्म का अच्छा प्रसार हुआ और कई राजाओं और राजघरानों ने उसे अपनाया, जिनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है–

राजा चेटक– जैन साहित्य में वैशाली के राजा चेटक की बड़ी ख्याति पाई जाती है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो यह राजा भगवान् महावीर का महान उपासक था, दूसरे भगवान् महावीर की माता देवी त्रिशला राजा चेटक की पुत्री थी। राजा चेटक की आठ कन्याएँ थीं और उस समय के प्रमुख राजघरानों में उनका विवाह हुआ था। सिंधुसौवीर देश का राजा उदयन, अवंती नरेश प्रद्योत, कौशांबी का राजा शतानीक, चंपा का राजा श्रेणिक (बिंबसार) ये सब राजा चेटक के जामाता थे। जैन साहित्य में कुणिक और बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध मगध सम्राट तथा जैन, बौद्ध और ब्राह्मण संप्रदाय के कथा साहित्य में प्रसिद्ध वत्सराज उदयन, ये दोनों चेटक राजा के सगे दौहित्र थे। राजा चेटक भारत के तत्कालीन गणसत्ताक राज्यों में से एक प्रधान राज्य के नायक थे। वे जैन श्रावक थे, उन्होंने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि वे जैन के सिवा किसी दूसरे से अपनी कन्याओं का विवाह नहीं करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि उक्त सब राजघराने जैन धर्म को पालते थे। राजा उदयन को तो जैन साहित्य में स्पष्ट रूप से जैन श्रावक बतलाया है। उदयन की रानी ने अपने महल में एक चैत्यालय बनवाया था और उसमें प्रतिदिन जिन भगवान् की पूजा किया करती थी। पहले राजा उदयन तापसधर्मियों का भक्त था फिर धीरे-धीरे जिन भगवान् के ऊपर श्रद्धा करने लगा था।

स्व० डॉ० याकोबी लिखते हैं कि चेटक जैन धर्म का महान आश्रयदाता था। उसके कारण वैशाली जैन धर्म का एक संरक्षण स्थान बना हुआ था। इसी से बौद्धों ने उसे पाखंडियों का मठ बतलाया है।

राजा श्रेणिक (ई०पू० 601-552)– भारत के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध मगधाधिपति राजा बिंबसार जैन साहित्य में श्रेणिक के नाम से अति प्रसिद्ध हैं। यह

राजा पहले बौद्ध भगवान् का अनुयायी था। एक बार किसी चित्रकार ने उसे एक राजकन्या का चित्र भेंट किया। राजा चित्र देखकर मोहित हो गया। चित्रकार से उसने कन्या के पिता का नाम पूछा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह वैशाली के राजा चेटक की सबसे छोटी पुत्री चेलना है। श्रेणिक ने राजा चेटक से उसे माँगा किंतु चेटक ने यह कहकर अपनी कन्या देने से इंकार कर दिया कि राजा श्रेणिक विधर्मी है और एक विधर्मी को वह अपनी कन्या नहीं दे सकता। तब श्रेणिक के बड़े पुत्र अभयकुमार ने कौशलपूर्वक चेलना का हरण करके उसे अपने पिता को सौंप दिया। दोनों प्रेमपूर्वक रहने लगे। धीरे-धीरे चेलना के प्रयत्न से राजा श्रेणिक जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और भगवान् महावीर का अनुयायी हो गया। वह महावीर की उपदेश-सभा का मुख्य श्रोता था। जैन शास्त्रों के प्रारंभ में इस बात का उल्लेख रहता है कि राजा श्रेणिक के पूछने पर भगवान् ने ऐसा कहा।

श्रेणिक के चेलना से कुणिक (अजातशत्रु) नाम का पुत्र हुआ। जब कुणिक मगध के सिंहासन पर बैठा तो उसने अपने पिता श्रेणिक को कैद करके एक पिंजरे में बंद कर दिया। एक दिन कुणिक अपने पुत्र को प्यार कर रहा था। उसकी माता चेलना उसके पास बैठी हुई थी। उसने अपनी माता से कहा, 'माँ! जैसा मैं अपने पुत्र को प्यार करता हूँ, क्या कोई अन्य भी अपने पुत्र को वैसा ही प्यार कर सकता है।' यह सुनकर चेलना की आँखों में आँसू आ गए। कुणिक ने इसका कारण पूछा तो चेलना बोली– पुत्र! तुम्हारे पिता तुम्हें बहुत प्यार करते थे। एक बार जब तुम छोटे थे तो तुम्हारे हाथ की उँगली में बहुत पीड़ा थी। तुम्हें रात्रि को नींद नहीं आती थी। तब तुम्हारे पिता तुम्हारी रक्त और पीव से भरी हुई उँगली को अपने मुँह में रखकर सोते थे क्योंकि इससे तुम्हें शांति मिलती थी। यह सुनते ही कुणिक को अपने कार्य पर खेद हुआ और वह पिंजरा तोड़कर अपने पिता को बाहर निकालने के लिए कुल्हाड़ा लेकर दौड़ा। राजा श्रेणिक ने जो इस तरह आते हुए कुणिक को देखा तो समझा कि यह मुझे मारने आ रहा है। अतः कुणिक के पहुँचने से पहले ही वह पिंजरे में सिर मारकर मर गया। आज से 82 हजार वर्ष बाद जब पुनः तीर्थंकर होने प्रारंभ होंगे तो राजा श्रेणिक जैन धर्म का प्रथम तीर्थंकर होगा।

अजातशत्रु (552-518 ई०पू०)– यद्यपि बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु के बौद्ध धर्म अंगीकार करने का उल्लेख मिलता है, तथापि खोज करने से प्रतीत होता है कि अजातशत्रु जैन धर्म की तरफ अधिक आकर्षित था।

स्व० डॉ० याकोबी जैनसूत्रों की प्रस्तावना में लिखते हैं–

अजातशत्रु ने अपने राज्य के प्रारंभ काल में बौद्धों की तरफ कोई सहानुभूति नहीं दिखाई थी। किंतु बुद्ध के निर्वाण से 8 वर्ष पहले वह बुद्ध का आश्रयदाता बना था।

किंतु उस समय वह सद्भावनापूर्वक बौद्धधर्मानुयायी बना था, यह तो हम नहीं मान सकते। कारण यह है कि जो मनुष्य खुली रीति से अपने पिता का खूनी था तथा अपने नाना के साथ जिसने लड़ाई लड़ी थी वह मनुष्य अध्यात्म ज्ञान के लिए बहुत उत्सुक हो यह असंभव है। उसके धर्म परिवर्तन करने का क्या उद्देश्य था इसका हम सरलता से अनुमान कर सकते हैं। बात यह है कि उसने अपने नाना वैशाली के राजा के साथ युद्ध किया था। यह राजा महावीर का मामा (नाना) था और जैनों का संरक्षक था। इसलिए इसके ऊपर चढ़ाई करने के कारण अजातशत्रु जैनों की सहानुभूति खो बैठा। इससे उसने जैनों के प्रतिस्पर्धी बौद्धों के साथ मिलने का निश्चय किया था।

आगे डॉ० याकोबी लिखते हैं–

अजातशत्रु एक तो वैशाली को जीतने में सफल हुआ था, दूसरे उसने नंदों और मौर्यों के साम्राज्य का पाया खड़ा किया था। इस प्रकार मगध साम्राज्य की सीमा बढ़ने से जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के लिए नया क्षेत्र खुल गया था। इससे वे दोनों तुरंत उस क्षेत्र में फैल गए। जब दूसरे संप्रदाय स्थानीय और स्थायी महत्व प्राप्त करके ही रह गए तब ये दोनों धर्म इतनी बड़ी सफलता प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। इसका मुख्य कारण अन्य कुछ भी नहीं, केवल यह मंगलकारी राजनैतिक संयोग था।

हमारे मत से जैनों और बौद्धों की सफलता का कारण केवल राजनैतिक संयोग नहीं था, किंतु फिर भी वह एक प्रबल कारण अवश्य था। अस्तु।

नंदवंश (ई०पू० 305)– उदयन के बाद मगध के सिंहासन पर नंद वंश का अधिकार हुआ। महाराजा खारवेल के शिलालेख से पता चलता है कि महाराज नंद ने अपने राज्यकाल में कलिंग देश पर चढ़ाई की थी और वह कलिंग के राजघराने से श्री ऋषभदेव की प्रतिमा उठाकर ले गए थे। इस घटना के 300 वर्ष बाद कलिंगाधिपति खारवेल ने जब मगध पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्र ने वह प्रतिमा खारवेल को लौटाकर उसे प्रसन्न कर दिया। एक पूज्य वस्तु का इस प्रकार 300 वर्ष तक एक राजघराने में सुरक्षित रहना इस बात का साक्षी है कि नंद वंश में उसकी पूजा होती थी। यदि ऐसा न होता और नंद वंश जैन धर्म का विरोधी होता तो उक्त मूर्ति इस प्रकार सुरक्षित न रहती। मुद्राराक्षस नाटक में भी यह उल्लेख है कि चाणक्य ने नंद राजा के मंत्री राक्षस को विश्वास देकर फाँसने के लिए अपने एक चर जीवसिद्धि को क्षपणक बनाकर भेजा था और क्षपणक का अर्थ कोषग्रंथों में नग्न जैन साधु पाया जाता है। अतः नंद का मंत्री राक्षस जैन था और राजा नंद भी संभवतः जैन था।

मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त (ई०पू० 320)– मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त जैन थे। इनके समय में मगध में 12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय ये अपने पुत्र को राज्य सौंपकर अपने धर्मगुरु जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चले गए थे और तपस्या करते हुए बारह वर्ष पश्चात् चंद्रगिरि पर्वत पर मृत्यु को प्राप्त हुए थे। इस घटना के पक्ष में अनेक प्रमाण पाए जाते हैं। अति प्राचीन जैन ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में लिखा है–

[1] 'मुकुटधारी राजाओं में अंतिम चंद्रगुप्त ने जिन-दीक्षा धारण की। इसके पश्चात् किसी मुकुटधारी राजा ने जिन-दीक्षा नहीं ली।'

पहले इतिहासज्ञ इस कथन की सत्यता में विश्वास करने को तैयार नहीं थे किंतु जब मैसूर राज्य में श्रवणबेलगोला नामक स्थान के चंद्रगिरि पर्वत पर के लेख प्रकाश में आए तो इतिहासज्ञों को उसे स्वीकार करना पड़ा। लेविस राइस ने सर्वप्रथम इन शिलालेखों की खोज की और उनका अनुवाद करके विद्वानों के लिए उन्हें सुलभ बना दिया। उनके इस मत का कि चंद्रगुप्त जैन था और वह दक्षिण आया था, मि० थॉमस जैसे प्रमुख विद्वानों ने जोर से समर्थन किया। 'जैन धर्म अथवा अशोक का पूर्व धर्म' शीर्षक अपने लेख में वह कहते हैं'[2]– 'चंद्रगुप्त जैन था' इस बात को लेखकों ने स्वाभाविक घटना के रूप में लिया है और उसे इस रूप में माना है जैसे वह एक ऐसी सत्य घटना है, जिसके लिए न तो किसी प्रमाण की आवश्यकता है और न प्रदर्शन की। इस घटना के लेख्य प्रमाण अपेक्षाकृत प्राचीन हैं और स्पष्ट रूप से संदेह रहित हैं। क्योंकि उनकी सूची में अशोक का नाम नहीं है। अशोक अपने दादा चंद्रगुप्त से बहुत अधिक शक्तिशाली था और जैन लोग उसके संबंध में सयुक्तिक ढंग से यह दावा कर सकते थे कि वह जैन धर्म का प्रबल समर्थक था। कहीं अशोक ने अपना धर्म परिवर्तन तो नहीं कर लिया था। मेगस्थनीज की साक्षी भी यह सूचित करती है कि चंद्रगुप्त ने श्रमणों की धार्मिक शिक्षाओं को स्वीकार किया था और ब्राह्मणों के सिद्धांतों को वह नहीं मानता था।'[3] इस प्रकार साधारणतया विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि चंद्रगुप्त जैन था।

चंद्रगुप्त ने राज्य त्याग दिया था और वह श्रवणबेलगोला में जैन साधु होकर मरा, इस बात का समर्थन स्व० डॉ० वी० ए० स्मिथ ने अपने 'भारत का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रंथ के प्रथम संस्करण में किया था। चंद्रगुप्त की मृत्यु का उल्लेख

1. पृ० 146
2. जर्नल ऑफ दि रायल सिरीज, लेख 8
3. स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० 22

करते हुए मि० स्मिथ कहते हैं– चंद्रगुप्त छोटी अवस्था में राजसिंहासन पर बैठ गया था और चूँकि उसने केवल चौबीस वर्ष राज्य किया। अतः 50 वर्ष की अवस्था से पूर्व अवश्य ही उसका मरण हो जाना चाहिए। इस प्रकार उसकी मृत्यु के समय के विषय में अनिश्चितता का वातावरण है। इतिहासज्ञ हमें यह नहीं बतलाते कि वह कैसे मरा। यदि वह युद्धस्थल में मरा होता या अपने जीवन के सुदिनों में मरा होता तो इस घटना का उल्लेख होता। लेविस राइस के द्वारा खोज निकाले गए श्रवणबेलगोला के शिलालेखों को अविश्वसनीय मानना जैनों की समस्त परंपरा और उल्लेखों को अविश्वसनीय मानना है। एक इतिहासज्ञ के लिए इतनी दूर जाना बहुत अधिक आपत्तिजनक है। ऐसी स्थिति में लेविस राईस के साथ यदि हम यह विश्वास करें कि चंद्रगुप्त जैन व्रतों को धारण करके महान भद्रबाहु के साथ चंद्रगिरि पर्वत पर चला गया था– तो क्या हम गलती पर हैं?

अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में स्मिथ ने अपने उक्त मत में परिवर्तन कर दिया था किंतु तीसरे संस्करण में उन्होंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए लिखा–

'मुझे अब विश्वास हो चला है कि जैनों का यह कथन प्रायः मुख्य-मुख्य बातों में यथार्थ है और चंद्रगुप्त सचमुच राज्य त्यागकर जैन मुनि हुए थे।'

स्व० के० पी० जायसवाल ने लिखा है[1] –

'कोई कारण नहीं है कि हम जैनियों के इस कथन को कि चंद्रगुप्त अपने राज्य के अंतिम दिनों में जैन हो गया था और पीछे राज्य छोड़कर जिन-दीक्षा ले मुनिवृत्ति से मरण को प्राप्त हुआ, न माने। मैं पहला ही व्यक्ति यह मानने वाला नहीं हूँ। मि० राईस ने जिन्होंने श्रवणबेलगोला के शिलालेखों का अध्ययन किया है, पूर्ण रूप से अपनी सम्मति इसी पक्ष में दी और मि० वी० स्मिथ भी अंत में इसी मत की ओर झुके हैं।'

सम्राट अशोक (ई०पू० 277)– सम्राट अशोक चंद्रगुप्त मौर्य का पौत्र था। जैन ग्रंथों में इसके जैन होने के प्रमाण मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत[2] है कि अशोक पहले जैन धर्म का उपासक था, पीछे बौद्ध हो गया। इसमें एक प्रमाण यह दिया जाता है कि अशोक के उन लेखों में जिनमें उसके बौद्ध होने के कोई स्पष्ट संकेत नहीं पाए जाते, बल्कि जैन सिद्धांतों के ही भावों का आधिक्य है। राजा का उपनाम 'देवानांपिय पियदसी' पाया जाता है। 'देवानांपिय' विशेषतः जैन ग्रंथों में ही राजा की उपाधि पाई जाती है। पर अशोक के 22वें वर्ष की भावरा की प्रशस्ति में, जिसमें उसके बौद्ध होने

1. जर्नल ऑफ दि बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द 3
2. इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द 5 में

के स्पष्ट प्रमाण हैं; उसकी पदवी केवल 'पियदसि' पाई जाती है, 'देवानांपिय' नहीं। इसी बीच में वह जैन से बौद्ध हुआ होगा। विद्वानों का यह भी मत[1] है कि अशोक ने अहिंसा के विषय में जो नियम प्रचारित किए थे वे बौद्ध की अपेक्षा जैनों से अधिक मिलते हैं; जैसे– बहुत-से पक्षियों और चौपायों का, जो कि न भोग में आते हैं न खाए जाते हैं, मारना वर्जित करना, केवल अनर्थ और विहिंसा के लिए जंगलों को जलाने का निषेध करना और कुछ खास तिथियों और पर्वों पर जीवहिंसा को बंद कर देना आदि। प्रो० कर्नल ने, जो बौद्ध शास्त्रों के बहुत बड़े अधिकारी विद्वान् माने जाते रहे हैं, यह स्वीकार किया है कि अशोक की राज्यनीति में बौद्ध प्रभाव खोजने पर भी नहीं मिलता। उसकी घोषणाएँ, जो मितव्ययी जीवन से संबद्ध हैं– बौद्धों की अपेक्षा जैन विचारों से अत्यधिक मेल खाती हैं।

सम्राट संप्रति (ई०पू० 220)– 'संप्रति[2] अशोक का पौत्र था। इसे जैनाचार्य सुहस्ती ने उज्जैन में जैन धर्म की दीक्षा दी थी। उसके बाद संप्रति ने जैन धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया। उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशों में भी संप्रति ने जैन धर्म के प्रचारक भेजे और वहाँ जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किए। अशोक की तरह उसने भी अनेक इमारतें बनवाईं। राजपूताना की कई जैन रचनाएँ उसी के समय की कही जाती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जो शिलालेख अब अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, संभवतः वे संप्रति ने लिखवाए थे।'

इस प्रकार महावीर स्वामी से लेकर चार सौ वर्ष तक जैन धर्मी राजा श्रेणिक और महाराज चंद्रगुप्त मौर्य तथा उनकी संतानों के समय में भारत और उसके बाहर भी जैन धर्म का खूब प्रचार रहा। इसके बाद मौर्य साम्राज्य का ह्रास होना प्रारंभ हुआ और उसके अंतिम सम्राट बृहद्रथ को उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर राजदंड अपने हाथ में ले लिया, इसने श्रमणों पर बड़ा अत्याचार किया। उनके विहार और स्तूप नष्ट कर दिए।

---

1. अरली फेथ ऑफ अशोक।
2. देखो– भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० 616
   जिनप्रभ सूरि ने पाटलिपुत्र कल्पग्रंथ में एक स्थान पर लिखा है–
   'कुणालसूनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतो अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहारः सम्प्रति महाराजाऽसौ अभवत्।' इनका भाव यह है कि कुणाल का पुत्र महाराज संप्रति हुआ, जो भारत के तीन खंडों का स्वामी था, अर्हन्त भगवान् का भक्त जैन था और जिसने अनार्य देशों में भी श्रमणों-जैन मुनियों का विहार कराया था।

2. उड़ीसा में जैन धर्म

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल (ई०पू० 174)– कलिंग में बहुत प्राचीन काल से जैन धर्म की प्रवृत्ति थी। ई०पू० 423 के लगभग मगध सम्राट नंद कलिंग को जीतकर वहाँ से प्रथम जिन की मूर्ति मगध ले गया था। सम्राट संप्रति के समय वहाँ चेदि वंश का पुनः राज्य हुआ, इसी वंश का प्रसिद्ध सम्राट खारवेल था। कलिंग चक्रवर्ती महाराजा खारवेल को उस युग की राजनीति में सबसे अधिक महत्व का व्यक्ति माना[1] जाता है। इनके हाथी गुफा में पाए गए शिलालेख का उल्लेख पहले किया गया है। उस लेख के अनुसार खारवेल जैन था। बल्कि उड़ीसा का सारा राष्ट्र उस समय जैन ही था। स्व० के० पी० जायसवाल लिखते हैं[2] –

'जैन धर्म का प्रवेश उड़ीसा में शिशुनागवंशी राजा नंदवर्धन के समय में हो गया था। खारवेल के समय से पूर्व भी उदयगिरि पर्वत पर अर्हंतों के मंदिर थे, क्योंकि उनका उल्लेख खारवेल के लेख में आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेल के समय में जैन धर्म कई शताब्दियों तक उड़ीसा का राष्ट्रीय धर्म रह चुका था।'

महाराज खारवेल ने 15 वर्ष की अवस्था में युवराज पद प्राप्त किया और 24 वर्ष की अवस्था में इनका महाराज्याभिषेक हुआ। उसके बाद दूसरे ही वर्ष उसने सातकर्णि की परवाह न करके पश्चिम देश को अपनी सेना भेजी और उस सेना ने मूषिक नगर को परास्त किया। चौथे वर्ष खारवेल ने फिर पश्चिम पर चढ़ाई की और रठिकों के भोजक अपने मुकुट और छत्र-शृंगार छोड़कर उसके चरणों पर झुकने को बाध्य हुए। **वाख्शी** का यवन राजा एक भारी सेना ले मध्य प्रदेश पर चढ़ आया। खारवेल ने आगे बढ़कर दिमित को निकाल भगाया। मध्य प्रदेश से यवनों को पूरी तरह खदेड़ने का श्रेय खारवेल को ही है। बारहवें वर्ष में उसने पंजाब पर चढ़ाई की। सातकर्णी के राज्य पर दो चढ़ाइयाँ करने और यवनराज दमिति को मध्यप्रदेश से निकाल भगाने के बाद खारवेल अपने समय के सब भारतीय राजाओं में प्रमुख माना जाने लगा। अभी तक उसने अपने देश कलिंग के पश्चिमी पड़ोसी राज्य मूषिक और महाराष्ट्र पर तथा उत्तर पड़ोसी राज्य मगध पर चढ़ाइयाँ की थीं। अब उसने उत्तर और दक्षिण में दूर-दूर तक दिग्विजय करना शुरू किया। उसकी शक्ति भारत के अंतिम छोरों तक पहुँच गई। बारहवें वर्ष उसने उत्तरापथ के राजाओं को त्रस्त किया। मगध पर चढ़ाई करके मगध के राजा पुष्यमित्र को पैरों में गिरवाया। राजा नंद द्वारा ले जाई गई

1. देखो– भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० 715
2. ज० वि० उ० रि० सो जिल्द 3, पृ० 448

हुई कलिंग जिन मूर्ति को स्थापित किया। इस महाविजय के बाद, जबकि शुंग और सातवाहन तथा उत्तरापथ के यवन सब दब गए, खारवेल ने जैन धर्म का महाअनुष्ठान किया। उन्होंने भारतवर्ष भर के जैन यतियों, जैन तपस्वियों, जैन ऋषियों और पंडितों को बुलाकर एक धर्म-सम्मेलन किया। जैन संघ ने खारवेल को 'महाविजयी' की पदवी के साथ 'खेमराजा', 'भिखुराजा' और 'धर्मराजा' की पदवी दी। इसके समय में जैन धर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ।

इस शिलालेख में सं० 165 दिया है, जिसे स्व० जायसवाल ने मौर्य संवत् सिद्ध किया है, जो कि महाराज चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण काल (ई०पू० 321) से चला होगा। एक स्वतंत्र राजा ने दूसरे राजा के चलाए हुए संवत् का उपयोग क्यों किया? इसके उत्तर में जायसवाल जी का कहना है कि चंद्रगुप्त मौर्य का जैन होना जैन ग्रंथों व शिलालेखों से सिद्ध है। अतः एक जैन राजा के चलाए हुए संवत् का दूसरा जैन राजा उपयोग करे तो इसमें आश्चर्य क्या है?

इस प्रकार बिहार व उड़ीसा में महावीर के पश्चात् भी जैन धर्म का खूब उत्कर्ष हुआ। ईसवी 308 में पाटलिपुत्र नगर के पास एक गाँव के छोटे-से राजा चंद्रगुप्त को लिच्छवि वंश की कन्या कुमारदेवी ब्याही थी। यह लिच्छवि वंश वैशाली के राजा उसी चेटक का वंश है जिनकी कन्याओं से महावीर स्वामी के पिता राजा सिद्धार्थ और मगध के राजा श्रेणिक वगैरह का विवाह हुआ था। चंद्रगुप्त ने ऐसे महान वंश की कन्या से विवाह होने को अपना बहुत भारी गौरव माना। वास्तव में इस संबंध के प्रताप से ही वह महाराज हो गया। उसने अपने सिक्कों पर लिच्छवियों की बेटी के नाम से अपनी स्त्री की भी मूर्ति बनवाई। उसकी संतान बड़े गर्व से अपने को लिच्छवियों का दौहित्र कहा करती थी। किंतु चंद्रगुप्त ने एक बौद्ध साधु के उपदेश से बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया और उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने ब्राह्मण धर्म स्वीकार कर लिया। फिर भी ई० सं० 629 में आए चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने वैशाली, राजगृह नालंदा और पुण्यवर्द्धन में अनेक निर्ग्रंथ साधुओं को देखा था। वह कलिंग देश को जैनों का मुख्य स्थान कहता है। इससे स्पष्ट है कि खारवेल के बाद भी इतने सुदीर्घ काल तक जैन धर्म कलिंग में बना रहा। सम्राट खारवेल के बाद ऐसा प्रतापशाली जैन राजा अन्य नहीं हुआ था। यद्यपि जैन धर्म प्रायः सभी राजवंशों के समय में फला-फूला और अनेक अन्य राजाओं ने उसे साहाय्य भी दिया, किंतु जिन्हें हम पूरी तरह से जैन कह सकें ऐसे राजा कम ही हुए।

3. बंगाल में जैन धर्म

किन्हीं विद्वानों की दृष्टि से जैन धर्म का आदि और पवित्र स्थान मगध और पश्चिम बंगाल समझा जाता है। एक समय बंगाल में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म का

विशेष प्रचार बतलाया जाता है। वहाँ के मानभूम, सिंहाभूम, वीरभूम और बर्दवान जिलों का नामकरण भगवान् महावीर और उनके वर्धमान नाम के आधार पर ही हुआ है। जब क्रमशः जैन धर्म लुप्त हो गया तो बौद्ध धर्म ने उसका स्थान ग्रहण किया। बंगाल के पश्चिम हिस्से में जो सराक जाति पाई जाती है वह जैन श्रावकों की पूर्व स्मृति कराती है। अब भी बहुत-से जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष, जैन मूर्तियाँ, शिलालेख वगैरह जैन स्मृति चिह्न बंगाल के भिन्न-भिन्न भागों में पाए जाते हैं। श्रीयुत के० डी० मित्रा की खोज के फलस्वरूप सुंदर वन के एक भाग से ही दस जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बांकुरा और वीरभूम जिलों में अभी भी प्रायः जैन प्रतिमाओं के मिलने का समाचार पाया जाता है। श्री राखलदास बनर्जी ने इस क्षेत्र को तत्कालीन जैनियों का एक प्रधान केंद्र बताया था। सन् 1940 में पूर्वी बंगाल के फरीदपुर जिले के एक गाँव में एक जैन मूर्ति निकली थी जो 2 फीट 3 इंच की है। बंगाल के कुछ हिस्सों में विराट् जैन मूर्तियाँ भैरव के नाम से पूजी जाती हैं। बांकुरा, मानभूम वगैरह स्थानों में और देहातों में आजकल भी जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष पाए जाते हैं। मानभूम में पंचकोट के राजा के अधीनस्थ अनेक गाँवों में विशाल जैन मूर्तियों की पूजा हिंदू पुरोहित या ब्राह्मण करते हैं। वे भैरव के नाम से पुकारी जाती हैं, और नीच या शूद्र जाति के लोग वहाँ पशुबलि भी करते हैं। इन सब मूर्तियों के नीचे अब भी जैन लेख मिल जाते हैं। इस प्रकार की एक लेखयुक्त मूर्ति स्व० राखलदास बनर्जी पंचकोट के महाराजा के यहाँ से ले गए थे।

शांतिनिकेतन के आचार्य क्षितिमोहनसेन[1] लिखते हैं–

'परीक्षा करने से बंगाल के धर्म में, आचार में और व्रत में जैन धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनों के अनेक शब्द बंगाल में प्रचलित हैं। प्राचीन बंगाली लिपि के बहुत-से शब्द विशेष तौर से युक्ताक्षर देवनागरी के साथ नहीं मिलते, परंतु प्राचीन जैन लिपि से मेल खाते हैं।'

4. गुजरात में जैन धर्म

गुजरात[2] के साथ जैन धर्म का संबंध बहुत प्राचीन है। 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ ने यहीं के गिरनार पर्वत पर जिन-दीक्षा लेकर मुक्ति लाभ किया था। यहाँ की ही बल्भी नगरी में वीर निर्वाण संवत् 993 में एकत्र हुए श्वेतांबर संघ ने अपने आगम ग्रंथों को व्यवस्थित करके उनको लिपिबद्ध किया था। जैसे दक्षिण भारत में दिगंबर

1. विश्ववाणी का जैन संस्कृति अंक, पृ०204
2. Architecture of Ahamdabad में लिखा है– 'यह मालूम नहीं कि जैन धर्म गुजरात में पैदा हुआ या कहीं से आया, किंतु जहाँ तक हमारा ज्ञान जाता है यह प्रांत इस धर्म का बहुत उपयोगी घर व मुख्य स्थान रहा है।'

जैनों का प्राबल्य रहा है, लगभग वैसे ही गुजरात में श्वेतांबर जैनों का प्राबल्य रहा है।

गुजरात में भी अनेक राजवंश जैन धर्मावलंबी हुए हैं। राष्ट्रकूटों का राज्य भी गुजरात में रहा है। गुजरात के संजान स्थान से प्राप्त एक शिलालेख में अमोघवर्ष प्रथम की प्रशंसा की गई है तथा अमोघवर्ष के श्री जिनसेन ने अपनी जयधवला टीका की प्रशस्ति में अमोघवर्ष का उल्लेख 'गुर्जरनरेंद्र'[1] नाम से किया है। इससे स्पष्ट है कि अमोघवर्ष ने गुजरात पर भी शासन किया और उसके राज्य में जैन धर्म खूब फूला-फला।

राष्ट्रकूटों के हाथ से निकलकर गुजरात पश्चिमी चालुक्यों के अधिकार में चला गया। फिर चावड़ा वंशी वनराज ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। इस वनराज का लालन-पालन एक जैन साधु की देखरेख में हुआ था, जिसके प्रभाव से यह जैनधर्मी हो गया। जब इस राजा ने अणहिलवाड़ा की स्थापना की तब उसमें जैन मंत्रों का ही उपयोग किया गया था तथा इसने एक जैन मंदिर भी उस नगर में बनवाया था। चावड़ा वंश से निकलकर गुजरात पुनः चालुक्यों के अधिकार में चला गया। ये लोग भी जैन धर्म पालते थे। इनके प्रथम राजा मूलराज ने अणहिलवाड़ा में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया। भीम प्रथम के समय में उसके सेनापति विमल ने आबू पर्वत पर प्रसिद्ध जैन मंदिर बनवाया जिसे 'विमलवसही' कहते हैं। सिद्धराज जयसिंह बहुत प्रसिद्ध राजा हुआ है। इस पर जैनाचार्य हेमचंद्र का बड़ा प्रभाव था। इसके नाम पर आचार्य ने अपना सिद्धहेम व्याकरण रचा। यद्यपि इसने जैन धर्म को अंगीकार नहीं किया, किंतु आचार्य के कहने से सिद्धपुर में महावीर स्वामी का मंदिर बनवाया और गिरनार पर्वत की यात्रा भी की।

जयसिंह के बाद कुमारपाल गुजरात की राजगद्दी पर बैठा। इस पर हेमचंद्राचार्य का बहुत प्रभाव पड़ा और इसने धीरे-धीरे जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इसके बाद इस राजा ने मांसाहार और शिकार का भी त्याग कर दिया तथा अपने राज्य में भी पशुहिंसा, मांसाहार और मद्यपान का निषेध कर दिया। कसाइयों को तीन वर्ष की आय पेशगी दे दी गई। ब्राह्मणों को यज्ञ में पशु के बदले अनाज से हवन करने की आज्ञा दी। इसने अनेक जैनतीर्थों की यात्रा की व अनेक जैन मंदिरों का निर्माण कराया। इसके समय में आचार्य हेमचंद्र ने अनेक ग्रंथों की रचना की।

चालुक्यों का अस्त होने पर 13वीं शताब्दी में बघेलों का राज्य हुआ। इनके समय में वस्तुपाल और तेजपाल नामक जैन मंत्रियों ने आबू के प्रसिद्ध मंदिर बनवाए तथा शत्रुंजय और गिरनार पर भी जैन मंदिर बनवाए। इस प्रकार गुजरात में भी राजाश्रय मिलने से जैन धर्म की बहुत उन्नति हुई।

---

1. देखो– जयधवला, प्रथम खंड की प्रस्तावना, पृ० 74

इस तरह भगवान् महावीर के पश्चात् बिहार, उड़ीसा तथा गुजरात वगैरह में लगभग 2,000 वर्ष तक जैन धर्म का खूब अभ्युदय हुआ। इस काल में अनेक प्रभावशाली जैनाचार्यों ने अपने उपदेशों और शास्त्रों के द्वारा जैन धर्म का प्रभाव फैलाया। अकेले एक समंतभद्र ने ही समस्त भारत में घूम-घूमकर अनेक राजदरबारों को अपनी वक्तृत्व शक्ति और प्रखर तार्किक बुद्धि से प्रभावित किया था। अन्य प्रांतों में भी पाए जाने वाले जैन स्मारकों से जैन धर्म के विस्तार का सबूत मिलता है।

5. राजपूताने में जैन धर्म

स्व० ओझाजी ने अपने [1]राजपूताने के इतिहास में लिखा है कि 'अजमेर जिले के वर्ली नामक गाँव में वीर संवत् 84 (वि० सं० 386 पूर्व - ई० सं० 443 पूर्व) का एक शिलालेख मिला है जो अजमेर के म्यूजियम में सुरक्षित है। उस पर से यह अनुमान होता है कि अशोक से पहले भी राजपूताने में जैन धर्म का प्रसार था। जैन लेखकों का यह मत है कि राजा संप्रति ने, जो अशोक का वंशज था, जैन धर्म की खूब उन्नति की और राजपूताना तथा उसके आस-पास के प्रदेश में भी उसने अनेक जैन मंदिर बनवाए। वि० सं० की दूसरी शताब्दी में बने मथुरा के कंकाली टीला के जैन स्तूप से तथा वहीं के कुछ अन्य स्थानों से प्राप्त प्राचीन शिलालेखों और मूर्तियों से मालूम होता है कि उस समय राजपूताने में भी जैन धर्म का अच्छा प्रचार था।

जैनियों की प्रसिद्ध जातियों; जैसे– ओसवाल, खंडेलवाल, बघेरवाल, पल्लीवाल आदि का उदय स्थान राजपूताना ही माना जाता है। चित्तौड़ का प्रसिद्ध प्राचीनतम कीर्तिस्तंभ जैनों का ही निर्माण कराया हुआ है। उदयपुर राज्य में केशरियानाथ जैनों का प्राचीन पवित्र स्थान है जिसकी पूजा-वंदना जैनेतर भी करते हैं। [2]राजपूताने में जैनों ने राजत्व, मंत्रित्व और सेनापतित्व का कार्य जिस चतुराई और कौशल से किया है उससे उन्हें राजपूताने के इतिहास में अमर नाम प्राप्त है। राजपूताने ने ही ढुंढारी हिंदी के कुछ ऐसे धार्मिक जैन विद्वानों को पैदा किया जिन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा के ग्रंथों पर हिंदी में टीकाएँ लिखकर जनता का भारी उपकार किया। राजपूताने के जैसलमेर, जयपुर, नागौद, आमेर आदि स्थानों में प्राचीन शास्त्र भंडार हैं।

1. प्र० खं०, पृ० 10-11
2. राजपूताने के जैन वीर।

6. मध्य प्रांत में जैन धर्म

मध्य प्रांत का सबसे बड़ा राजवंश कलचुरि वंश था, जिसका प्राबल्य आठवीं नौवीं शताब्दी में बहुत बढ़ा।

ये कलचुरि नरेश प्रारंभ में जैन धर्म के पोषक थे। कुछ शिलालेखों से ऐसा उल्लेख मिलता है कि कलभ्र लोगों ने तमिल देश पर चढ़ाई की थी और वहाँ के राजाओं को परास्त करके अपना राज्य जमाया था। प्रोफेसर रामस्वामी आयंगर[1] ने सिद्ध किया है कि ये कलभ्र वंशी राजा जैन धर्म के पक्के अनुयायी थे। इनके तमिल देश में पहुँचने से वहाँ जैन धर्म की बड़ी उन्नति हुई। इन कलभ्रों को कलचुरि वंश की शाखा समझा जाता है। इनके वंशज नागपुर के आस-पास अब भी मौजूद हैं जो कलार कहलाते हैं। ये कभी जैन थे। मध्य प्रांत के कलचुरि नरेश जैन धर्म के पोषक थे। इसका एक प्रमाण यही भी है कि इनका राष्ट्रकूट नरेशों से घनिष्ठ संबंध था। दोनों राजवंशों में अनेक विवाह संबंध हुए थे और राष्ट्रकूट नरेश जैन धर्म के उपासक थे।

कलचुरि राजधानी त्रिपुरी और रतनपुर में अब भी अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ और खंडहर विद्यमान हैं।

इस प्रांत में जैनों के अनेक तीर्थ हैं– वैतूल जिले में मुक्तागिरि, सागर जिले में दमोह के पास कुंडलपुर और निमाड़ जिले में सिद्धवर क्षेत्र अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिए भी प्रसिद्ध हैं। भेलसा के समीप का 'वीसनगर' जैनियों का बहुत प्राचीन स्थान है। शीतलनाथ तीर्थंकर की जन्मभूमि होने से वह अतिशय क्षेत्र माना जाता है। जैन ग्रंथों में इसका नाम भद्दलपुर पाया जाता है।

बुंदेलखंड में भी अनेक जैन तीर्थ हैं जिनमें सोनागिर, देवगढ़, नयनागिर और द्रोणगिरि का नाम उल्लेखनीय है। खजुराहो के प्रसिद्ध जैन मंदिर आज भी दर्शनार्थियों को आकृष्ट करते हैं। सत्रहवीं शताब्दी से यहाँ जैन धर्म का ह्रास होना आरंभ हुआ। जहाँ किसी समय लाखों जैनी थे वहाँ अब जैन धर्म का पता जैन मंदिरों के खंडहरों और टूटी-फूटी जैन मूर्तियों से चलता है।

7. उत्तर प्रदेश में जैन धर्म

उत्तर प्रदेश में जैन धर्म का केंद्र होने की दृष्टि से मथुरा का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ के कंकाली टीले से जो लेख प्राप्त हुए हैं वे ई०पू० दूसरी शताब्दी से लेकर ई० सं० 5वीं शताब्दी तक के हैं और इस तरह ये बहुत प्राचीन हैं। इनसे पता चलता है कि इतने सुदीर्घ काल तक मथुरा नगरी जैन धर्म का प्रधान केंद्र थी। जैन धर्म के इतिहास

1. Studies in South Indian Jainism, P.53. 56

पर इन शिलालेखों से स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इनसे पता चलता है कि जैन धर्म के सिद्धांत और उसकी व्यवस्था अति प्राचीन है। यहाँ के प्राचीनतम शिलालेख से भी यहाँ का स्तूप कई शताब्दी पुराना है। इसके संबंध में फुहरर सा०[1] लिखते हैं–

'यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इस लेख के लिखे जाने के समय स्तूप का आदि वृत्तांत लोगों को विस्मृत हो चुका था।'

असल में उत्तर प्रदेश में जैन धर्म का इतिहास अभी तक अंधकार में है इसलिए उत्तर प्रदेश के राजाओं का जैन धर्म के साथ कैसा संबंध था यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी उत्तर प्रदेश में सर्वत्र जो जैन पुरातत्व की सामग्री मिलती है उससे यह पता चलता है कि कभी यहाँ भी जैन धर्म का अच्छा अभ्युदय था और अनेक राजाओं ने उसे आश्रय दिया था। उदाहरणार्थ– हर्षवर्धन बड़ा प्रतापी राजा था। लगभग समस्त उत्तर प्रदेश में उसका राज्य था। इसने पाँच वर्ष तक प्रयाग में धार्मिक महोत्सव कराया। उसमें उसने जैन धर्म के धार्मिक पुरुषों का भी आदर-सत्कार किया था।

जो राजा जैन धर्म का पालन नहीं करते थे किंतु जैन धर्म के मार्ग में बाधा भी नहीं देते थे, ऐसे धर्म सहिष्णु राजाओं के काल में जैन धर्म की खूब उन्नति हुई। समग्र उत्तर और मध्य भारत के सभी प्रदेशों में पाए जाने वाले जैन धर्म के चिह्न इसके साक्षी हैं। उत्तर प्रदेश के जिन जिलों में आज नाममात्र को जैनी रह गए हैं उनमें भी प्राचीन जैन चिह्न पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, गोरखपुर जिले में तहसील देवरिया में कुहाऊँ व खुखुंदों के नाम उल्लेखनीय हैं। इलाहाबाद के दक्षिण-पश्चिम 11 मील पर देवरिया और भीता में बहुत-से पुरातन खंडित स्थान हैं। कनिंग्घम सा० का कहना है कि यहाँ जादों वंश के उदयन राजा रहते थे, जो जैन धर्म पालते थे। उन्होंने श्री महावीर स्वामी की एक प्रसिद्ध मूर्ति का निर्माण कराया था, जिसे लेने के लिए उज्जैन के राजा और उदयन से एक बड़ा युद्ध हुआ था।

बलरामपुर (अवध) से पश्चिम 12 मील पर 'सहेठ-महेठ' नाम का स्थान है। यहाँ खुदाई की गई थी। यह स्थान ही श्रावस्ती नगरी है। इसके संबंध में डॉ० फुहरर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि 11वीं शताब्दी में श्रावस्ती में जैन धर्म की बहुत उन्नति हुई थी क्योंकि खुदाई में तीर्थंकरों की कई मूर्तियाँ जिन पर संवत् 1112 से 1133 तक खुदा है, प्राप्त हुई हैं। सुहृद्ध्वज श्रावस्ती के जैन राजाओं में अंतिम राजा था। यह महमूद गजनी के समय में हुआ था।

बरेली जिले में अहिच्छत्र नाम का एक जैन तीर्थ स्थान है। इस पर राज्य करने वाला मोरध्वज नाम का एक राजा हो गया है जो जैन बतलाया जाता है। यहाँ किसी समय जैन धर्म की बहुत उन्नति थी। यहाँ अनेक खेड़े हैं जिनसे जैन मूर्तियाँ मिली हैं।

1. म्यूजियम रिपोर्ट, 1890-91

इसी तरह इटावा से उत्तर-दक्षिण 27 मील पर परवा नाम का एक स्थान है जहाँ जैन मंदिर के ध्वंस पाए जाते हैं। डॉ० फुहरर का कहना है कि किसी समय यहाँ जैनियों का प्रसिद्ध नगर आलभी बसा था। ग्वालियर के किले में विशाल जैन मूर्तियों की बहुतायत वहाँ के प्राचीन राजघरानों का जैन धर्म से संबंध सूचित करती है।

इस प्रकार उत्तर भारत में जैन राजाओं का उल्लेखनीय पता न चलने पर अनेक राजाओं का जैन धर्म से सहयोग सूचित होता है और पता चलता है कि महावीर के पश्चात् उत्तर भारत में भी जैन धर्म खूब फूला-फला।

8. दक्षिण भारत में जैन धर्म

उत्तर भारत में जैन धर्म की स्थिति का दर्शन कराने के पश्चात् दक्षिण भारत में आते हैं। चंद्रगुप्त मौर्य के समय में उत्तर भारत में 12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैनाचार्य भद्रबाहु ने अपने विशाल जैन संघ के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रयाण किया था। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में उस समय भी जैन धर्म का अच्छा प्रचार था और भद्रबाहु को पूर्ण विश्वास था कि वहाँ उनके संघ को किसी प्रकार का कष्ट न होगा। यदि ऐसा न होता तो वे इतने बड़े संघ को दक्षिण भारत की ओर ले जाने का साहस न करते। जैन संघ की इस यात्रा से दक्षिण भारत में जैन धर्म को और भी अधिक फलने और फूलने का अवसर मिला।

श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से सदा उदार रही है। उसमें भाषा और अधिकार का वैसा बंधन नहीं रहा जैसा वैदिक संस्कृति में पाया जाता है। जैन तीर्थंकरों ने सदा लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाया। जैन साधु जैन धर्म के चलते-फिरते प्रचारक होते हैं। वे जनता से अपनी शरीर यात्रा के लिए दिन में एक बार जो रूखा-सूखा किंतु शुद्ध भोजन लेते हैं उसका कई गुना मूल्य वे सत्शिक्षा और सदुपदेश के रूप में जनता को चुका देते हैं और शेष समय में साहित्य का सृजन करके उसे भावी संतान के लिए छोड़ जाते हैं। ऐसे कर्मठ और जनहितनिरत साधुओं का समागम जिस देश में हो उस देश में उनके प्रचार का कुछ प्रभाव न हो यह संभव नहीं। फलतः उत्तर भारत के जैन संघ की दक्षिण यात्रा ने दक्षिण[1] भारत के जीवन में एक क्रांति पैदा कर

1. प्रो० रामस्वामी आयंगर अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' पुस्तक में लिखते हैं– 'सुशिक्षित जैन साधु छोटे-छोटे समूह बनाकर समस्त दक्षिण भारत में फैल गए और दक्षिण की भाषाओं में अपने धार्मिक साहित्य का निर्माण करके उसके द्वारा अपने धार्मिक विचारों

दी। उसका साहित्य खूब समृद्ध हुआ और वह जैनाचार्यों की खनि तथा जैन संस्कृति का संरक्षक और संवर्द्धक बन गया।

जैन धर्म के प्रसार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में बाँटा सकता है– तमिल और कर्नाटक। तमिल प्रांत में चोल और पांडय नरेशों ने जैन धर्म को अच्छा आश्रय दिया। खारवेल के शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट खारवेल के राज्याभिषेक के अवसर पर पांडय नरेश ने कई जहाज उपहार भरकर भेजे थे। सम्राट खारवेल जैन था और पांडय नरेश भी जैन था। पांडय वंश ने जैन धर्म को न केवल आश्रय ही दिया बल्कि उसके आचार और विचारों को भी अपनाया। इससे उनकी राजधानी मदुरा दक्षिण भारत में जैनों का प्रमुख स्थान बन गई थी। तमिल ग्रंथ 'नालिदियर' के संबंध में कहा जाता है कि उत्तर भारत में दुष्काल पड़ने पर आठ हजार साधु पांडय देश में आए थे। जब वे वहाँ से वापिस जाने लगे तो पांडय नरेश ने उन्हें वहीं रखना चाहा। तब उन्होंने एक दिन रात्रि के समय पांडय नरेश की राजधानी को छोड़ दिया किंतु चलते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताड़पत्र पर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया। इन्हीं के समुदाय से नालिदियर ग्रंथ बना। जैनाचार्य पूज्यपाद के शिष्य ब्रजनंदि ने पांडयों की राजधानी मदुरा में एक जैन संघ की स्थापना की थी। तमिल साहित्य में 'कुरल' नाम का नीतिग्रंथ सबसे बढ़कर समझा जाता है। यह तमिल वेद कहलाता है। इसके रचयिता भी एक जैनाचार्य कहे जाते हैं, जिनका एक नाम कुंदकुंद भी था। पल्लव वंशी शिवस्कंदवर्मा महाराज इनके शिष्य थे। ईसा की दसवीं शताब्दी तक राज्य करने वाले महाप्रतापी पल्लव राजा भी जैनों पर कृपा दृष्टि रखते थे। इनकी राजधानी काँची सभी धर्मों का स्थान थी। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग सातवीं शताब्दी में काँची आया था। इसने इस नगरी में फलते-फूलते हुए जिन धर्मों को देखा उनमें वह जैनों का भी नाम लेता है। इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि उस समय काँची जैनों का मुख्य स्थान था। यहाँ जैन राजवंशों ने बहुत वर्षों तक राज्य किया। इस तरह तमिल देश के प्रत्येक अंग में जैनों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। [1]सर वाल्टर इलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनों का बड़ा प्रभाव है, परंतु उससे भी

को धीरे-धीरे किंतु स्थायी रूप में जनता में फैलाने लगे। किंतु यह कल्पना करना कि ये साधु साधारणतया लौकिक कार्यों में उदासीन रहते थे, गलत है। एक सीमा तक यह सत्य है कि ये संसार में संबद्ध नहीं होते थे, किंतु मेगस्थनीज के विवरण से हम जानते हैं कि ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी तक राजा लोग अपने दूतों के द्वारा वनवासी जैन श्रमणों से राजकीय मामलों में स्वतंत्रतापूर्वक सलाह-मशवरा करते थे। जैन गुरुओं ने राज्यों की स्थापना की थी और वे राज्य शताब्दियों तक जैन धर्म के प्रति सहिष्णु बने रहे। किंतु जैन धर्म ग्रंथों में रक्तपात के निषेध पर जो अत्यधिक जोर दिया गया उसके कारण समस्त जैन जाति राजनैतिक अधोगति को प्राप्त हो गई।'– पृ० 105-106

1. Coins of Southern India (London, 1886), P. 38, 40, 126

अधिक प्रभाव तो उनका तमिल साहित्य के ऊपर पड़ा है। विशप काल्डवेल[1] का कहना है कि जैनों की उन्नति का युग ही तमिल साहित्य का महायुग है। जैनों ने तमिल, कनड़ी और दूसरी लोकभाषाओं का उपयोग किया। इससे जनता के संपर्क में वे अधिक आए और जैन धर्म के सिद्धांतों का भी जनसाधारण में खूब प्रचार हुआ।

एक समय कन्नड़ी और तेलुगू प्रदेश से लेकर उड़ीसा तक जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था। शेषगिरि राव ने अपने Andhra knraa Jainism में जो काव्य-संग्रह किया है उससे पता चलता है कि आज के विजगापट्टम कृष्ण, नेलोर वगैरह प्रदेशों में प्राचीन काल में जैन धर्म फैला हुआ था और उसके मंदिर बने हुए थे।

किंतु जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण स्थान तो कर्नाटक प्रांत के इतिहास में मिलता है। यह प्रांत प्राचीन काल से ही दिगंबर जैन संप्रदाय का मुख्य स्थान रहा है। इस प्रांत में मौर्य साम्राज्य के बाद आंध्र वंश का राज्य हुआ, आंध्र राजा भी जैन धर्म के उन्नायक थे। आंध्र वंश के पश्चात् उत्तर-पश्चिम में कदंबों ने और उत्तर-पूर्व में पल्लवों ने राज्य किया। कदंब वंश के अनेक शिलालेख मिले हैं, जिनमें से बहुत-से लेखों में जैनों को दान देने का उल्लेख मिलता है। इस राज वंश का धर्म जैन था। सन् 1922-23 की एपिग्राफी रिपोर्ट में वर्णित है[2] कि वनवासी के प्राचीन कदंब और चालुक्य, जिन्होंने पल्लवों के पश्चात् तुलुव देश में राज्य किया, निस्संदेह जैन थे तथा यह भी बहुत संभव है कि प्राचीन पल्लव भी जैन थे, क्योंकि संस्कृत में मत्तविलास नाम का एक प्रहसन है जो पल्लव राजा महेंद्रदेव वर्मा का बनाया हुआ कहा जाता है। इस ग्रंथ में उस समय के प्रचलित संप्रदायों की हँसी उड़ाई गई है, जिनमें पाशुपत, कापालिक और एक बौद्ध भिक्षु को हँसी का पात्र बनाया गया है। इसमें जैनों को सम्मिलित नहीं किया गया है। इससे पता चलता है कि जिस समय महेंद्र वर्मा ने इस ग्रंथ को रचा उस समय वह जैन था तथा पीछे से शैव हो गया क्योंकि शैव परंपरा में ऐसी ख्याति है कि शैव साधु अप्पर ने महेंद्र वर्मा को शैव बनाया[3] था। अतः कदंबों की तरह चालुक्य भी जैन धर्म के प्रमुख[4] आश्रयदाता थे। चालुक्यों ने अनेक जैन मंदिर बनवाए, उनका जीर्णोद्धार कराया, उन्हें दान दिया और कनड़ी के प्रसिद्ध जैन कवि आदि पंप जैसे कवियों का सम्मान किया।

---

1. Comperative Grammar of the Dravidian or South Indian family languages. तीसरी आवृति (लंदन 1913)
2. Early Kadambas of Banbasi and Chalukyas, who succeeded pallavas overlords of Tuluva were undoutedly Jains it is probable that early pallavas were the same.
3. साउथ इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर, भा० 1, पृ० 584
4. स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० 444

इसके सिवा इतिहास से यह भी पता चलता है कि कर्नाटक में महिलाओं ने भी जैन धर्म के प्रचार में भाग लिया। इन महिलाओं में जहाँ राजघराने की महिलाएँ स्मरणीय हैं वहाँ साधारण घराने की स्त्रियों की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

सबसे प्रथम परमगूल की पत्नी कंदाच्छि का नाम उल्लेखनीय है। उसने श्रीपुर नामक स्थान के उत्तरी भाग में एक जैन मंदिर बनवाया था। परमगूल की प्रार्थना पर गंगनृपति श्रीपुरुष ने इस मंदिर को एक ग्राम तथा कुछ अन्य भू-भाग प्रदान किए थे। इस महिला का गंगराज परिवार पर काफी प्रभाव था। दूसरी उल्लेखनीय महिला जक्कियव्वे है। यह सत्तरस नागार्जुन की पत्नी थी जो नागर खंड का शासक था। पति के मरने पर राजा ने उसकी जगह उसकी पत्नी को नियुक्त किया। पत्नी ने अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया और सल्लेखनापूर्वक प्राणों का त्याग किया।

ईसा की दसवीं शती में पश्चिमी चालुक्य राजा तैलप का सेनापति मल्लप था। उसकी पुत्री अत्तिमव्वे आदर्श धर्मचारिणी थी। उसने अपने व्यय से सोने और कीमती पत्थरों की डेढ़ हजार मूर्तियाँ बनवाईं थीं। राजेंद्र कोंगाल्व की माता पोचव्वरासि ने 1050 ई० में एक वसदि बनवाई थी।

कदंब राजा कीर्तिदेव की प्रथम पत्नी माउलदेवी का स्थान भी धर्मप्रेमी महिलाओं में अत्यंत ऊँचा है। इसने 1077 ई० में पद्मनंदि सिद्धांतदेव द्वारा पार्श्वनाथ चैत्यालय बनवाया और प्रमुख ब्राह्मणों को आमंत्रित करके उन्हीं के द्वारा उस जिनालय का नामकरण 'ब्रह्म जिनालय' करवाया।

नागर खंड के धार्मिक इतिहास में चट्टलदेवी का खास स्थान है। यह सांतर परिवार की थी। सांतर परिवार जैन मतावलंबी था और उसका धर्म-प्रेम विख्यात है। इस महिला ने सांतरों की राजधानी पोंवुच्चपुर में जिनालयों का निर्माण कराया और अनेक परोपकार संबंधी कार्य किए।

यहाँ दक्षिण भारत के राजनैतिक इतिहास के संबंध में थोड़ा प्रकाश डालना उचित होगा। गंग राजाओं ने मैसूर के एक बहुत बड़े भाग पर ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक राज्य किया। उसके पश्चात् वे चोलों के द्वारा पराजित हुए किंतु चोल लंबे समय तक राज नहीं कर सके और शीघ्र ही होयसलों के द्वारा निकाल बाहर किए गए। होयसलों ने एक पृथक् राजवंश स्थापित किया जो 11वीं शती तक कायम रहा।

प्राचीन चालुक्यों ने छठी शती के लगभग अपना राज्य स्थापित किया और प्रबल शासन के पश्चात् दो भागों में बँट गए– पूर्वीय चालुक्य और दूसरा पश्चिमीय चालुक्य। पूर्वीय चालुक्यों ने 750 ई० से 11वीं शती तक राज्य किया। उसके पश्चात् उनके राज्य चोलों के द्वारा मिला लिए गए। पश्चिमीय चालुक्य 750 ई० के लगभग राष्ट्रकूटों से पराजित हुए।

राष्ट्रकूटों ने 973 ई० तक अपनी स्वतंत्रता कायम रखी। उसके पश्चात् वे पश्चिमीय चालुक्यों से पराजित हुए। चालुक्यों ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज्य किया। उसके पश्चात् कालचुरियों से वे पराजित हुए। चुरियों ने तीस वर्ष तक राज्य किया।[1] अब प्रत्येक राजवंश के समय में जैन धर्म की स्थिति का दिग्दर्शन कराया जाता है।

1. गंग वंश

इस वशं की स्थापना ईसा की दूसरी शती में जैनाचार्य सिंहनंदि ने की थी। इसका प्रथम राजा माधव था, जिसे कोंगणी वर्मा कहते हैं। मुष्कार अथवा मुखार के समय में जैन धर्म राजधर्म बन गया था। तीसरे और चौथे राजाओं को छोड़कर उसके शेष पूर्वज निश्चय ही जैन धर्म के सहायक थे। माधव का उत्तराधिकारी अवनीत जैन था। अवनीत का उत्तराधिकारी दुर्विनीत प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य पूज्यपाद का शिष्य था।

ईसा की चौथी से बारहवीं शताब्दी तक के अनेक शिलालेखों से यह बात प्रमाणित है कि गंग वंश के शासकों ने जैन मंदिरों का निर्माण किया, जैन प्रतिमाओं की स्थापना की, जैन तपस्वियों के निमित्त गुफाएँ तैयार कराईं और जैनाचार्यों को दान दिया।

इस वंश के राजा का नाम मारसिंह द्वितीय था। इसका शासनकाल चेर, चोल और पांडय वंशों पर पूर्ण विजय प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध था। यह जैन सिद्धांतों का सच्चा अनुयायी था। इसने अत्यंत ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके राजपद त्याग दिया और धारवार प्रांत के वांकापुर नामक स्थान में अपने गुरु अजितसेन के सन्मुख समाधिपूर्वक प्राण त्याग किया। एक शिलालेख के आधार पर इसकी मृत्यु तिथि 975 ई० निश्चित की गई है।

चामुंडराय राजा मारसिंह द्वितीय का सुयोग्य मंत्री था। उसके मरने पर वह उसके पुत्र राजा राचमल्ल का मंत्री और सेनापति हुआ। इस मंत्री के शौर्य के कारण ही मारसिंह अनेक विजय प्राप्त कर सका। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के शिलालेख में इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है, धरम धुरंधर वीरमार्तंड, रणरंगसिंह, त्रिभुवनवीर, वैरीकुलकालदंड, सत्य युधिष्ठिर, सुभट चूड़ामणि आदि उसकी अनेक उपाधियाँ थीं, जो उसकी शूरवीरता और धार्मिकता को बतलाती हैं। चामुंडराय ने ही श्रवणबेलगोला (मैसूर) के विंध्यगिरि पर गोमटेश की विशालकाय मूर्ति स्थापित कराई थी, जो मूर्ति आज दुनिया की अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं में गिनी जाती है।

---

1. स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० 107

वृद्धावस्था में चामुंडराय ने अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में बिताया। चामुंडराय जैन धर्म के उपासक तो थे ही, मर्मज्ञ विद्वान् भी थे। उनकी कन्नड़ी भाषा का त्रिषष्ठि-लक्षण महापुराण प्रसिद्ध है। संस्कृत में भी उनका बनाया हुआ चारित्रसार नामक ग्रंथ है। चामुंडराय की गणना जैन धर्म के महान् उन्नायकों में की जाती है। इनके समय में जैन साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई। सिद्धांत ग्रंथों का सारभूत श्रीगोम्मटसार नामक महान जैन ग्रंथ इन्हीं के निमित्त से रचा गया था और इन्हीं के गोम्मटराय नाम पर इसका नामकरण किया गया था। यह कन्नड़ी के प्रसिद्ध कवि रत्न के आश्रयदाता भी थे।

गंगराज परिवार की महिलाएँ भी अपनी धर्मशीलता के लिए प्रसिद्ध हैं। एक प्रशस्ति में गंगदेवी को 'जिनेंद्र के चरण कमलों में लुब्ध भ्रमरी' कहा है। यह महिला भुजबल गंग हेम्माडि मान्धाता भूप की पत्नी थी। राजा मारसिंह की छोटी बहन का नाम सुग्गिपव्वरसि था। यह जैन मुनियों की बड़ी भक्त थी और उन्हें सदा आहार दान दिया करती थी।

जब चोल राजा ने ई० सं० 1004 में गंग नरेश की राजधानी तलकाद को जीत लिया, तब से इस वंश का प्रताप मंद हो गया। बाद में भी इस वंश के राजाओं ने राज तो किया, किंतु फिर वे उठ न सके। इससे जैन धर्म को भी क्षति पहुँची।

2. होयसल वंश

इस वंश की उन्नति में भी एक जैन मुनि का हाथ था। इस वंश का पूर्वज राजा सल था। एक बार यह राजा अपनी कुलदेवी के मंदिर में सुदत्त नाम के जैन साधु से विद्या ग्रहण करता था। अचानक वन में से निकलकर एक बाघ सल पर टूट पड़ा। साधु ने एक दंड सल को देकर कहा, 'पोप सल' (मारसल)। सल ने बाघ को मार डाला। इस घटना को स्मरण रखने के लिए उसने अपना नाम 'पोप सल' रखा, बाद में यही 'होयसल' हो गया।

गंग वंश की तरह इस वंश के राजा भी विट्टिदेव तक बराबर जैनधर्मी रहे और उन्होंने जैन धर्म के लिए बहुत कुछ किया। [1]दीवान बहादुर कृष्ण स्वामी आयंगर ने विष्णुवर्धन विट्टिदेव के समय में मैसूर राज्य की धार्मिक स्थिति बताते हुए लिखा है, 'उस समय मैसूर प्रायः जैन था। गंग राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। किंतु लगभग 1000 ई० में जैनों के विरुद्ध वातावरण ने जोर पकड़ा। उस समय चोलों ने मैसूर को जीतने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप गंगवाड़ी और नोलंबवाड़ी का एक बड़ा प्रदेश चोलों के अधिकार में चला गया, और इस तरह मैसूर देश में चोलों के शैव

1. Ancient India, P. 738-739

धर्म और चालुक्यों के जैन धर्म का आमना-सामना हो गया। जब विष्णुवर्धन ने मैसूर की राजनीति में भाग लिया उस समय मैसूर की धार्मिक स्थिति अनिश्चित थी। यद्यपि जैन धर्म प्रबल स्थिति में था फिर भी शैव धर्म और वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। 1116 ई० के लगभग विट्टिदेव को रामानुजाचार्य ने वैष्णव बना लिया और उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रखा।' विष्णुवर्धन की पहली पत्नी शांतलदेवी जैन थी। श्रवणबेलगोला तथा अन्य स्थानों से प्राप्त शिलालेखों में उसके धर्मकार्यों की बड़ी प्रशंसा की गई है। शांतलदेवी का पिता कट्टर शैव और माता जैन थी। शांतलदेवी के मर जाने पर जब उसके माता-पिता भी मर गए तो उनका जामाता अपने धर्म से च्युत हो गया। किंतु फिर भी जैन धर्म से उसकी सहानुभूति बनी रही। उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में हलेवीड के जिनालय में स्थापित जैन मूर्ति का नाम 'विजय पार्श्वनाथ' रखा। उसके मंत्री गंगराज तो जैन धर्म के एक भारी स्तंभ थे। उनकी धार्मिकता और दानवीरता का विवरण अनेक शिलालेखों में मिलता है। इनकी पत्नी का नाम भी जैन धर्म के प्रचार के संबंध में अति प्रसिद्ध है। उसने कई जिन मंदिरों का निर्माण कराया था जिनके लिए गंगराज ने उदारतापूर्वक भूमिदान दिया था। विट्टिदेव के पश्चात् नरसिंह प्रथम राजा हुए। इसके मंत्री हुल्लप्प ने जैन धर्म की बड़ी उन्नति की।

उसने जैनों के खोए हुए प्रभाव को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। किंतु होयसल[1] राजाओं के द्वारा संरक्षित वैष्णव धर्म की द्रुत अभ्युन्नति, रामानुज तथा कुछ शैव नेताओं का व्यवस्थित और क्रमबद्ध विरोध और लिंगायतों के भयानक आक्रमण ने मैसूर प्रदेश में जैन धर्म का पतन कर दिया। किंतु भूलकर भी यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि वहाँ से जैन धर्म की जड़ ही उखड़ गई। किंतु वैष्णव तथा अन्य वैदिक संप्रदायों के क्रमिक अभ्युत्थान के कारण उसका चैतन्य जाता रहा। यों तो जैन धर्म के अनुयायियों की तब भी अच्छी संख्या थी किंतु फिर वे कोई राजनैतिक प्रभाव नहीं प्राप्त कर सके। बाद के मैसूर राजाओं ने जैनों को कोई कष्ट नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनकी सहायता भी की। मुस्लिम शासक हैदर नायक तक ने भी जैन मंदिरों को गाँव प्रदान किए थे यद्यपि उसने श्रवणबेलगोला तथा अन्य प्रदेशों के महोत्सव बंद कर दिए थे।

3. राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट राजा अपने समय के बड़े प्रतापी राजा थे। इनके आश्रय से जैन धर्म का अच्छा अभ्युत्थान हुआ। इनकी राजधानी पहले नासिक के पास में थी, बाद में

1. स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म

मान्यखेट को इन्होंने अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के जैनधर्मी राजाओं में अमोघवर्ष प्रथम का नाम उल्लेखनीय है। यह राजा दिगंबर जैन धर्म का बड़ा प्रेमी था। अपनी अंतिम अवस्था में इसने राजपाट छोड़कर जिन-दीक्षा ले ली थी। इनके गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन थे। जिनसेन के शिष्य गुणभ्रद ने अपने उत्तर पुराण में लिखा है कि अमोघवर्ष अपने गुरु जिनसेन के चरण कमलों की वंदना करके अपने को पवित्र हुआ मानता था। इसने जैन मंदिरों को दान दिया, तथा इसके समय में जैन साहित्य की भी खूब उन्नति हुई। दिगंबर जैन सिद्धांत ग्रंथों की धवला और जयधवला नाम की टीकाओं का नामकरण इसी के धवल और अतिशय धवल नाम के ऊपर हुआ समझा जाता है। शाकटायन वैयाकरण ने अपने शाकटायन नामक जैन व्याकरण पर इसी के नाम से अमोघवृत्ति नाम की टीका बनाई। इसी के समय में जैनाचार्य महावीर ने अपने गणितसार संग्रह नामक ग्रंथ की रचना की, जिनके प्रारंभ में अमोघवर्ष की महिमा का वर्णन विस्तार से किया गया है। अमोघवर्ष ने स्वयं भी 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' नाम की एक पुस्तिका रची। स्वामी जिनसेन ने भी अनेक ग्रंथ रचे।

अमोघवर्ष ने जिनसेन के शिष्य गुणभद्र को भी आश्रय दिया। गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेन के अधूरे ग्रंथ आदि पुराण को पूर्ण किया और अन्य भी अनेक ग्रंथ रचे। अमोघवर्ष का पुत्र अकालवर्ष भी जैन धर्म का प्रेमी था। इसके समय में गुणभद्र ने अपना उत्तर पुराण पूर्ण किया। इसने भी जैन मंदिरों को दान दिया और जैन विद्वानों का सम्मान किया। जब पश्चिम के चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों की सत्ता का अंत कर दिया तो इस वंश के अंतिम राजा इंद्र ने अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने का यत्न किया किंतु उसे सफलता नहीं मिली। अंत में उसने जिन-दीक्षा धारण करके श्रवणबेलगोला में समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग किया। लोकादित्य इनका सामंत और वनवास देश का राजा था। गुणभद्राचार्य ने इसे भी जैन धर्म की वृद्धि करने वाला और महान् यशस्वी बतलाया है।

4. कदंब वंश

यद्यपि यह वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी था, किंतु इसके कुछ नरेशों की धार्मिक नीति बड़ी उदार थी और कुछ तो जैन धर्म के प्रतिपालक भी थे। इस वंश के पांचवें राजा काकुत्स्थ वर्मा ने अपने एक जैन सेनापति श्रुतकीर्ति को अर्हंतों के लिए भूमिदान किया था। काकुत्स्थ वर्मा के पौत्र मृगेश वर्मा ने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में अर्हंतदेव के पूजनादि के लिए भूमिदान किया था तथा अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में एक गाँव को तीन भागों में विभाजित करके एक भाग जिनेंद्र को, दूसरा भाग श्वेतांबर श्रमण संघ

को, तीसरा भाग दिगंबर श्रमण संघ को प्रदान किया था। आठवें वर्ष में उसने पलासिका नामक स्थान में एक जिनालय बनवाकर कुछ भूमि यापनीयों के तथा निर्ग्रंथ संप्रदाय के कूर्चकों के लिए प्रदान की थी।

मृगेश वर्मा के तीन बेटों में से रवि वर्मा उसका उत्तराधिकारी हुआ। सेनापति श्रुतकीर्ति के पौत्र जयकीर्ति ने कदंब राजाओं के द्वारा परंपरा से प्राप्त पुरुखेट गाँव रवि वर्मा की आज्ञा से यापनीय संघ के कुमारदत्त प्रमुख आचार्यों को दान में दे दिया। रवि वर्मा का राज्यकाल साधारणतः सन् 478 से 513 ई० के लगभग माना जाता है।

रवि वर्मा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र हरि वर्मा हुआ। उसने अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में अपने चाचा शिवरथ के उपदेश से पलाशिका में सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश वर्मा के द्वारा निर्मापित जैन मंदिर की अष्टाह्निका पूजा के लिए तथा सर्वसंघ के भोजन के हेतु कूर्चकों के वारिषेणाचार्य संघ के हाथ में वसुंतवाटक ग्राम दान में दिया तथा अपने राज्य के पाँचवें वर्ष में राजा भानु वर्मा की प्रार्थना पर अहिरिष्ट नामक दूसरे श्रमण संघ के लिए मरदे नामक गाँव दान में दिया। हरि वर्मा का राज्यकाल सन् 513 से 534 ई० में माना जाता है।

5. चालुक्य वंश

इस वंश की एक शाखा, जिसे पश्चिमी चालुक्य कहा जाता है, पातापी (वादामी) नामक स्थान में 6वीं ई० से 8वीं ई० तक राज्य करती रही। पीछे दो शताब्दी बाद 10वीं से 12वीं तक कल्याणी नामक स्थान से शासन करती रही। पूर्वी चालुक्य नाम से प्रसिद्ध दूसरी शाखा आंध्र प्रदेश के वेंगी नामक स्थान से 7वीं शताब्दी से 11-12वीं शताब्दी तक राज्य करती रही।

पश्चिमी चालुक्य– इस वंश का सबसे प्राचीन दानपत्र शक सं० 411 (479 ई०) का आड़ते से मिला है। यह सत्याश्रय पुलकेशी का है। उसके अनुसार राजा पुलकेशी ने चोल, चेर, केरल, सिंहल और कलिंग के राजाओं को अपना करद बना लिया था तथा पांडय आदि राजाओं को दंडित किया था। लेख का मुख्य उद्देश्य यह है कि राजा पुलकेशी ने शासनकाल में सेंद्रक वंशी सामंत सामियार ने अलक्तक नगर में एक जैन मंदिर बनवाया था और राजाज्ञा लेकर चंद्र ग्रहण के समय कुछ जमीन और गाँव दान में दिए थे।

पुलकेशी प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कीर्ति वर्मा था। उसने कुछ सरदारों के निवेदन पर जिन मंदिर की पूजा के लिए कुछ भूमिदान दी थी। कीर्ति वर्मा प्रथम का पुत्र पुलकेशी द्वितीय हुआ। इसके काल का एक प्रसिद्ध लेख एहोले से प्राप्त हुआ है। उसे जैन कवि रविकीर्ति ने रचा है। भारतवर्ष का तत्कालीन राजनीतिक इतिहास जानने के लिए यह लेख बड़े महत्व का है। लेखक के अनुसार पुलकेशी उत्तर भारत के सम्राट हर्षवर्धन का समकालीन था। उसने दक्षिण की ओर

बढ़ते हुए हर्षवर्धन का हर्ष विगलित कर दिया था। रविकीर्ति पुलकेशी का आश्रित था और उसने शक सं० 556 में एक जैन मंदिर बनवाया था।

इसी वंश के विक्रमादित्य द्वितीय ने पुलिगेर नगर में धवल जिनालय की मरम्मत तथा सजावट कराई थी तथा मूलसंघ देवगण के विजयदेव पंडिताचार्य के लिए जिन पूजा प्रबंध के हेतु भूमि दान दिया था।

विक्रमादित्य द्वितीय के बाद चालुक्य वंश के बुरे दिन आए। गंग और राष्ट्रकूट राजाओं ने उसका साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। लगभग 200 वर्षों तक यह फिर पनप न सका। इस काल में उसका स्थान राष्ट्रकूट वंश को मिला।

सन् 974 के लगभग तैलप द्वितीय ने इस वंश का पुनरुद्धार करके कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया। यह तैलप द्वितीय महान कन्नड़ जैन कवि रन्न का आश्रयदाता था। यह धारा नरेश मुंज और भोज का समकालीन था। इसके हाथ से ही मुंज की मृत्यु हुई थी। इसके पुत्र और उत्तराधिकारी सत्याश्रय इरिववेडेंग के जैन गुरु द्रविड़ संघ कुंदकुंदान्वय के विमलचंद्र पंडित देव थे। इसने 997 ई० से 1009 ई० तक राज्य किया।

तैलप द्वितीय का पौत्र तथा सत्याश्रय का भतीजा जयसिंह तृतीय था। यह नरेश अनेक जैन विद्वानों का आश्रयदाता था। इसके समय के प्रमुख जैन विद्वान् थे– वादिराज, दयापाल एवं पुष्पषेण सिद्धांत देव। वादिराज की एक उपाधि जगदेकमल्लवादी थी। यह उपाधि जयसिंह तृतीय ने अपने दरबार में उन्हें दी थी।

इस राजा का पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम था। इसकी उपाधियाँ आहवमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल थीं। इसने 1042 ई० से 1068 ई० तक राज्य किया। इसकी रानी केतलदेवी के अधीन चांकिराज ने त्रिभुवनतिलक जिनालय में तीन वेदियाँ बनवाईं। इस राजा ने अजितसेन भट्टारक को शब्दचतुर्मुख की उपाधि दी थी। अजितसेन भट्टारक की अन्य उपाधियाँ वादीभसिंह और तार्किक चक्रवर्ती थीं।

इस राजा के ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय ने भी जैन धर्म का संरक्षण किया था। इसने सन् 1074 में शांतिनाथ मंदिर के लिए मूलसंघान्वय तथा काणूरगण के कुलचंद्रदेव को भूमिदान किया था।

सोमेश्वर द्वितीय के भाई विक्रमादित्य षष्ठ ने सन् 1076 से 1126 तक राज्य किया। यह बड़ा प्रतापी था। इसी को लेकर कवि विल्हण ने विक्रमांकदेव चरित काव्य लिखा है। इसकी एक उपाधि गंगपेर्मानडि थी क्योंकि उसकी माँ गंग वंश की राजकुमारी थी। उसने चालुक्य गंगपेर्मानडि चैत्याल्य बनवाया था और उसके प्रबंध के लिए एक गाँव मूलसंघ, सेनगण और पोगरिगच्छ के रामसेन मुनि को दान में दिया था। इस राजा ने बेलगोला प्रदेश में कई जिनालय बनवाए थे जिन्हें राजाधिराज चोल ने जला दिया।

पूर्वीय चालुक्य वंश की शाखा की परंपरा पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्धन से चलती है। इसने सन् 615 से 623 ई० तक राज्य किया था। इस वंश के कुछ राजाओं ने जैन धर्म का अच्छी तरह संरक्षण किया था। अम्माराज विजयादित्य ने कटकाभरण जिनालय की पूजादि के हेतु यापनीय संघ नंदिगच्छ के एक मुनि को ग्राम दान में दिया था तथा सर्वलोकाश्रय जिन भवन की मरम्मत आदि के लिए बलहारिगण, अडुकलि गच्छ के अर्हनंदि मुनि को कल चुंबरु नामक ग्राम दान में दिया था।

9. कालाचुरि राज्य में जैनों का विनाश

चालुक्यों का राज्य बहुत थोड़े समय तक ही रहा क्योंकि उन्हें कालाचुरियों ने निकाल बाहर किया। यद्यपि कालाचुरियों का राज्य भी बहुत थोड़े समय तक ही रह सका किंतु जैन धर्म के विनाश की दृष्टि से वह स्मरणीय है।

मान कालाचुरि नरेश विज्जल जैन था। किंतु उसका समय लिंगायत संप्रदाय के उद्‌गम और शिवभक्ति के पुनरुज्जीवन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। विज्जल के अत्याचारी मंत्री बसव के नेतृत्व में इस संप्रदाय ने जैनों को बहुत कष्ट दिया।

विज्जलराल चरित के अनुसार बसव ने अपने स्वामी जैन राजा विज्जल की हत्या के लिए क्या-क्या नहीं किया। फलतः उसे देश से निकाल दिया गया और निराश होकर वह स्वयं एक कुएँ में गिर गया। किंतु उसके अनुयायियों ने उसके इस प्राण त्याग को धर्म पर बलिदान का रूप दिया और लिंगायत संप्रदाय के विषय में ललित और सरल भाषा में साहित्य तैयार करके देश में सर्वत्र वितरित किया तथा जिन लिंगायत नेताओं ने कालाचुरि साम्राज्य के अंदर जैनों के विनाश में बहुत बड़ी सहायता की। उनके नामों के चारों ओर अनेक कपोलकल्पित कथाएँ जुड़ गईं। ऐसी एक कथा जो उस समय के शिलालेखों में अंकित है यहाँ दी जाती है–

शिव और पार्वती एक शैव संत के साथ कैलाश पर्वत पर विचर रहे थे। इतने में नारद आए, उन्होंने जैनों और बौद्धों की बढ़ती हुई शक्ति की सूचना दी। शिव ने वीरभद्र को आज्ञा दी कि तुम संसार में जाकर मानव योनि में जन्म लो और इन धर्मों को नष्ट करो। आज्ञानुसार वीरभद्र ने पुरुषोत्तम पट्ट नाम के व्यक्ति को स्वप्न दिया कि मैं तुम्हारे घर में पुत्र रूप में जन्म लूँगा। स्वप्न सत्य हुआ। बालक का नाम राम रखा गया और शैव के रूप में उसका लालन-पालन हुआ। शिव का भक्त होने से उसे एकांतद रामैय्या कहते थे। किंवदंती के अनुसार यह रामैय्या ही उस देश में जैन धर्म के विनाश के लिए उत्तरदायी है।

कथा में लिखा है कि एक दिन रामैय्या शिव की पूजा कर रहा था। उस समय जैनों ने उसे चुनौती दी कि वह अपने देवता का देवत्व सिद्ध करे। रामैय्या ने स्वीकार

कर लिया। यह तय हुआ कि रामैय्या अपना सिर काटकर फिर जोड़ दे। यदि वह ऐसा कर सका तो जैनों ने अपने मंदिर खाली करके उस देश को छोड़ देने का वचन दिया। रामैय्या ने सिर काटकर फिर जोड़ दिया और जैनों से अपना वादा पूरा करने के लिए कहा। जैनों ने अस्वीकार कर दिया। यह सुनते ही रामैय्या ने जैनों के मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारंभ किया। जैनों ने विज्जल से जाकर शिकायत की। विज्जल शैवों पर बहुत क्रुद्ध हुआ। किंतु रामैय्या ने विज्जल को अपना चमत्कार दिखाकर शैव बना लिया। विज्जल ने जैनों को आदेश दिया कि वे शैवों के साथ शांतिपूर्वक बर्ताव करें।[1]

कालाचुरि राज्य में जैनों के विनाश की साक्षी देने वाली इस तरह की कथाएँ और घटनाएँ शैव ग्रंथों में अनेक मिलती हैं।

10. विजयनगर राज्य में जैन धर्म

इस तरह दक्षिण भारत में यद्यपि जैन धर्म राजाश्रय विहीन हो गया फिर भी गुणग्राही राजा लोग जैन गुरुओं, विद्वानों और नेताओं का यथोचित आदर करते थे। ऐसे राजाओं में विजयनगर साम्राज्य के शासकों का नाम उल्लेखनीय है। यह राज्य वैदिक धर्म का पोषक था किंतु इसके राजा विभिन्न मत वालों के प्रति उदारता का व्यवहार करते थे तथा इस राज्य के उच्चपदस्थ कर्मचारियों में अधिकांश जैन धर्मावलंबी थे। इसलिए राजाओं को भी जैन धर्म का विशेष ख्याल रखना पड़ता था।

हरिहर द्वितीय के सेनापति इरुगप्प कट्टर जैन धर्मानुयायी थे। उन्होंने 59 वर्ष तक विजयनगर राज्य के ऊँचे पदों को योग्यतापूर्वक निवाहा और जैन धर्म की उन्नति के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। इरुगप्प के अन्य सहयोगियों ने भी जैन धर्म की पूरी सहायता की और उसके प्रचार में काफी योगदान दिया।

विजयनगर की रानियाँ भी जैन धर्म पालती थीं। श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख से देवराय महाराज की रानी भीमादेवी का जैन होना प्रकट है।

1368 के एक शिलालेख से पता चलता है कि जैनों ने वुक्काराय प्रथम से प्रार्थना की कि वैष्णव लोग जैनों के साथ अन्याय करते हैं। राजा ने काफी जाँच-पड़ताल के बाद जैनों और वैष्णवों में मेल करा दिया तथा यह आज्ञा प्रकाशित की–

'यह जैन दर्शन पहले की ही भाँति पंच महाशब्द और कलश का अधिकारी है। यदि कोई वैष्णव किसी भी प्रकार जैनियों को क्षति पहुँचाए तो वैष्णवों को उसे वैष्णव धर्म की क्षति समझना चाहिए। वैष्णव लोग जगह-जगह इस बात की ताकीद के लिए

1. स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० 113

शासन कायम करें। जब तक सूर्य और चंद्र का अस्तित्व है तब तक वैष्णव लोग जैन दर्शन की रक्षा करेंगे। वैष्णव और जैन एक ही हैं। उन्हें अलग-अलग नहीं समझना चाहिए। वैष्णवों और जैनों से जो कर लिया जाता है, उससे श्रवणबेलगोला के रक्षकों की नियुक्ति की जाए और नियुक्ति वैष्णवों के द्वारा हो तथा उससे जो द्रव्य बचे उससे जिनालयों की मरम्मत कराई जाए और उन पर चूना पोता जाए। इस प्रकार वे प्रतिवर्ष धन दान देने से न चूकेंगे और यश तथा सम्मान प्राप्त करेंगे। जो इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह राजद्रोही और संप्रदायद्रोही होगा।'

एक दूसरे शिलालेख से जैनों और वीर शैवों के विवाद का पता चलता है। यह लेख 1638 ई० का है। यह जैन धर्म की प्रशंसा से शुरू होता है और शिव की प्रशंसा से इसका अंत होता है।

मामला यह था कि किसी वीर शैव ने विजयपार्श्व वसदि के खंबे पर शिवलिंग की स्थापना कर दी और विजयप्पा नाम के एक धनी जैन व्यापारी ने उसे नष्ट कर दिया। इससे बड़ा क्षोभ फैला और जैनों ने वीर शैव मत के नेताओं के पास इस मामले के निपटारे के लिए प्रार्थना की। यह निश्चय किया गया कि जैन लोग पहले विभूति और बेलपत्र शिवलिंग को चढ़ाकर अपनी आराधना-पूजन करें। इसके उपलक्ष्य में वीर शैव ने जैनियों के प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित करने के लिए उक्त निर्णय में इतना जोड़ दिया– जो कोई भी जैन धर्म का विरोध करेगा वह शिवद्रोही समझा जाएगा। वह विभूति रुद्राक्ष तथा काशी और रामेश्वर के शिवलिंगों का द्रोही समझा जाएगा। शिलालेख के अंत में 'जिन शासन की जय हो' इस आशय का वाक्य लिखा हुआ है।

इस तरह चौदहवीं शती में आकर सांप्रदायिक द्वेष कुछ कम हुआ और जैन धर्म का दक्षिण भारत से यद्यपि समूल नाश तो नहीं हो सका, फिर भी वह क्षीणप्रभ हो गया।

सिद्धांत

1. जैन धर्म क्या है?

जैन धर्म के सिद्धांत जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैन धर्म है क्या? जैन धर्म शब्द दो शब्दों के मेल से बना है– एक शब्द है 'जैन' दूसरा शब्द 'धर्म'। जैसे विष्णु को देवता मानने वाले वैष्णव और शिव को देवता मानने वाले शैव कहलाते हैं, तथा उनके धर्म को वैष्णव धर्म या शैव धर्म कहते हैं, वैस ही 'जिन' को देवता मानने वाले जैन कहलाते हैं और उनके धर्म को जैन धर्म कहते हैं। साधारणतया 'जैन धर्म' का यही अर्थ समझा जाता है किंतु इसका दूसरा अर्थ भी है, जो इस अर्थ से कहीं महत्वपूर्ण है। वह अर्थ है– 'जिन' के द्वारा कहा गया धर्म अर्थात् 'जिन' ने जिस धर्म का कथन किया है, उपदेश किया है वह धर्म है जैन धर्म। शैव धर्म या वैष्णव धर्म में यह अर्थ नहीं घटता; क्योंकि शिव या विष्णु ने स्वयं किसी धर्म का उपदेश नहीं किया। वे तो देवता माने गए हैं और बाद में जब बहुदेवतावाद के स्थान में एकेश्वर भावना का उदय हुआ तो दोनों ईश्वर के रूप में कहलाए। पीछे से श्रीकृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार मान लिया गया। उनके भक्तों का धर्म तो मूल में वेदविहित क्रियानुष्ठान ही है। किंतु 'जिन' ईश्वरीय अवतार नहीं होते, वे तो स्वयं अपने पौरुष के बल पर अपने काम-क्रोधादि विकारों को जीतकर 'जिन' बनते हैं। 'जिन' शब्द का अर्थ होता है– जीतने वाला। जिसने अपने आत्मिक विकारों पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर ली वही 'जिन' है। जो 'जिन' बनते हैं वे प्राणियों में से ही बनते हैं। प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। जीवात्मा और परमात्मा में इतना ही अंतर है कि जीवात्मा अशुद्ध होता है, काम-क्रोधादि विकारों और उनके कारण कर्मों से घिरा होता है, जिनकी वजह से उसके स्वाभाविक गुण-अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रकट नहीं हो पाते। जब वह उन कर्मों का नाश कर देता है तो वही परमात्मा बन जाता है, वही 'जिन' कहलाता है। 'जिन' हो जाने पर प्रत्येक जीव सर्वज्ञ और वीतराग हो जाता है। उसे सबका ज्ञान रहता है और उसके अंदर से राग और द्वेष का मूलोच्छेद हो जाता है। उस अवस्था में वह तो उपदेश देता है वह उपदेश प्रामाणिक होता है; क्योंकि अप्रामाणिकता के दो ही कारण हैं, एक अज्ञान और दूसरा रागद्वेष। मनुष्य या तो

अज्ञान से, ज्ञान न होने से नासमझी के कारण गलत बात बोलता है या ज्ञानवान होकर भी किसी से राग और किसी से द्वेष होने से गलत बात बोलता है। उदाहरण के लिए, जैन पुराणों में और महाभारत में एक कथा है।

जैन पुराणों के अनुसार नारद, पर्वत और वसु ये तीनों गुरुभाई थे। इनमें से पर्वत गुरुपुत्र था और शेष दोनों उसके पिता के शिष्य थे। एक बार 'अजैर्यष्टव्यम्' के अर्थ के संबंध में नारद और पर्वत में विवाद हुआ। महाभारत के अनुसार देवताओं और ऋषियों में विवाद हुआ। पर्वत या देवताओं का कहना था इसका अर्थ है 'बकरे से हवन करना चाहिए' और नारद या ऋषियों का कहना था कि इसका अर्थ है 'पुराने धान्य से हवन करना चाहिए। दोनों पक्ष राजा वसु के पास गए। वसु सत्यवादी था, इसलिए उसका सिंहासन पृथ्वी से ऊपर उठा रहता था। किंतु वसु ने गुरुपुत्र पर्वत या देवताओं के प्रेमवश जानते हुए भी यह फैसला दिया कि जो पर्वत या देवता कहते हैं वही ठीक है। इस असत्यवादिता के कारण वसु का सिंहासन पृथ्वी में धँस गया। यहाँ पर्वत तो अज्ञान से 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ गलत बताता था किंतु वसु ने जानते हुए भी गुरुपुत्र के प्रेमवश झूठ बोला। अतः असत्य बोलने के दो ही कारण हैं अज्ञान और रागद्वेष। इन दोनों के नष्ट हो जाने से 'जिन' सत्यवादी होते हैं और उनकी सत्यवादिता का प्रबल प्रमाण है, उनके द्वारा कहा गया स्याद्वाद सिद्धांत, जो वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण किंतु सत्यदर्शन करने वाले सभी व्यक्तियों के साथ न्याय करने का मार्ग बतलाता है।

प्रत्येक धर्म के दो अंग होते हैं– विचार और आचार। जैन धर्म के विचारों का मूल स्याद्वाद और आचार का मूल है अहिंसा, न किसी के विचारों के साथ अन्याय हो और न किसी प्राणी के जीवन के साथ खिलवाड़ हो। सभी सबके विचारों को समझें और सबके जीवन की रक्षा करें। यही उन जिनों के उपदेश का मूल है। इसी से उन्हें हितोपदेशी कहा जाता है। वे किसी व्यक्ति विशेष, वर्ग विशेष या संप्रदाय विशेष के हित की दृष्टि से उपदेश नहीं देते। वे तो प्राणी मात्र के हित की दृष्टि से उपदेश देते हैं। वे केवल मनुष्यों के ही हित की बात नहीं बतलाते, किंतु जंगम और स्थावर सभी प्राणियों के हित की बात बतलाते हैं। उनका मूलमंत्र ही यह है– 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'– किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो। न वे पशुओं को बध्य बतलाते हैं और न किसी वर्ग विशेष को अबध्य। उनकी वीतराग दृष्टि में सब बराबर हैं। न वे ब्राह्मण की पूजा करने का उपदेश देते हैं और न चांडाल से घृणा करने का। ऐसे वे वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी 'जिन' होते हैं और उनके द्वारा जो उपदेश दिया जाता है वही जैन धर्म कहलाता है।

अन्य धर्मों ने भी सर्वज्ञाता को ही अपने-अपने धर्म का प्रवर्तक माना है, क्योंकि जो अल्पज्ञ है, अज्ञानी है उससे सार्वत्रिक और सार्वदेशिक सत्य उपदेश मिलने की आशा नहीं की जा सकती। किंतु उन्होंने ईश्वर, खुदा या गॉड को सर्वज्ञ मानकर उसी को अपने-अपने धर्म का प्रवर्तक माना है। उनमें भी जो ईश्वर को नहीं मानते, उन्होंने वेद को अपने धर्म का मूल माना है, किंतु वे वेद को किसी पुरुष के द्वारा रचा गया नहीं मानते और इस तरह प्रायः सभी धर्मों ने पुरुष को अल्पज्ञ मानकर उसे अपने धर्म का प्रवर्तक स्वीकार नहीं किया। किंतु पुरुष के मध्य में हुए बिना न तो ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न उसके अर्थ का व्याख्यान हो सकता है; क्योंकि ईश्वर एवं शरीर रहित होने से हमें अपना ज्ञान किसी न किसी पुरुष के द्वारा ही दे सकता है तथा उसका व्याख्यान भी पुरुष ही कर सकता है। किंतु यदि वह पुरुष अल्पज्ञ हुआ या रागद्वेषी हुआ तो उसके व्याख्यान में भ्रम भी हो सकता है। अतः उसे भी कम से कम विशिष्ट ज्ञानी तो मानना ही पड़ता है। यह सब इसलिए किया गया है कि वे धर्म पुरुष की सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि से पुरुष की आत्मा का इतना विकास नहीं हो सकता। किंतु जैन धर्म इस तरह के किसी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता। वह जीवात्मा का सर्वज्ञ हो सकना स्वीकार करता है। अतः जैन धर्म किसी ईश्वर या किसी स्वयं सिद्ध पुस्तक के द्वारा नहीं कहा गया है। बल्कि मानव के द्वारा, उस मानव के द्वारा जो कभी हम ही जैसा अल्पज्ञ और रागद्वेषी था किंतु जिसने अपने पौरुष से प्रयत्न करके अपनी अल्पज्ञता और रागद्वेष के कारणों से अपनी आत्मा को मुक्त कर लिया और इस तरह वह सर्वज्ञ और वीतरागी होकर 'जिन' बन गया, कहा गया है। अतः 'जिन' हुए उस मानव के अनुभवों का सार ही जैन धर्म है।

अब हम 'धर्म' शब्द के बारे में विचार करेंगे। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ पाए जाते हैं– एक वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं जैसे अग्नि का जलाना धर्म है, पानी की शीतलता धर्म है, वायु का बहना धर्म है, आत्मा का चैतन्य धर्म है और दूसरा आचार या चारित्र को धर्म कहते हैं। इस दूसरे अर्थ को कोई इस प्रकार भी कहते हैं– जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। चूँकि आचार या चारित्र से इनकी प्राप्ति होती है। इसलिए चारित्र ही धर्म है। इस प्रकार धर्म शब्द से दो अर्थों का बोध होता है– एक वस्तु स्वभाव का और दूसरे चारित्र या आचार का। इनमें स्वभाव रूप धर्म तो क्या जड़ और क्या चेतन, सभी पदार्थों में पाया जाता है। क्योंकि संसार ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका कोई स्वभाव न हो। किंतु आचार रूप धर्म केवल चेतन आत्मा में ही पाया जाता है। इसलिए धर्म का संबंध आत्मा से है। प्रत्येक तत्वदर्शी धर्म प्रवर्तक ने केवल आचार रूप धर्म का ही उपयोग नहीं किया किंतु वस्तु स्वभाव रूप धर्म का भी उपदेश दिया है जिसे दर्शन कहा जाता है। इसी से प्रत्येक धर्म

अपना एक दर्शन भी रखता है। दर्शन में, आत्मा क्या है? परलोक क्या है? विश्व क्या है? ईश्वर क्या है? आदि समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है और धर्म के द्वारा आत्मा को परमात्मा बनने का मार्ग बतलाया जाता है। यद्यपि दर्शन और धर्म या वस्तु स्वभाव रूप धर्म और आचार रूप धर्म दोनों अलग-अलग विषय हैं परंतु इन दोनों का परस्पर में घनिष्ठ संबंध है। उदाहरण के लिए, जब आचार रूप धर्म आत्मा को परमात्मा बनने का मार्ग बतलाता है तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा का स्वभाव क्या है? दोनों में अंतर क्या है और क्यों है? यह जाने बिना आचार का पालन वैसे ही लाभकारी नहीं हो सकता जैसे सोने के गुण और स्वभाव से अनजान आदमी यदि सोने को शोधने का प्रयत्न भी करे तो उसका प्रयत्न लाभकारी नहीं हो सकता तथा यह बात सर्वविदित है कि विचार के अनुसार ही मनुष्य का आचार होता है। उदाहरण के लिए, जो यह मानता है कि आत्मा नहीं है और न परलोक है उसका आचार सदा भोग प्रधान ही रहता है और जो यह मानता है कि आत्मा है परलोक है, प्राणी अपने-अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार फल भोगता है उसका आधार उससे बिलकुल विपरीत ही होता है।

अतः विचारों का मनुष्य के आचार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसी से दर्शन का प्रभाव धर्म पर बड़ा गहरा होता है और एक को समझे बिना दूसरे को नहीं समझा जा सकता। अतः जैन धर्म का भी एक दर्शन है जो जैन दर्शन कहा जाता है किंतु चूँकि वह वस्तु स्वभाव रूप धर्म में ही अंतर्भूत हो जाता है, अतः उसे भी हम धर्म का ही एक अंग समझते हैं और इसलिए जैन धर्म से 'जिन' देव के द्वारा कहा हुआ विचार और आचार दोनों ही लेना चाहिए।

प्रकारांतर से भी धर्म के भेद किए जाते हैं एक साध्य रूप धर्म और दूसरा साधन रूप धर्म। परमात्मत्व साध्य रूप धर्म है और आचार या चारित्र साधन रूप धर्म है, क्योंकि आचार या चारित्र के द्वारा ही आत्मा परमात्मा बनता है। अतः यहाँ दोनों ही प्रकार के धर्मों का निरूपण किया जाता है।

2. जैन दर्शन का प्राण

अनेकांतवाद

ऊपर वर्णित है कि जैन विचार का मूल स्याद्वाद या अनेकांतवाद है। अतः प्रथम उसे समझ लेना आवश्यक है।

जैन दृष्टि से इस विश्व के मूलभूत तत्व दो भागों में विभाजित हैं एक जीवतत्त्व और दूसरा अजीव या जड़तत्व। अजीव या जड़तत्व भी पाँच भागों में विभाजित है–

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस तरह यह संसार इन छह तत्वों से बना हुआ है। इन छहों को छह द्रव्य कहते हैं। इन छह द्रव्यों के सिवा संसार में अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ है उसका समावेश इन्हीं छह द्रव्यों में हो जाता है। गुण, क्रिया, संबंध आदि जो अन्य तत्व दूसरे दार्शनिकों ने माने हैं, जैन दृष्टि से सब द्रव्य की ही अवस्थाएँ हैं, उससे पृथक् नहीं, क्योंकि जो कुछ सत् हैं वह संबंध द्रव्य है। सत् ही द्रव्य का लक्षण है। असत् या अभाव नामक कोई स्वतंत्र तत्व जैन दर्शन में नहीं है। किंतु जो सत् है दृष्टि भेद से वही असत् भी है। न कोई वस्तु केवल सत्स्व रूप ही है और न कोई वस्तु केवल असत्स्व रूप ही है। यदि प्रत्येक वस्तु को केवल सत्स्व रूप ही माना जाएगा तो सब वस्तुओं के सर्वथा सत्स्व रूप होने से उन वस्तुओं के बीच में जो अंतर देखने में आता है, उसका लोप हो जाएगा और उसके लोप हो जाने से सब वस्तुएँ सत् रूप हो जाएगी। उदाहरण के लिए– घट (घड़ा) और पट (कपड़ा) ये दोनों वस्तुएँ हैं, घट भी वस्तु है और पट भी वस्तु है। किंतु जब हम किसी से घट लाने को कहते हैं तो वह घट ही लाता है, पट नहीं लाता और जब पट लाने को कहते हैं तो वह पट ही लाता है, घट नहीं लाता है। न घट पट है और न पट घट है, किंतु हैं दोनों। परंतु दोनों का अस्तित्व अपनी-अपनी मर्यादा में ही सीमित है, उसके बाहर नहीं है। यदि वस्तुएँ इस मर्यादा का उल्लंघन कर जाएँ तो फिर घट और पट की तो बात ही क्या, सभी वस्तुएँ सब रूप हो जाएँगी और इस तरह से संकर दोष उपस्थित होगा। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूप की अपेक्षा से सत् कही जाती है और पररूप की अपेक्षा से असत् कही जाती है। इसी दृष्टांत को गुरु-शिष्य के संवाद के रूप में यहाँ दिया जाता है। उससे पाठक और भी अधिक स्पष्ट रूप से उसे समझ सकेंगे।

गुरु– एक मनुष्य अपने सेवक को आज्ञा देता है कि 'घट लाओ' तो सेवक तुरंत घट ले आता है और वस्त्र लाने की आज्ञा देता है तो वह वस्त्र उठा लाता है। यह तुम व्यवहार में प्रतिदिन देखते हो। किंतु क्या कभी तुमने इस बात पर विचार किया है कि सुनने वाला 'घट' शब्द सुनकर घट ही क्यों लाता है और वस्त्र शब्द सुनकर वस्त्र ही क्यों लाता है?

शिष्य– घट को घट कहते हैं, वस्त्र को वस्त्र कहते हैं इसलिए जिस वस्तु का नाम लिया जाता है, सेवक उसे ही ले आता है।

गुरु– घट को ही घट क्यों कहते हैं? वस्त्र को घट क्यों नहीं कहते?

शिष्य– घट का काम घट ही दे सकता है, वस्त्र नहीं दे सकता।

गुरु– घट का काम घट ही क्यों देता है, वस्त्र क्यों नहीं देता।

शिष्य– यह तो वस्तु का स्वभाव है, इसमें प्रश्न के लिए स्थान नहीं है।

गुरु– क्या तुम्हारे कहने का यह अभिप्राय है कि जो स्वभाव घट का है वह वस्त्र का नहीं और जो वस्त्र का है वह घट का नहीं?

शिष्य– जी हाँ! प्रत्येक वस्तु अपना अलग स्वभाव रखती है।

गुरु– अब तुम यह बताओ कि क्या हम घट को असत् भी कह सकते हैं?

शिष्य– हाँ, घट के फूट जाने पर असत् कहते ही हैं।

गुरु– टूट-फूट जाने पर तो प्रत्येक वस्तु असत् कही जाती है। हमारा मतलब है कि क्या घट के रहते हुए भी असत् कहा जा सकता है?

शिष्य– नहीं, कभी नहीं, जो 'है' वह 'नहीं' कैसे हो सकता है?

गुरु– किनारे पर आकर फिर बहना चाहते हो। अभी तुम स्वयं स्वीकार कर चुके हो कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव अलग-अलग होता है और वह स्वभाव उसी वस्तु में रहता है दूसरी वस्तु में नहीं।

शिष्य– हाँ, यह तो मैं अब भी स्वीकार करता हूँ, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाएगा तो आग पानी हो जाएगी और पानी आग हो जाएगा। कपड़ा मिट्टी हो जाएगा और मिट्टी कपड़ा हो जाएगी। कोई भी वस्तु अपने स्वभाव में स्थिर न रह सकेगी।

गुरु– यदि हम तुम्हारी ही बात को इस तरह से कहें कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से है परस्वभाव से नहीं है तो तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं?

शिष्य– नहीं, इसमें किसको आपत्ति हो सकती है।

गुरु– अब तुमसे फिर पहला प्रश्न किया जाता है कि क्या मौजूदा घट को असत् कह सकते हैं?

शिष्य– (चुप)

गुरु– चुप क्यों हो? क्या फिर भ्रम में पड़ गए हो?

शिष्य– पर स्वभाव की अपेक्षा से मौजूदा घट को भी असत् कह सकते हैं।

गुरु– अब रास्ते पर आए हो। अब हम किसी वस्तु को सत् कहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उस वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से ही उसे सत् कहा जाता है। अपने से अन्य वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से संसार की प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्त का पुत्र संसार भर के मनुष्यों का पुत्र नहीं है और न देवदत्त संसार भर के पुत्रों का पिता है। क्या इससे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि देवदत्त का पुत्र पुत्र है और नहीं भी है। इसी तरह देवदत्त पिता है और नहीं भी है। अतः संसार में जो कुछ है वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है।

किंतु जब जैन दर्शन यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है तो श्रोता इसे असंभव समझता है क्योंकि जो सत् है वह असत् कैसे हो सकता है। परंतु ऊपर बताए गए जिन दृष्टिकोणों को लक्ष्य करके जैन दर्शन वस्तु को सत् और असत् कहता है। यदि उन दृष्टिकोणों को भी समझ लिया जाए तो फिर उसे असंभव कहने का साहस नहीं हो सकता। किंतु जिसे समझने में बादरायण जैसे सूत्रकारों और शंकराचार्य जैसे उसके व्याख्याताओं को भी भ्रम हुआ, उसमें यदि साधारणजनों को व्यामोह हो तो अचरज ही क्या है।

बादरायण के सूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' (2-5-33) की व्याख्या करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने इस सिद्धांत पर जो सबसे बड़ा दूषण दिया है वह 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है और नहीं भी है' ऐसा कहना अनिश्चितता को बतलाता है। अर्थात् इससे वस्तु का कोई निश्चित स्वरूप नहीं रहता और अनिश्चितता संशय की जननी है। अतः यदि जैन सिद्धांत के अनुसार वस्तु अनिश्चित है तो उसमें निःसंशय प्रवृत्ति नहीं हो सकती। किंतु ऊपर के उदाहरणों से इस आपत्ति का परिहार स्वयं हो जाता है। हम व्यवहार में भी परस्पर विरोधी दो धर्म एक ही वस्तु में पाते हैं– जैसे भारत स्वदेश भी है और विदेश भी, देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी। इसमें न कोई अनिश्चितता है और न संशय। क्योंकि भारतीयों की दृष्टि से भारत स्वदेश है और विदेशियों की दृष्टि से विदेश है। यदि कोई भारतीय भारत को स्वदेश ही समझता है तो वह भारत को केवल अपने ही दृष्टिकोण से देखता है। दूसरे भारतीयेतर के दृष्टिकोण से नहीं, और इसलिए उसका भारत दर्शन एकांगी है। पूर्ण दर्शन के लिए सब दृष्टिकोणों को दृष्टि में रखना आवश्यक है। अतः शंकराचार्य का यह कथन कि– [1]'एक धर्मी में परस्पर में विरुद्ध सत्व और असत्व धर्मों का होना असंभव है; क्योंकि सत्व धर्म के रहने पर असत्व धर्म नहीं रह सकता और असत्व धर्म के रहने पर सत्व धर्म नहीं रहता। अतः आर्हत मत असंगत है।' कहाँ तक संगत है यह निष्पक्ष पाठक ही विचार करें।

स्याद्वाद

इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का समूह है तो उस अनेक धर्मात्मक वस्तु का जानना उतना कठिन नहीं है, जितना शब्दों के द्वारा उसे कहना कठिन है क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मों को एक साथ जान सकता है। किंतु एक शब्द एक समय में वस्तु के एक ही धर्म का आंशिक व्याख्यान कर सकता है। इस पर भी शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचन व्यवहार करता है। जैसे, देवदत्त को एक ही समय

1. ब्रह्मसूत्र 2-2-33 का शांकरभाष्य

उसका पिता भी पुकारता है और उसका पुत्र भी पुकारता है। पिता उसे 'पुत्र' कहकर पुकारता है और उसका पुत्र उसे 'पिता' कहकर पुकारता है। किंतु देवदत्त न केवल पिता ही है और न केवल पुत्र ही है किंतु पिता भी है और पुत्र भी है। इसलिए पिता की दृष्टि से देवदत्त का पुत्रत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं और पुत्र की दृष्टि से देवदत्त का पितृत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं, क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु में से जिस धर्म की विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य कहलाता है और इतर धर्म गौण। अतः जब वस्तु अनेक धर्मात्मक प्रमाणित हो चुकी और शब्द में इतनी सामर्थ्य नहीं पाई गई जो उसके पूरे धर्मों का कथन एक समय में कर सके तथा प्रत्येक वक्ता अपनी-अपनी दृष्टि से वचन व्यवहार करता हुआ देखा गया तो वस्तु का स्वरूप समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, इसलिए स्याद्वाद का आविष्कार हुआ।

'स्याद्वाद' सिद्धांत के अनुसार विवक्षित धर्म से इतर धर्मों का द्योतक या सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्त रूप से संबद्ध रहता है। 'स्यात्' शब्द का अभिप्राय 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा' से है। अतः संसार में जो कुछ है वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। इसी अपेक्षावाद का सूचक 'स्यात्' शब्द है, जिसका प्रयोग अनेकांतवाद के लिए आवश्यक है, क्योंकि 'स्यात्' शब्द के बिना 'अनेकांत' का प्रकाशन संभव नहीं है। अतः अनेकांत दृष्टि से प्रत्येक वस्तु 'स्यात् सत्' और 'स्यात् 'असत्' है।

कोई कोई विद्वान् 'स्यात्' शब्द का प्रयोग 'शायद' के अर्थ में करते हैं। किंतु शायद शब्द अनिश्चितता का सूचक है जबकि स्यात् शब्द एक निश्चित अपेक्षावाद का सूचक है। इस प्रकार अनेकांतवाद का फलितार्थ स्याद्वाद है, क्योंकि स्याद्वाद के बिना अनेकांतवाद का प्रकाशन संभव नहीं है। अतः एक ही वस्तु के संबंध में उत्पन्न हुए विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है।

हम ऊपर लिख आए हैं कि शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। अतः प्रत्येक वस्तु में दोनों धर्मों के रहने पर भी वक्ता अपने-अपने दृष्टिकोण से उन धर्मों का उल्लेख करते हैं; जैसे– दो आदमी कुछ खरीदने के लिए एक दुकान पर जाते हैं। वहाँ किसी वस्तु को एक अच्छी बताता है और दूसरा उसे बुरी बताता है। दोनों में बात बढ़ जाती है। तब तीसरा आदमी उन्हें समझाता है– 'भई'! क्यों झगड़ते हो? यह वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। तुम्हारे लिए अच्छी है और इनके लिए बुरी है। अपनी-अपनी दृष्टि ही तो है। ये तीनों व्यक्ति तीन प्रकार का वचन व्यवहार करते हैं। पहला विधि करता है, दूसरा निषेध और तीसरा विधि और निषेध।

वस्तु के उक्त दोनों धर्मों को यदि कोई एक साथ कहना चाहे तो नहीं कह सकता, क्योंकि एक शब्द एक समय में विधि और निषेध में से एक का ही कथन

कर सकता है, ऐसी अवस्था में वस्तु अवाच्य ठहरती है। अर्थात् उसे शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता। उक्त चार वचन व्यवहारों को दार्शनिक भाषा में स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् सदसत् और स्यात् अवक्तव्य कहते हैं। सप्तभंगी के मूल यही चार भंग हैं। इन्हीं के संयोग से सात भंग होते हैं। अर्थात् चतुर्थ भंग स्यात् अवक्तव्य के साथ क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे भंग को मिलाने से पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भंग बनता है। किंतु लोक व्यवहार में मूल चार तरह के वचनों का व्यवहार देखा जाता है।

स्वामी[1] शंकराचार्य ने चौथे भंग 'स्यादवक्तव्य' पर भी आपत्ति की है। वे कहते हैं कि– 'पदार्थ अवक्तव्य भी नहीं हो सकते। यदि वे अवक्तव्य हैं तो उनका कथन नहीं किया जा सकता है। कथन भी किया जाए और अवक्तव्य भी कहा जाए ये दोनों बातें परस्पर में विरुद्ध हैं।' किंतु यदि जैन वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहते तब तो आचार्य शंकर का उक्त दोषदान उचित होगा। किंतु वे तो अपेक्षा भेद से अवक्तव्य कहते हैं, उसी का सूचन करने के लिए स्यात् शब्द अवक्तव्य के साथ लगाया है जो बतलाता है कि वस्तु सर्वथा अवक्तव्य नहीं है किंतु किसी एक दृष्टिकोण से अवक्तव्य है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य शंकर स्याद्वाद को समझ नहीं सके। इसलिए स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉक्टर गंगानाथ झा ने लिखा है–

'जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धांत का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धांत में बहुत कुछ है। जिसे वेदांत के आचार्यों ने नहीं समझा। और जो कुछ मैं अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ, उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूलग्रंथों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।'

हिंदू विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्रीफणिभूषण अधिकारी ने श्रीस्याद्वाद महाविद्यालय काशी के वार्षिकोत्सव के अध्यक्ष पद से अपने भाषण में कहा था–

'जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धांत को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं है। उन्होंने भी इस सिद्धांत के प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी। किंतु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान्

---

1. न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति। अवक्तव्यश्चेन्नोच्येरन्।
   उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्।– ब्रह्मसू० शां० 2-2-33

विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन शास्त्र के मूलग्रंथों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।'

ऐसी स्थिति में भी जब हम किसी विद्वान् को[1], उस विद्वान् को जो कि अनेकांतवाद को संशयवाद का रूपांतर नहीं मानते और उसे जैन दर्शन की बहुमूल्य देन स्वीकार करते हैं, यह लिखते हुए पाते हैं कि शंकराचार्य ने, स्याद्वाद का मार्मिक खंडन अपने शारीरिक भाष्य में प्रबल युक्तियों के द्वारा किया है तो हमें अचरज होता है, अस्तु।

सप्त भंगीवाद का विकास दार्शनिक क्षेत्र में हुआ था, इसलिए उसका उपयोग भी वहीं हुआ। उपलब्ध जैनवाङ्मय में दार्शनिक क्षेत्र में सप्तभंगीवाद को चरितार्थ करने का श्रेय सर्वप्रथम स्वामी समंतभद्र को ही प्राप्त है। उन्होंने अपनी आप्तमीमांसा[2] में सांख्य को सदैकांतवादी, माध्यमिक को असदैकांतवादी, वैशेषिक को सदसदैकांतवादी और बौद्ध को अवक्तव्यैकांतवादी बतलाकर मूल चार भंगों का उपयोग किया और शेष तीन भंगों का उपयोग करने का संकेत मात्र कर दिया। उनके पश्चात् आप्तमीमांसा पर 'अष्टशती'[3] नामक भाष्य के रचयिता श्री अकलंकदेव ने शेष तीन भंगी का उपयोग करके उस कमी को पूरा कर दिया। उनके मत से शंकराचार्य का अनिर्वचनीयवाद सदवक्तव्य बौद्धों का अन्यापोहवापद असदवक्तव्य और यौग का पदार्थवाद सदसदवक्तव्य कोटि में गर्भित है इस तरह सातों भंगों का उपयोग हो जाता है।

3. द्रव्य व्यवस्था

जैन दर्शन के मूलतत्व अनेकांतवाद और उसके फलितार्थ स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद का परिचय कराकर अब द्रव्य व्यवस्था को बताते हैं।

यद्यपि द्रव्य का लक्षण सत् है तथापि प्रकारांतर से गुण और पर्यायों के समूह को भी द्रव्य कहते हैं; जैसे– जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख, ज्ञान आदि गुण पाए जाते हैं और नर-नारी की आदि पर्याएँ पाई जाती हैं। किंतु द्रव्य से गुण और पर्याय की पृथक् सत्ता नहीं है। ऐसा नहीं है कि गुण पृथक् हैं, पर्याय पृथक् हैं और उनके मेल से द्रव्य बना है। किंतु अनादि काल से गुणपर्यायात्मक ही द्रव्य है। साधारण रीति से गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती हैं। अतः द्रव्य को नित्य-अनित्य कहा जाता है। जैन

1. देखो– भारतीयदर्शन (पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० 177
2. कारिका मं० 9-20
3. अष्टसहस्री, पृ० 138-142

दर्शन में सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना गया है। अर्थात् जिसमें प्रति समय उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता पाई जाती है वही सत् है। जैसे, मिट्टी से घट बनाते समय मिट्टी की पिंड रूप पर्याय नष्ट होती है। घट पर्याय उत्पन्न होती है और मिट्टी कायम रहती है। ऐसा नहीं है कि पिंड पर्याय का नाश पृथक् समय में होता है और घट पर्याय की उत्पत्ति पृथक् समय में होती है। किंतु जो समय पहली पर्याय के नाश का है, वही समय आगे की पर्याय की उत्पाद का है। इस तरह प्रति समय पूर्व पर्याय का नाश और आगे की पर्याय की उत्पत्ति के होते हुए भी द्रव्य कायम रहता है। अतः वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कही जाती है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें वह परिर्वतन प्रति समय होता रहता है। जैसे, एक बच्चा कुछ समय बाद युवा हो जाता है और फिर कुछ काल के बाद बूढ़ा हो जाता है। बचपन से युवापन और युवापन से बुढ़ापा एकदम नहीं आ जाता, किंतु प्रति समय बच्चे में जो परिवर्तन होता रहता है वही कुछ समय बाद युवापन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रति समय होने वाला परिवर्तन इतना सूक्ष्म है कि उसे हम देख सकने में असमर्थ हैं। इस परिवर्तन के होते हुए भी उस बच्चे में एकरूपता बनी रहती है, जिसके कारण बड़ा हो जाने पर भी हम उसे पहचान लेते हैं। यदि ऐसा न मानकर द्रव्य को केवल नित्य ही मान लिया जाए तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकेगा और यदि केवल अनित्य ही मान लिया जाए तो आत्मा के सर्वथा क्षणिक होने से पहले जाने हुए का स्मरण आदि व्यापार नहीं बन सकेगा। अतः प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य स्वभाव वाला है। चूँकि द्रव्य में गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद विनाशशील होती हैं; अतः गुणपर्यायात्मक कहो या उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक कहो, दोनों का एक ही अभिप्राय है। द्रव्य के इन दोनों लक्षणों में वास्तव में कोई भेद नहीं है, किंतु एक लक्षण दूसरे लक्षण का व्यंजकमात्र है।

द्रव्य का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार में कहा है–

द्रवियदि गच्छदि ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णते अणण्णभूदं तु सत्तादो।।9।।

अर्थ– 'द्रु धातु से, जिसका अर्थ जाना है, द्रव्य शब्द बना है। अतः जो अपनी उन-उन पर्यायों को प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्ता से अभिन्न है।'

इससे यह बताया जाता है कि द्रव्य सत्स्व रूप है और जैसे पर्यायों का प्रवाह सतत् जारी रहता है, एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी पर्याय होती रहती है। वैसे ही द्रव्य का प्रवाह भी सतत् जारी रहता है। अर्थात् द्रव्य अनादि और अनंत है।

दव्वं सल्लक्क्खणियं उप्पादवयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।।10।।

अर्थ– 'भगवान् जिनेंद्रदेव द्रव्य का लक्षण सत् कहते हैं अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्याय का आश्रय है वह द्रव्य है।'

द्रव्य के इन तीनों लक्षणों में से एक के कहने से शेष दो लक्षण स्वतः ही कहे जाते हैं, क्योंकि जो सत् है वह उत्पाद, व्यय ध्रौव्य तथा गुण और पर्याय से संयुक्त है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वाला है वह सत् है और गुण पर्याय का आश्रय भी है तथा जो गुण पर्याय वाला है वह सत् है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त भी है।

चूँकि सत् नित्यानित्यात्मक है। अतः सत् के कहने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यापना प्रकट होता है तथा ध्रुवत्व से गुणों के साथ और उत्पाद-व्यय से विनाशशील पर्यायों के साथ एकात्मकता प्रकट होती है। इसी तरह वस्तु को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप बतलाने से उसकी नित्यानित्यात्मकता और गुणपर्याय विशिष्टता प्रकट होती है तथा वस्तु को गुणपर्यायात्मक बताने से गुणों से ध्रौव्य का और पर्याय से उत्पाद विनाश का सूचन होता है और उससे नित्यानित्यात्मक सत् है यह प्रतीत होता है। अतः तीनों लक्षण प्रकारांतर के द्रव्य का विश्लेषण करते हैं और बतलाते हैं कि–

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करोति तस्सेव पज्जायां।।11।।

अर्थ– 'द्रव्य का न तो उत्पाद होता है और न विनाश, वह तो सत्स्व रूप है। किंतु उसी की पर्यायें उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को करती हैं।'

इसका यह मतलब है कि द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। किंतु उसकी पर्यायें उत्पन्न और नष्ट होती हैं और वे पर्यायें चूँकि द्रव्य से अभिन्न हैं। अतः द्रव्य भी उत्पाद व्ययशील है।

जैन दर्शन के सिद्धांत का प्रतिपादन महर्षि पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य के पश्पशाह्निक में निम्नलिखित शब्दों में किया है–

द्रव्यं नित्यम् आकृतिरनित्यां। सुवर्ण कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खादिरांगारसदृशे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

अर्थात्– 'द्रव्य नित्य है और आकार यानी पर्याय अनित्य है। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिंड रूप होता है। पिंड रूप का विनाश करके उससे माला

बनाई जाती है। माला का विनाश करके उससे कड़े बनाए जाते हैं। कड़ों को तोड़कर उससे स्वस्तिक बनाए जाते हैं। स्वस्तिकों को गलाकर फिर सुवर्ण पिंड हो जाता है। उसके अमुक आकार का विनाश करके खदिर अंगार के समान दो कुंडल बना लिए जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है परंतु द्रव्य वही रहता है। आकार के नष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता ही है।'

इससे द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता प्रमाणित होती है। जैन दर्शन भी ऐसा मानता है और इसी से वह वस्तु का लक्षण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य करता है। उसके मत से तत्व त्रयात्मक है आचार्य समंतभद्र ने दो दृष्टांत देकर इसी बात को प्रमाणित किया है। आप्तमीमांसा में वे लिखते हैं–

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनों याति सहेतुकम्॥69॥

'एक राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री। राजा के पास एक सोने का एक घड़ा है। पुत्री उस घट को चाहती है, किंतु राजपुत्र उस घट को तोड़कर उसका मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की हठ पूरी करने के लिए घट को तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दुःखी होती है। मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है और चूँकि राजा सुवर्ण का इच्छुक है जो कि घट टूटकर मुकुट बन जाने पर भी कायम रहता है। अतः उसे न शोक होता है और न हर्ष। अतः वस्तु त्रयात्मक (तीन रूप) है।'

दूसरा उदाहरण–

पयोव्रतो न दध्यति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम्॥60॥

'जिसने केवल दूध ही पीने का व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता। जिसने केवल दही खाने का व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस मात्र न खाने का व्रत लिया है वह न दूध पीता है और न दही खाता है क्योंकि दूध और दही दोनों गोरस की दो पर्यायें हैं। अतः गोरसत्व दोनों में है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक-उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है।

मीमांसा दर्शन के पारगामी महामति कुमारिल भी वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप मानते हैं। उन्होंने भी उसके समर्थन के लिए स्वामी समंतभद्र के उक्त दृष्टांत को ही अपनाया है। वे उसका खुलासा करते हुए लिखते हैं–

'वर्धमारकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥21॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतिम्यम् ॥22॥

न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥23॥

—मी० श्लो० वा०।

अर्थात्— 'जब सुवर्ण के प्याले को तोड़कर उसकी माला बनाई जाती है तब जिसको प्याले की जरूरत है, उसको शोक होता है, जिसे माला की आवश्यकता है उसे हर्ष होता है और जिसे सुवर्ण की आवश्यकता है उसे न हर्ष होता है और न शोक। अतः वस्तु त्रयात्मक है। यदि उत्पाद, स्थिति और व्यय न होते तो तीन व्यक्तियों के तीन प्रकार के भाव न होते, क्योंकि प्याले के नाश के बिना प्याले की आवश्यकता वाले को शोक नहीं हो सकता, माला के उत्पाद के बिना माला की आवश्यकता वाले को हर्ष नहीं हो सकता और सुवर्ण की स्थिरता के बिना सुवर्ण इच्छुक को प्याले के विनाश और माला के उत्पाद में माध्यस्थ्य नहीं रह सकता। अतः वस्तु सामान्य से नित्य है।' (और विशेष अर्थात् पर्याय रूप से अनित्य है)।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में द्रव्य ही एक तत्व है जो 6 प्रकार का है और वह प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है। अतएव वह द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। अब प्रत्येक द्रव्य का परिचय कराया जाता है।

4. जीव द्रव्य

जैनाचार्य श्री कुंदकुंद ने प्रवचनसार में जीव का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥2-80॥

'जिसमें न कोई रस है न कोई रूप है और न किसी प्रकार की गंध है, अतएव जो अव्यक्त है, शब्द रूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिह्न से भी जिसे नहीं जाना जा सकता और न जिसका कोई निर्दिष्ट आकार ही है, उस चैतन्य गुण विशिष्ट द्रव को जीव कहते हैं।

इसका यह आशय है कि जिसमें चेतना गुण है, वह जीव है और वह जीव पुद्गल द्रव्य से अलग है क्योंकि पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाला तथा साकार होता है, किंतु जीव द्रव्य ऐसा नहीं है। अतः जीव द्रव्य जड़तत्व से अलग एक वास्तविक पदार्थ है। और भी—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो णहि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥27॥

—पंचास्ति०

'यह जीव चैतन्यस्वरूप है, जानने देखने रूप उपयोग वाला है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है और अपने शरीर के बराबर है। तथा यद्यपि वह मूर्तिक नहीं है तथापि कर्मों से संयुक्त है।'

इस गाथा के द्वारा जीव द्रव्य के संबंध में जैन दर्शन की प्रायः सभी मुख्य मान्यताओं को बतला दिया है। उनका खुलासा इस प्रकार है–

जीव चेतन है

जीव का असाधारण लक्षण चेतना है और वह चेतना जानने और देखने रूप है। अर्थात् जो जानता और देखता है वह जीव है। सांख्य भी चेतना को पुरुष का स्वरूप मानता है, किंतु वह उसे ज्ञान रूप नहीं मानता। उसके मत से ज्ञान प्रकृति का धर्म है। वह मानता है कि ज्ञान का उदय न तो अकेले पुरुष में ही होता है और न बुद्धि में ही होता है। जब ज्ञानेंद्रियाँ बाह्य पदार्थों को बुद्धि के सामने उपस्थित करती हैं तो बुद्धि उपस्थित पदार्थ के आकार को धारण कर लेती है। इतने पर भी जब बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिंब पड़ता है तभी ज्ञान का उदय होता है। परंतु जैन दर्शन में बुद्धि और चैतन्य में कोई भेद ही नहीं है। उसमें हर्ष, विषाद आदि अनके पर्याय वाला ज्ञान रूप एक आत्मा ही अनुभव से सिद्ध है। चैतन्य, बुद्धि, अध्यवसाय, ज्ञान आदि उसी की पर्यायें कहलाती हैं। अतः चैतन्य ज्ञान रूप ही है। उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं एक अंतर्मुख और दूसरी बहिर्मुख। जब वह आत्मस्वरूप को ग्रहण करता है तो उसे दर्शन कहते हैं और जब वह बाह्य पदार्थ को ग्रहण करता है तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और दर्शन में मुख्य भेद यह है कि जैसे ज्ञान के द्वारा 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था होती है, उस तरह दर्शन के द्वारा नहीं होती। अतः चैतन्यात्मक है, इसका आशय है कि जीव ज्ञान दर्शनात्मक है, ज्ञान दर्शन जीव के गुण या स्वभाव हैं। कोई जीव उनके बिना नहीं रह सकता। जो जीव है वह ज्ञानवान् है और जो ज्ञानवान् है वह जीव है। जैसे आग अपने उष्ण गुण को छोड़कर नहीं रह सकती, वैसे ही जीव भी ज्ञान गुण के बिना नहीं रह सकता। एकेंद्रिय वृक्ष में रहने वाले जीव से लेकर मुक्तात्माओं तक में हीनाधिक ज्ञान पाया जाता है। सबसे कम ज्ञान वनस्पतिकाय के जीवों में पाया जाता है और सबसे अधिक यानी पूर्ण ज्ञान मुक्तात्मा में पाया जाता है।

जैनेतर दार्शनिकों में नैयायिक वैशेषिक भी ज्ञान को जीव का गुण मानते हैं। किंतु उनके मतानुसार गुण और गुणी ये दोनों दो पृथक् पदार्थ हैं और उन दोनों का परस्पर में समवाय संबंध है। अतः उनके मत से आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है, किंतु उसमें ज्ञान गुण रहता है इसलिए वह ज्ञानवान् कहा जाता है। किंतु जैन दर्शन का कहना है कि यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है तो वह अज्ञानस्वरूप ठहरता है और उसके अज्ञानस्वरूप

होने पर आत्मा और जड़ में कोई अंतर नहीं रहता। इस पर नैयायिक का कहना है कि आत्मा के साथ तो ज्ञान का संबंध होता है किंतु जड़ घटादिक के साथ ज्ञान का संबंध नहीं होता। इसलिए आत्मा और जड़ में अंतर है। इस पर जैन दार्शनिकों का कहना है कि जब आत्मा भी ज्ञानस्वरूप नहीं है और जड़ भी ज्ञानस्वरूप नहीं है, फिर भी ज्ञान का संबंध आत्मा से ही क्यों होता है? जड़ से क्यों नहीं होता? यदि कहा जाएगा कि आत्मा चेतन है इसलिए उसी के साथ ज्ञान का संबंध होता है तो इस पर जैन दार्शनिकों का यह कहना है कि नैयायिक आत्मा को स्वयं चेतना भी नहीं मानता किंतु चैतन्य के संबंध से ही चेतन मानता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान की ही तरह चेतन के संबंध में भी वही प्रश्न पैदा होता है कि चैतन्य का संबंध आत्मा के ही साथ क्यों होता है घटादिक के साथ क्यों नहीं होता? अतः इस आपत्ति से बचने के लिए आत्मा को स्वयं चेतन और ज्ञानस्वरूप मानना चाहिए जैसा कि कहा है–

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।।48।।
ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दुणाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधकं होदि।।49।। –पञ्चास्ति.

अर्थात्– 'यदि ज्ञानी और ज्ञान को परस्पर में सदा एक-दूसरे से भिन्न पदार्थांतर माना जाएगा तो दोनों अचेतन हो जाएँगे। यदि कहा जाएगा कि ज्ञान से भिन्न होने पर भी आत्मा ज्ञान के समवाय से ज्ञानी होता है तो प्रश्न होता है कि ज्ञान के साथ समवाय संबंध होने से पहले वह आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि ज्ञानी था तो उसमें ज्ञान का समवाय मानना व्यर्थ है। यदि अज्ञानी था तो अज्ञान के समवाय से अज्ञानी था या अज्ञान के साथ एकमेक होने से अज्ञानी था। अज्ञानी में अज्ञान का समवाय मानना तो व्यर्थ ही है। तथा उस समय उसमें ज्ञान का समवाय न होने से उसे ज्ञानी भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए अज्ञान के साथ एकमेक होने से आत्मा अज्ञानी ही ठहरता है। ऐसी स्थिति में जैसे अज्ञान के साथ एकमेक होने से आत्मा अज्ञानी हुआ वैसे ही ज्ञान के साथ भी आत्मा का एकत्व मानना चाहिए।'

सारांश यह है कि जैन दर्शन गुण और गुणी के प्रदेश अलग नहीं मानता। जो आत्मा के प्रदेश हैं वे ही प्रदेश ज्ञानादिक गुणों के भी हैं, इसलिए उनमें प्रदेश भेद नहीं है। और अलग वे ही कहलाते हैं जिनके प्रदेश भी जुदे हों। अतः जो जानता है वही ज्ञान है। इसलिए ज्ञान के संबंध से आत्मा ज्ञाता नहीं है, किंतु ज्ञान ही आत्मा है। जैसा कि कहा है–

णाणं अप्प त्ति मदं बट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।।27।। –प्रवचनसार

अर्थात्– 'ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है। चूँकि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता, अतः ज्ञान आत्मा ही है। किंतु आत्मा में अनेक गुण पाए जाते हैं, अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य गुण रूप भी है।'

प्रभु है

प्रत्येक जीव अपने पतन और उत्थान के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। अपने कार्यों से ही वह बँधता है और अपने कार्यों से ही वह उस बंधन से मुक्त होता है। अन्य कोई न उसे बाँधता है और न बंधन से मुक्त करता है। वह स्वतः ही भिखारी बनता है और स्वतः ही भिखारी से भगवान् बन सकता है। अतः वह प्रभु-समर्थ कहा जाता है।

कर्ता है

अपने द्वारा बाँधे गए कर्मों के फल को भोगते समय जीव के जो भाव होते हैं, वह जीव उन अपने भावों का कर्ता कहा जाता है। आशय यह है कि जीव के भाव पाँच प्रकार के होते हैं– औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। कर्मों का उपशम होने से अर्थात् उदय में न आ सकने के योग्य कर देने पर जो भाव होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मों का क्षय-विनाश हो जाने से जो भाव होते हैं, उन्हे क्षायिक भाव कहते हैं। कर्मों का क्षायोपशम– कुछ का क्षय और कुछ का उपशम होने से जो भाव होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। कर्मों के उदय से जो भाव होते हैं, उन्हें औदयिक कहते हैं और कर्मों के निमित्त के बिना जो भाव होते हैं, उन्हें पारिणामिक कहते हैं। वस्तुतः अपने इन भावों का कर्ता जीव ही है, कर्म तो उसमें निमित्त मात्र है। किंतु कर्म निमित्त मिले बिना उक्त भाव नहीं होते इसलिए उन भावों का कर्ता कर्म को भी कहा जाता है। सांख्य पुरुष आत्मा को कर्ता नहीं मानता। उसके मतानुसार आत्मा अलिप्त और अकर्ता है, जगत के व्यापार के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। इस पर जैन दर्शन की यह आपत्ति है कि यदि आत्मा अकर्ता है तो बंध और मोक्ष की कल्पना व्यर्थ है। 'मैं सुनता हूँ' इत्यादि प्रतीति सभी को होती है। अतः आत्मा का अकर्तृत्व अनुभव विरुद्ध है। यदि कहा जाए कि इस प्रकार की प्रतीति अहंकार से होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्य अनुभव को अहंकार जन्य नहीं मानता और अनुभव के अहंकार जन्य न होने से आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ता है। अतः आत्मा कर्ता है।

भोक्ता है

जिस तरह जीव अपने भावों का कर्ता है उसी तरह उनका भोक्ता भी है। यदि आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता न हो तो सुख-दुःख की अनुभूति ही नहीं हो सकती और

अनुभूति चैतन्य का धर्म है। सांख्य का कहना है कि 'पुरुष स्वभाव से भोक्ता नहीं है किंतु उसमें भोक्तृत्व का आरोप किया जाता है, क्योंकि सुख-दुःख का अनुभव बुद्धि के द्वारा होता है और बुद्धि अचेतन है। बुद्धि में संक्रांत सुख-दुःख का प्रतिबिंब शुद्ध स्वभाव में पड़ता है, अतः पुरुष को सुख-दुःख का भोक्ता मान लिया जाता है।' इस पर जैनों का कहना है कि जैसे स्फटिक में जपाकुसुम का प्रतिबिंब पड़ने से स्फटिक मणिका लाल रूप से परिणमन मानना पड़ता है वैसे ही पुरुष में सुख-दुःख का प्रतिबिंब मानने से पुरुष में सुख-दुःख रूप परिणाम मानना ही पड़ता है। उसके बिना सुख-दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती।

अपने शरीर प्रमाण है

जैन दर्शन में जीव को शरीर प्रमाण माना गया है। जैसे दीपक छोटे या बड़े जिस स्थान में रखा जाता है, उसका प्रकाश उसके अनुसार ही या तो सकुच जाता है या फैल जाता है, वैसे ही आत्मा भी प्राप्त हुए छोटे या बड़े शरीर के आकार का हो जाता है किंतु न तो संकोच होने पर आत्मा के प्रदेशों की हानि होती है और न विस्तार होने पर नए प्रदेशों की वृद्धि होती है। प्रत्येक दशा में असंख्यात प्रदेशी का असंख्यात प्रदेशी ही रहता है।

आत्मा को शरीर प्रमाण मानने में यह आपत्ति की जाती है कि यदि आत्मा शरीर के प्रत्येक प्रदेश में प्रवेश करता है तो शरीर की तरह आत्मा को भी सावयव मानना पड़ता है और सावयव मानने से आत्मा का विनाश प्राप्त होता है; क्योंकि जैसे घट सावयव है जब उसके अवयवों का संयोग नष्ट होता है तो घट भी नष्ट हो जाता है, उसी तरह आत्मा को सावयव मानने से उसका भी नाश हो सकता है। इस आपत्ति का उत्तर जैन दर्शन देता है कि जैन दृष्टि से आत्मा कंथचित् सावयव भी है; किंतु उसके अवयव घट के अवयव की तरह कारण पूर्वक नहीं हैं। अर्थात् घट एक द्रव्य नहीं है किंतु अनेक द्रव्य हैं; क्योंकि अनेक परमाणुओं के समूह से घट बना है और प्रत्येक परमाणु एक-एक द्रव्य है। अतः घट के अवयव उसके कारण भूत परमाणुओं से उत्पन्न हुए हैं। किंतु आत्मा में यह बात नहीं है। आत्मा एक अखंड और अविनाशी द्रव्य है। वह अनेक द्रव्यों के संयोग से नहीं बना है। अतः घट की तरह उसके विनाश का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। जैसे आकाश एक सर्वव्यापक अमूर्तिक द्रव्य है। किंतु उसे भी जैन दर्शन में अनंत प्रदेशी माना गया है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाएगा तो मथुरा, काशी और कलकत्ता एक प्रदेशवर्ती हो जाएँगे। चूँकि ये भिन्न-भिन्न प्रदेशवर्ती हैं, अतः सिद्ध है कि आकाश बहुप्रदेशी है। बहुप्रदेशी होने पर भी न तो आकाश का विनाश ही होता है और न वह अनित्य ही है, उसी तरह आत्मा को भी जानना चाहिए।

दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि यदि आत्मा शरीर प्रमाण है तो बालक के शरीर प्रमाण से युवा शरीर रूप वह कैसे बदल जाता है? यदि बालक के शरीर प्रमाण को छोड़कर वह युवा के शरीर प्रमाण होता है तो शरीर की तरह आत्मा भी अनित्य ठहरता है। यदि बालक के शरीर प्रमाण के छोड़े बिना आत्मा युवा शरीर रूप होता है तो यह संभव नहीं है, क्योंकि एक परिमाण को छोड़े बिना दूसरा परिमाण नहीं हो सकता। इसके सिवा जीव शरीर परिमाण है तो शरीर के एकाध अंश के कट जाने पर आत्मा के भी अमुक भाग की हानि माननी पड़ती है। इसका उत्तर यह है कि आत्मा बालक के शरीर परिमाण को छोड़कर ही युवा शरीर के परिमाण को धारण करता है। जैसे सर्प अपने फण वगैरह को फैलाकर बड़ा कर लेता है वैसे ही आत्मा भी संकोच विस्तार गुण के कारण भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न आकार वाला हो जाता है। इस अपेक्षा से आत्मा को अनित्य भी कहा जा सकता है। किंतु द्रव्यदृष्टि से तो आत्मा नित्य ही है। शरीर के खंडित हो जाने पर भी आत्मा खंडित नहीं होता किंतु शरीर के खंडित हुए भाग में आत्मा के प्रदेश न माने जाए तो शरीर से कटकर अलग हुए भाग में जो कंपन देखा जाता है उसका कोई दूसरा कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि उस भाग में दूसरी आत्मा तो नहीं हो सकती और बिना आत्मा के परिस्पंद नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ देर के बाद आत्म-प्रदेश सकुच जाते हैं तो कटे भाग में क्रिया नहीं रहती। अतः शरीर के दो भाग हो जाने पर आत्मा के दो भाग नहीं होते। अतः आत्मा शरीर परिमाण वाला है क्योंकि मैं सुखी हूँ इत्यादि रूप से शरीर में ही आत्मा का ग्रहण होता है।

इस प्रकार आत्मा को शरीर-परिमाण वाला सिद्ध करके जैन दार्शनिक आत्मा के व्यापकत्व का खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि आत्मा व्यापक है तो उसमें क्रिया नहीं हो सकती और क्रिया के बिना वह पुण्य-पाप का कर्ता नहीं हो सकता। तथा कर्तृत्व के बिना बंधन और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती।

कर्मों से संयुक्त है

जैन दर्शन प्रत्येक संसारी आत्मा को कर्मों से बद्ध मानता है। यह कर्मबंधन उसके किसी अमुक समय में नहीं हुआ, किंतु अनादि से है। जैसे, खान से सोना सुमैल ही निकलता है वैसे ही संसारी आत्माएँ भी अनादि काल से कर्मबंधन में जकड़े हुए ही पाए जाते हैं। यदि आत्माएँ अनादि काल से शुद्ध ही हो तो फिर उनके कर्मबंधन नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मबंधन के लिए आंतरिक अशुद्धि का होना आवश्यक है। उसके बिना भी यदि कर्मबंधन होने लगे तो मुक्त आत्माओं के भी कर्मबंधन का प्रसंग उपस्थित हो सकता है और ऐसी अवस्था में मुक्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ हो जाएगा।

इस प्रकार जैन दृष्टि से जीव जानने-देखने वाला, अमूर्तिक, कर्ता, भोक्ता, शरीर परिमाण वाला और अपने उत्थान और पतन के लिए स्वयं उत्तरदायी है।

जीव के भेद

उस जीव के मूल भेद दो हैं– संसारी-जीव और मुक्त-जीव। कर्मबंधन से बद्ध जो जीव एक गति से दूसरी गति में जन्म लेते और मरते हैं वे संसारी हैं और जो उससे छूट चुके हैं, वे मुक्त हैं। मुक्त जीवों में तो कोई भेद होता ही नहीं, सभी समान गुण-धर्म वाले होते हैं। किंतु संसारी जीव चार प्रकार के होते हैं– नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस पृथ्वी के नीचे सात नरक हैं, उनमें जो जीव निवास करते हैं, वे नारकी हैं। ऊपर स्वर्गों में जो निवास करते हैं, देव कहलाते हैं। हम आप सब मनुष्य हैं और पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि शेष सब तिर्यंच कहे जाते हैं। नारकी, देव और मनुष्यों के तो पाँच ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं, किंतु तिर्यंच में ऐसा नहीं है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के केवल एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, उसी के द्वारा वे जानते हैं। इन जीवों को स्थावर कहते हैं। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि के सिवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव है। मिट्टी में कीड़े आदि जीव तो हैं ही किंतु मिट्टी, पहाड़ आदि स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का पिंड है। इसी तरह जल के यंत्रों के द्वारा दिखाई देने वाले अनेक जीवों के अतिरिक्त जल स्वयं जलकायिक जीवों के शरीर का पिंड है। यही बात अग्निकाय आदि के विषय में भी जाननी चाहिए। लट आदि जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियाँ होती हैं। चींटी वगैरह के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इंद्रियाँ होती हैं। भौंरें आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इंद्रियाँ होती हैं और सर्प, नेवला, पशु-पक्षी आदि के पाँचों इंद्रियाँ होती हैं। इन इंद्रियों के द्वारा वे जीव अपने योग्य स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द का ज्ञान करते हैं। जैन शास्त्रों में इन सभी जीवों की योनि, जन्म और शरीर वगैरह का विस्तार से वर्णन किया गया है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जैन दर्शन जीव बहुत्ववादी हैं। वह प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। उसका कहना है कि यदि सभी जीव एक होते तो एक जीव के सुखी होने से सभी जीव सुखी होते; एक जीव के दुःखी होने से सभी जीव दुःखी होते, एक के बंधन से सभी बंधनबद्ध होते और एक की मुक्ति से सभी मुक्त हो जाते। जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को देखकर ही सांख्य ने भी जीवों की अनेकता को स्वीकार किया है। जैन दर्शन का भी यही मत है।

5. अजीव द्रव्य

जिन द्रव्यों में चैतन्य नहीं पाया जाता, वे अजीव द्रव्य कहे जाते हैं। वे पाँच हैं। उनका परिचय इस प्रकार है–

पुद्‌गल द्रव्य

यह बात उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन में पुद्‌गल शब्द का प्रयोग बिलकुल अनोखा है। अन्य दर्शनों में इसका प्रयोग नहीं पाया जाता। जो टूटे-फूटे, बने और बिगड़े वह सब पुद्‌गल द्रव्य हैं। मौटेतौर पर हम जो कुछ देखते हैं, छूते हैं, सूँघते हैं, खाते हैं और सुनते हैं वह सब पुद्‌गल द्रव्य हैं। इसलिए जैन शास्त्रों में पुद्‌गल का लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला बतलाया है। इस तरह पुद्‌गल से आधुनिक विज्ञान के 'मैटर' (Matter) और 'एनर्जी' (Energy) दोनों ही संगृहीत हो जाते हैं। जो परमाणु संबंधी आधुनिक खोजों से परिचित हैं वे पुद्‌गल शब्द के चुनाव की प्रशंसा ही करते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार सब एटम (परमाणु) इलेक्ट्रॉन, प्रोटान, और न्यूट्रान के समूह मात्र हैं। विज्ञान में यूरेनियम एक धातु है, उससे सदा तीन प्रकार की किरणें निकलती रहती हैं। जब यूरेनियम का एक अणु तीनों किरणों को खो बैठता है तो वह एक रेडियम के अणु के रूप में बदल जाता है। इसी तरह रेडियम अणु शीशा धातु में परिवर्तित हो जाता है। यह परिवर्तन बताता है कि इलेक्ट्रॉन और प्रोटान के विभाग में 'मैटर' का एक रूप दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस रद्दोबदल और टूट-फूट को 'पुद्‌गल' शब्द बतलाता है। छहों द्रव्यों में एक पुद्‌गल द्रव्य ही मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं। न्याय दर्शनकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु को अलग-अलग द्रव्य मानते हैं, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार पृथ्वी में रूप, रस, गंध और स्पर्श चारों गुण पाए जाते हैं, जल में गंध के सिवा शेष तीन ही गुण पाए जाते हैं, तेज में गंध और रस के सिवा शेष दो ही गुण पाए जाते हैं और वायु में केवल एक स्पर्श ही गुण पाया जाता है। अतः चारों के परमाणु अलग-अलग हैं। अर्थात् पृथ्वी के परमाणु अलग हैं, जल के परमाणु अलग हैं, तेज के परमाणु अलग हैं और वायु के परमाणु अलग हैं। अतः ये चारों द्रव्य अलग-अलग हैं। किंतु जैन दर्शन का कहना है कि सब परमाणु एक जातीय ही हैं और उन सभी में चारों गुण पाए जाते हैं। किंतु उनसे बने हुए द्रव्यों में जो किसी-किसी गुण की प्रतीत नहीं होती, उसका कारण उन गुणों का अभिव्यक्त न हो सकना ही है। जैसे पृथ्वी में जल का सिंचन करने से गंध गुण व्यक्त होता है, इसलिए उसे केवल पृथ्वी का ही गुण नहीं माना जा सकता। आँवला खाकर पानी पीने से पानी का स्वाद मीठा लगता है। किंतु वह स्वाद केवल पानी का ही नहीं है, आँवला का स्वाद भी उसमें सम्मिलित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए। इसके सिवा जल से मोती उत्पन्न होता है जो पार्थिव माना जाता है, जंगल में बाँसों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न हो जाती है,

जौ के खाने से पेट में वायु उत्पन्न होती है। इससे सिद्ध है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं में भेद नहीं है। जो कुछ भेद है, वह केवल परिणमन का भेद है, अतः सभी में स्पर्शादि चारों गुण मानने चाहिए। और इसलिए पृथ्वी आदि चार द्रव्य नहीं है किंतु एक द्रव्य है। इसलिए कहा है–

आदेसमेत्त मुक्त धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणु परिणामगुणो सयमसद्दो॥78॥–पंचास्ति.

अर्थात्– जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का कारण है वह परमाणु है। परमाणु द्रव्य है। उसमें स्पर्श, रस, गंध और रूप ये चारों गुण पाए जाते हैं। इसी कारण से वह मूर्तिक कहा जाता है। वह परमाणु अविभागी होता है, क्योंकि उसका आदि, अंत और मध्य नहीं है। इसलिए उसका दूसरा भाग नहीं होता। जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्य और गुण में प्रदेश भेद नहीं होता। इसलिए जो प्रदेश परमाणु का है वही चारों गुणों का भी है। अतः इन चारों गुणों को परमाणु से अलग नहीं किया जा सकता। फिर भी जो किसी द्रव्य में किसी गुण की प्रतीति नहीं होती उसका कारण परमाणु का परिणामित्व है, परिणमनशील होने के कारण ही कहीं किसी गुण की उद्भूति देखी जाती है और कहीं किसी गुण की अनुद्भूति। किंतु परमाणु शब्द रूप नहीं है।

पुद्गल के दो भेद हैं– परमाणु और स्कंध। प्राचीन शास्त्रों में परमाणु का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियगेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणाहि॥

'जो स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अंत रूप है, अर्थात् जिसमें आदि, मध्य और अंत का भेद नहीं है और जो इंद्रियों के द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस अविभागी द्रव्य को परमाणु जानो।'

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो॥77॥–पंचास्ति.

'सब स्कंधों का जो खंड है अर्थात् जिसका दूसरा खंड नहीं हो सकता, उसे परमाणु जानो। वह परमाणु नित्य है, शब्द रूप नहीं है, एक प्रदेशी है, अविभागी है और मूर्तिक है।'

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि॥81॥–पंचास्ति.

'जिसमें एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श गुण होते हैं, जो शब्द की उत्पत्ति में कारण तो हैं किंतु स्वयं शब्द रूप नहीं है और स्कंध से अलग है, उसे परमाणु जानो।'

ऊपर के इस विवेचन से परमाणु के संबंध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं। पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं। वह परमाणु एक प्रदेशी होता है, इसलिए उसका दूसरा भाग नहीं हो सकता। उसमें कोई एक रस, कोई एक रूप, कोई एक गंध और शीत-उष्ण में से एक तथा स्निग्ध रूक्ष में से एक इस तरह दो स्पर्श होते हैं। यद्यपि परमाणु नित्य है तथापि स्कंधों के टूटने से उसकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् अनेक परमाणुओं का समूह रूप स्कंध जब विघटित होता है तो विघटित होते उसका अंत परमाणु रूपों में होता है। इस दृष्टि से परमाणुओं की भी उत्पत्ति मानी गई है। किंतु द्रव्य रूप से तो परमाणु नित्य ही है।

अनेक परमाणुओं के बंध से जो द्रव्य तैयार होता है, उसे स्कंध कहते हैं। दो परमाणुओं के मेल से द्वयणुक बनता है, तीन परमाणुओं के मेल से त्र्यणुक तैयार होता है। इसी तरह संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओं के मेल से संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनंत प्रदेशी स्कंध तैयार होते हैं। हम जो कुछ देखते हैं वह सब स्कंध ही हैं। धूप में जो कण उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वे भी स्कंध ही हैं।

[1] यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि आधुनिक रसायन शास्त्र (Chemistry) में जो 'एटम' माने गए हैं वे जैन परमाणुओं के समकक्ष नहीं हैं। यद्यपि 'एटम' का मतलब आरंभ में यही लिखा गया था कि जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता। तथापि अब यह प्रमाणित हो गया है कि एटम, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन का एक पिंड है। परमाणु तो वह मूल कण है जो दूसरों के मेल के बिना स्वयं कायम रहता है।

पुद्गल द्रव्य की अनेक पर्यायें होती हैं। यथा–

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।

उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥16॥ –द्रव्य सं.

'शब्द, बंध सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खंड अंधकार, छाया, चांदनी और धूप से सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।'

अन्य दार्शनिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, किंतु जैन दार्शनिक उसे पुद्गल द्रव्य की पर्याय मानते हैं। वे लिखते हैं–

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणु संगसंघादो।

पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो॥71॥ –पंचास्ति.

1. Cosmology old and new, by Prof. G.R. Jain.

'शब्द स्कंध से उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओं के बंध विशेष को स्कंध कहते हैं। उन स्कंधों के परस्पर में टकराने से शब्दों की उत्पत्ति होती है।'

जैनों का कहना है कि यदि शब्द आकाश का गुण होता तो मूर्तिक कर्णेंद्रिय के द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता था, क्योंकि अमूर्तिक आकाश का गुण भी अमूर्तिक ही होगा और अमूर्तिक को मूर्तिक इंद्रिय नहीं जान सकती तथा शब्द टकराता भी है। कुएँ वगैरह में आवाज करने से प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। शब्द रोका भी जाता है, ग्रामोफोन के रिकार्ड, टेलीफोन आदि इसके उदाहरण हैं। शब्द गतिमान भी है। आधुनिक विज्ञान भी शब्द में गति मानता है तथा स्कूल में लड़कों को प्रयोग द्वारा बतलाया जाता है कि शब्द ऐसे आकाश में गमन नहीं कर सकता जहाँ किसी भी प्रकार का 'मैटर' न हो। अतः विज्ञान से भी शब्द आकाश का गुण सिद्ध नहीं होता। अतः शब्द मूर्तिक है।

बंध का मतलब केवल दो वस्तुओं का परस्पर मिल जाना मात्र नहीं है। किंतु बंध उस संबंध विशेष को कहते हैं, जिसमें दो चीजें अपनी असली हालत को छोड़कर एक तीसरी हालत में हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन नामक दो हवाएँ हैं। ये दोनों जब परस्पर में मिलती हैं तो पानी रूप हो जाती हैं। इसी तरह कपूर, पिपरमेंट और सत अजवायन परस्पर में मिलकर एक द्रव औषधि का रूप धारण कर लेते हैं। यह बंध है। यदि ऐसा न माना जाए तो जिस तरह वस्त्र में रंग-बिरंगे धागों का संयोग होने पर भी सब धागे अलग-अलग ही रहते हैं, एक का दूसरे पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह यदि परमाणुओं का भी केवल संयोग मात्र ही माना जाए और बंध विशेष न माना जाए तो उनके संयोग से स्थिर स्थूल वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बंध में जो रसायनिक सम्मिश्रण होता है, केवल संयोग में वह संभव नहीं है और रसायनिक सम्मिश्रण के बिना स्कंध उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए जैन दर्शन में बंध के स्वरूप का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। उसमें बतलाया है कि स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से ही परमाणुओं का बंध होता है। परमाणु में अन्य भी अनेक गुण हैं, किंतु बंध कराने में कारण केवल दो ही गुण हैं– स्निगधता-चिक्कणता और रूक्षता-रूखापन। स्निग्ध गुण वाले परमाणुओं का भी बंध होता है, रूक्षण वाले परमाणुओं का भी बंध होता है और स्निग्ध रूक्ष गुण वाले परमाणुओं का भी बंध होता है। किंतु जघन्य गुण वालों का बंध नहीं होता और न समान गुण वालों का ही बंध होता है, क्योंकि इस प्रकार के गुण वाले परमाणु यद्यपि परस्पर में मिल सकते हैं, किंतु स्कंध को उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः दो अधिक गुण वालों का ही परस्पर में बंध हो सकता है, क्योंकि अधिक गुण वाला परमाणु अपने से दो कम गुण वाले परमाणु से मिलकर एक तीसरी अवस्था धारण करता है,

इसी का नाम बंध है। यदि दो से अधिक या कम गुण वालों का भी बंध मान लिया जाए तो अधिक विषमता हो जाने के कारण अधिक गुण वाला कम गुण वालों को अपने में मिला लेगा, किंतु कम गुण वाला अधिक गुण वाले पर अपना उतना प्रभाव नहीं डाल सकेगा जितना रसायनिक सम्मिश्रण के लिए आवश्यक है। अतः दो अधिक गुण वालों का ही बंध होता है और बंध से स्कंधों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का बंध पुद्‌गल द्रव्य में ही संभव है। अतः बंध भी पुद्‌गल की पर्याय है।

इसी तरह मोटापन, दुबलापन, गोल, तिकोन, चौकोर आदि आकार और टूट-फूट भी मूर्तिक द्रव्य में ही संभव है। अतः वे भी पुद्‌गल की पर्याय हैं। जैन दृष्टि से अंधकार भी वस्तु है। क्योंकि वह दिखाई देता है और उसमें तरतम भाव पाया जाता है। जैसे गाढ़ा अंधकार, हल्का अंधकार आदि। दूसरे दार्शनिक अंधकार को केवल प्रकाश का अभाव ही मानते हैं, किंतु जैन दार्शनिक उसे केवल अभाव मात्र न मानकर प्रकाश की ही तरह एक भावात्मक चीज़ मानते हैं और जैसे सूर्य, चाँद वगैरह का प्रकाश, जो धूप और चाँदनी के नाम से पुकारा जाता है, पुद्‌गल की पर्याय है वैसे ही अंधकार भी पुद्‌गल की पर्याय है। छाया भी पुद्‌गल की पर्याय है। क्योंकि किसी मूर्तिमान् वस्तु के द्वारा प्रकाश के रुक जाने पर छाया पड़ती है।

इस प्रकार इंद्रियों के द्वारा हम जो कुछ देखते हैं, सूँघते हैं, छूते हैं, चखते हैं और सुनते हैं वह सब पुद्‌गल द्रव्य की ही पर्याय है।

धर्म और अधर्म द्रव्य

धर्म और अधर्म द्रव्य से मतलब पुण्य और पाप से नहीं है, किंतु ये दोनों भी जीव और पुद्‌गल की ही तरह दो स्वतंत्र द्रव्य हैं जो जीव और पुद्‌गलों के चलने और ठहरने में सहायक होते हैं। छह द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो निष्क्रिय हैं। इनमें हलन-चलन नहीं होता, शेष जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं। इन दोनों द्रव्यों को जो चलने में सहायता करता है वह धर्म द्रव्य है और जो ठहरने में सहायता करता है वह अधर्म द्रव्य है। यद्यपि चलने और ठहरने की शक्ति तो जीवपुद्‌गल में है ही, किंतु बाह्य सहायता के बिना उस शक्ति की व्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे परिणमन करने की शक्ति तो संसार की प्रत्येक वस्तु में मौजूद है, किंतु काल द्रव्य उसमें सहायक है उसकी सहायता के बिना कोई वस्तु परिणमन नहीं कर सकती। इसी तरह धर्म और अधर्म की सहायता के बिना न किसी में गति हो सकती है और न किसी की स्थिति हो सकती है। ये दो द्रव्य ऐसे हैं, जिन्हें जैनों के सिवा अन्य किसी भी धर्म ने नहीं माना। दोनों द्रव्य आकाश की तरह ही अमूर्तिक हैं और समस्त लोकव्यापी हैं। जैसे कि कहा है–

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढ़ं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं॥83॥–पंचास्ति.

'धर्म द्रव्य में न रस है, न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है और न वह शब्द रूप ही है तथा समस्तलोक में व्याप्त है, अखंडित है और असंख्यात प्रदेशी है।'

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि॥85॥–पंचास्ति.

'जैसे इस लोक में जल मछलियों के चलने में सहायक है वैसे ही धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को चलने में सहायक है।'

जह हवदि धम्मदव्वं तह जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारेणभूदं तु पुढवीव॥86॥–पंचास्ति.

'जैसा धर्म द्रव्य है वैसा ही अधर्म द्रव्य है। अधर्म द्रव्य ठहरते हुए जीव और पुद्गल को पृथ्वी की तरह ठहरने में सहायक है।'

सहायक होने पर भी धर्म और अधर्म द्रव्य प्रेरक कारण नहीं हैं, अर्थात् किसी को बलात् नहीं चलाते हैं और न बलात् ठहराते हैं। किंतु चलते हुए को चलने में और ठहरते हुए को ठहरने में सहायक मात्र होते हैं।

यदि उन्हें गति और स्थिति में मुख्य कारण मान लिया जाए तो जो चल रहे हैं वे चलते ही रहेगें और जो ठहरे हैं वे ठहरे ही रहेंगे। किंतु जो चलते हैं वे ही ठहरते भी हैं। अतः जीव और पुद्गल स्वयं ही चलते हैं और स्वयं ही ठहरते हैं, धर्म और अधर्म केवल उसमें सहायक मात्र हैं।[1]

आकाश द्रव्य

जो सभी द्रव्यों को स्थान देता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य अमूर्तिक और सर्वव्यापी है। उसे अन्य दार्शनिक भी मानते हैं। किंतु जैनों की मान्यता में उनसे कुछ अंतर है। जैन दर्शन में आकाश के दो भेद माने गए हैं–

1. प्रो० घासीराम जैन ने अपनी 'कासमोलॉजी ओल्ड एंड न्यू' नाम की पुस्तक में धर्म द्रव्य की तुलना आधुनिक विज्ञान में 'ईथर' नामक तत्व से और अधर्म द्रव्य की तुलना सर आइजक न्यूटन ने आकर्षण सिद्धांत से की है। क्योंकि वैज्ञानिकों ने 'ईथर' को अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य मानने के साथ गति का आवश्यक माध्यम भी माना है, जैनों ने धर्म द्रव्य को भी ऐसा ही माना है। अधर्म द्रव्य और विज्ञान के आकर्षण सिद्धांत की तुलना करते हुए प्रोफेसर जैन ने लिखा है– यह जैन धर्म के अधर्म द्रव्य विषयक सिद्धांत की सबसे बड़ी विजय है कि विश्व की स्थिरता के लिए विज्ञान ने अदृश्य आकर्षण शक्ति की सत्ता को स्वयं सिद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार किया और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आंइस्टीन ने उसमें सुधार करके उसे क्रियात्मक रूप दिया। अब आकर्षण सिद्धांत को सहायक कारण के रूप में माना जाता है, मूल कर्ता के रूप में नहीं, इसलिए अब वह जैन धर्म विषयक अधर्म द्रव्य की मान्यता के बिलकुल अनुरूप बैठता है, पृ० 44।

एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। सर्वव्यापी आकाश के मध्य में लोकाकाश है और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाश में छहों द्रव्य पाए जाते हैं। और आलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है।

जैसा कि लिखा है–

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्त॥91॥–पंचास्ति.

'जीव, पुद्‌गल, धर्म और अधर्म द्रव्य लोक से बाहर नहीं है और आकाश उस लोक के अंदर भी है और बाहर भी है, क्योंकि उसका अंत नहीं है।'

सारांश यह कि आकाश सर्वव्यापी है। उस आकाश के बीच में लोकाकाश है, जो अकृत्रिम है– किसी का बनाया हुआ नहीं है। न उसका आदि है और न अंत है। कटि के दोनों भागों पर दोनों हाथ रखकर और दोनों पैरों को फैलाकर खड़े पुरुष के समान लोक का आकार है। नीचे के भाग में सात नरक है। नाभि देश में मनुष्यलोक है। और ऊपर के भाग में स्वर्गलोक है तथा मस्तक प्रदेश में मोक्षस्थान है। चूँकि जीव शरीर परिमाण वाला और स्वभाव से ही ऊपर को जानने वाला है अतः कर्मबंध से मुक्त होते ही वह शरीर में से निकलकर ऊपर चला जाता है और जाकर मोक्षस्थान में ठहर जाता है। उससे आगे वह जा नहीं सकता, क्योंकि गमन में सहायक धर्म द्रव्य वहीं तक पाया जाता है उससे आगे नहीं पाया जाता और उसकी सहायता के बिना वह आगे जा नहीं सकता। इसलिए जब कुछ दार्शनिकों ने जैनों से यह प्रश्न किया कि धर्म और अधर्म द्रव्य की आवश्यकता ही क्या है, आकाश उनका भी कार्य कर लेगा तो उन्होंने उत्तर दिया–

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ॥92॥–पंचास्ति.

'यदि आकाश अवगाह के साथ-साथ गमन और स्थिति का भी कारण हो जाएगा तो ऊर्ध्वगमन करने वाले मुक्तजीव मोक्ष स्थान में कैसे ठहर सकेंगे।'

इस पर कहा जा सकता है कि मुक्तजीव ऊपरलोक के अग्रभाग में यदि नहीं ठहर सकेंगे तो न ठहरें। मात्र उन्हें ठहराने के लिए ही तो द्रव्य नहीं माने जा सकते? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते है–

जम्हा उवरिमठ्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहि पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण पत्थित्ति॥93॥–पंचास्ति.

'यतः भगवान् जिनेंद्र ने मुक्त जीवों का स्थान ऊपरलोक के अग्रभाग में बताया है, अतः आकाश गति और स्थिति का निमित्त नहीं।' तथा–

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स अंतपरिबुड्ढी॥94॥–पंचास्ति.

'यदि आकाश जीव और पुद्‌गलों के गमन और स्थिति में भी कारण होता है तो ऐसा मानने से लोक की अंतिम मर्यादा बढ़ती है और आलोकाकाश की हानि प्राप्त होती है, क्योंकि फिर तो जीव और पुद्‌गल गति करते हुए आगे बढ़ते जाएँगे और ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते जाएँगे, त्यों-त्यों लोक बढ़ता जाएगा और अलोक घटता जाएगा।'

इस पर भी यह कहा जा सकता है कि लोक की वृद्धि और अलोक की हानि यदि होती है तो होओ, तो उस पर पुनः आचार्य कहते हैं–

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णाकासं।
इदि जिणवरेहि भणिदं लोगसहावं सुणताणं॥95॥–पंचास्ति.

'जिनवर भगवान् ने श्रोताजनों को लोक का स्वभाव ऐसा ही बताया है। अतः धर्म और अधर्म द्रव्य की गति और स्थिति के कारण हैं, आकाश नहीं।'

आशय यह है कि एक ही आकाश के दो विभाग कायम रखने में प्रधान कारण धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। इन दोनो द्रव्यों की वजह से ही जीव और पुद्‌गल लोकाकाश की मर्यादा से बाहर नहीं जा सकते। जैनेतर दार्शनिकों ने आकाश द्रव्य को मानकर भी न तो लोक का कोई खास आकार माना और न आत्मा को सक्रिय और शरीर परिमाण वाला ही माना। इसलिए उसका नियमन करने के लिए उन्हें धर्म और अधर्म नाम के द्रव्य मानने की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई। किंतु जैन धर्म में वैसी व्यवस्था होने से आकाश से अलग, किंतु उसके समकक्ष दो द्रव्य और माने गए। इस तरह धर्म और अधर्म द्रव्य के निमित्त से एक ही आकाश अखंड होकर भी दो रूप हो गया है। जितने आकाश में सब द्रव्य पाए जाते हैं। उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं और उससे अतिरिक्त जो शुद्ध अकेला आकाश है उसे अलोकाकाश कहते हैं।

यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि जब जैन धर्म लोकाकाश को शांत मानता है और उसके आगे अनंत आकाश मानता है। तब प्रसिद्ध वैज्ञानिक[1] आइंस्टीन समस्त लोक को शांत मानते हैं किंतु उसके आगे कुछ नहीं मानते हैं, क्योंकि प्रो० एडिंगटन का कहना है कि पदार्थ विज्ञान का विद्यार्थी कभी भी आकाश को शून्यवत् नहीं मान सकता।

काल द्रव्य

जो वस्तु मात्र के परिवर्तन में सहायक है उसे काल द्रव्य कहते है। यद्यपि परिणमन करने की शक्ति सभी पदार्थों में है, किंतु बाह्य निमित्त के बिना उस शक्ति

1. Cosmology Old and New, P. 57.

की व्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे कुम्हार के चाक में घूमने की शक्ति मौजूद है। किंतु कील की साहाय्य पाए बिना वह घूम नहीं सकता, वैसे ही संसार के पदार्थ भी काल द्रव्य का साहाय्य पाए बिना परिवर्तन नहीं कर सकते। अतः काल द्रव्य उनके परिवर्तन में सहायक हैं। किंतु वह भी वस्तुओं का बलात् परिणमन नहीं कराता है, और न एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य रूप परिणमन कराता है, किंतु स्वयं परिणमन करते हुए द्रव्यों का सहायक मात्र हो जाता है।

काल दो प्रकार का है– एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अलग-अलग कालाणुकाल के अणु स्थित हैं, उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं, अर्थात् काल द्रव्य नाम की वस्तु वे कालाणु ही हैं। उन कालाणुओं के निमित्त से ही संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उन्हीं के निमित्त से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व कायम है। आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल का एक परमाणु मंद गति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह समय काल द्रव्य की पर्याय है। समयों के समूहों को ही आवली, उच्छवास, प्राण स्तोक, घटिका, दिन-रात आदि कहा जाता है। यह सब व्यवहार काल है। यह व्यवहार काल सौरमंडल की गति और घड़ी वगैरह के द्वारा जाना जाता है तथा इसके द्वारा ही निश्चय काल अर्थात् काल द्रव्य के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, क्योंकि जैसे किसी बच्चे में शेर का व्यवहार करने से कि 'यह बच्चा शेर है' शेर नाम के पशु के होने का निश्चय किया जाता है, वैसे ही सूर्य आदि की गति में जो काल का व्यवहार किया जाता है वह औपचारिक है, अतः काल नाम का कोई स्वतंत्र द्रव्य होना आवश्यक है जिसका उपचार लौकिक व्यवहार में किया जाता है।

काल द्रव्य को अन्य दार्शनिकों ने भी माना है किंतु उन्होंने व्यवहार काल को ही काल द्रव्य मान लिया है। काल द्रव्य नाम की अणु रूप वस्तु को केवल जैनों ने ही स्वीकार किया है। यह काल द्रव्य भी आकाश की तरह ही अमूर्तिक है। केवल इतना अंतर है कि आकाश एक अखंड है, किंतु काल द्रव्य अनेक हैं, जैसा कि लिखा है–

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासिमिव ते कालाणु असंखदव्वाणि।।–सर्वार्थ., पृ० 191

'लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह जो एक-एक करके स्थित हैं, वे कालाणु हैं और वे असंख्यात द्रव्य हैं अर्थात् प्रत्येक कालाणु एक-एक द्रव्य है जैसे कि पुद्गल का प्रत्येक परमाणु एक-एक द्रव्य है।'

प्रवचनसार आदि ग्रंथों में इन कालाणुओं के संबंध में अनेक युक्तियों के द्वारा अच्छा प्रकाश डाला गया है जो मनन करने योग्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में 6 द्रव्य माने गए हैं। काल को छोड़कर शेष द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं। 'अस्तिकाय' में दो शब्द मिले हुए हैं। एक 'अस्ति' और दूसरा 'काय'। 'अस्ति' शब्द का अर्थ 'है' होता है जो कि अस्तित्व सूचक है और 'काय' शब्द का अर्थ होता है 'शरीर'। अर्थात् जैसे शरीर बहुदेशी होता है वैसे ही काल के सिवा शेष पाँच द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। किंतु काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि उसके कालाणु असंख्य होने पर भी परस्पर में सदा अबद्ध रहते हैं। न तो वे आकाश के प्रदेशों की तरह सदा से मिले हुए एक और अखंड हैं और न पुद्‌गल परमाणुओं की तरह कभी मिलते और कभी बिछुड़ते ही हैं इसलिए वे 'काय' नहीं कहे जाते।

प्रदेश के संबंध में भी कुछ मोटी बातें जान लेनी चाहिए। जितने देश को एक पुद्‌गल परमाणु रोकता है उतने देश को प्रदेश है। लोकाकाश में यदि क्रमवार एक-एक करके परमाणुओं को बराबर-बराबर सटाकर रखा जाए तो असंख्यात परमाणु समा सकते हैं। अतः लोकाकाश और उसमें व्याप्त धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी कहे जाते हैं। इसी तरह शरीर परिणाम जीव द्रव्य भी यदि शरीर से बाहर होकर फैले तो लोकाकाश में व्याप्त हो सकता है। अतः जीव द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है। पुद्‌गल परमाणु तो एक ही प्रदेशी है, किंतु उन परमाणुओं के समूह से जो स्कंध बन जाते हैं वे संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी होते हैं। अतः पुद्‌गल द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं। इस तरह बहुप्रदेशी होने से पाँच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं।

6. यह विश्व और उसकी व्यवस्था

यह विश्व, जो हमारी आँखों के सामने है और जिसमें हम निवास करते हैं, इन्हीं द्रव्यों से बना हुआ है। 'बना हुआ' से मतलब यह नहीं लेना चाहिए कि किसी ने अमुक समय में इस विश्व की रचना की है। यह विश्व तो अनादि-अनिधन है, न इसकी आदि ही है और न अंत ही है न कभी किसी ने इसे बनाया है और न कभी इसका अंत ही होता है। अनादि काल से यह ऐसा ही चला आ रहा है और अनंत काल तक ऐसा ही चला जाएगा। रहा परिवर्तन, सो वह तो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। सर्वथा नित्य तो कोई वस्तु है ही नहीं। हो भी नहीं सकती, क्योंकि वस्तु को सर्वथा नित्य मानने पर विश्व में जो वैचित्र्य दिखाई देता है वह संभव नहीं हो सकता। अतः परिवर्तनशील संसार की मौलिक स्थिति में कोई परिवर्तन न होते हुए विश्व की व्यवस्था सदा जारी रहती है।

किंतु कुछ दार्शनिक और जनसाधारण की भी ऐसी धारणा है कि इस विश्व का कोई एक रचियता अवश्य होना चाहिए, जिसकी आज्ञा से विश्व की व्यवस्था

सदा नियमित रीति से जारी रहती है। सृष्टि रचना के संबंध में यों तो अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं, किंतु मोटे रूप से उन्हें तीन भागों में रखा जा सकता है। एक विभाग वाले तो यह मानते हैं कि एक परमेश्वर या ब्रह्म ही अनादि अनंत है। जो एक ब्रह्म को ही अनादि अनंत मानते हैं उनका कहना है कि ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। यह जो कुछ भी सृष्टि दिखाई दे रही है। वह स्वप्न के समान एक प्रकार का भ्रम है। जो परमेश्वर को ही अनादि अनंत मानते हैं उनका कहना है कि यह सृष्टि भ्रममात्र तो नहीं है। किंतु इसे परमेश्वर ने ही नास्ति से अस्ति रूप किया है। पहले तो एक परमेश्वर के सिवाय कुछ था ही नहीं। पीछे उसने किसी समय में अवस्तु से ही ये सब वस्तुएँ बना दी हैं। जब वह चाहेगा तब फिर वह इन्हें नास्ति रूप कर देगा और तब सिवाय उस एक परमेश्वर के अन्य कुछ भी न रहेगा। दूसरे विभाग वाले कहते हैं अवस्तु से कोई वस्तु बन नहीं सकती, वस्तु से ही वस्तु बना करती है। संसार में जीव और अजीव दो प्रकार की वस्तुएँ दिखाई देती हैं, वे किसी के द्वारा बनाई नहीं गई हैं। जिस प्रकार परमेश्वर सदा से है उसी प्रकार जीव और अजीव रूप वस्तुएँ भी सदा से हैं, सदा रहेंगी। परंतु इन वस्तुओं की अनेक अवस्थाओं का बनाना और बिगाड़ना उस परमेश्वर के ही हाथ में है। तीसरे विभाग वालों का कहना है कि जीव और अजीव ये दोनों ही प्रकार की वस्तुएँ अनादि से हैं और अनंतकाल तक रहेंगी। इनकी अवस्थाओं को बदलने वाला और इस विश्व का नियामक कोई तीसरा नहीं है। इन्हीं वस्तुओं के परस्पर के संबंध से इन्हीं के गुणों और स्वभावों के द्वारा सब परिवर्तन स्वयंमेव होता है।

इस प्रकार इन तीनों मतों में यद्यपि बहुत अंतर है तो भी एक बात में ये तीनों सहमत हैं। तीनों ने ही किसी न किसी वस्तु को अनादि अवश्य माना है। पहला ब्रह्म या ईश्वर को अनादि मानता है। वही इस विश्व को बनाता और बिगाड़ता है। दूसरा परमेश्वर के ही समान जीव और अजीव को भी अनादि मानता है। तीसरा जीव और अजीव को ही अनादि मानता है। अतः इन तीनों में यह विवाद तो उठ ही नहीं सकता कि बिना बनाए सदा से भी कोई वस्तु हो सकती है या नहीं, और जब यह मान लिया गया कि बिना बनाए सदा से भी कोई या कुछ वस्तुएँ हो सकती हैं तो यह बात भी सभी स्वीकार करेंगे वस्तु में कोई न कोई गुण या स्वभाव भी अवश्य होता है, क्योंकि बिना किसी गुण या स्वभाव के कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। और जैसे वह वस्तु अनादि है वैसे ही उसका गुण या स्वभाव भी अनादि है। सारांश यह कि दो बातों में संसार के सभी मत वाले एकमत हैं कि संसार में कोई वस्तु बिना बनाए अनादि भी हुआ करती है और बिना बनाए उसके गुण और स्वभाव भी अनादि होते हैं। अब केवल यह निश्चय करना है कि कौन वस्तु बिना बनी हुई अनादि है और कौन वस्तु सादि है?

जब हम संसार की ओर दृष्टि देते हैं तो संसार में तो हमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिलती जो बिना किसी वस्तु के ही बन गई हो और न कोई ऐसी वस्तु दिखाई देती है जो किसी समय एकदम नास्ति रूप हो जाती हो। यहाँ तो वस्तु से ही वस्तु बनती देखी जाती है। सारांश यह है कि न तो कोई सर्वथा नवीन वस्तु पैदा होती है और न कोई वस्तु सर्वथा नष्ट ही होती है किंतु जो वस्तुएँ पहले से चली आती हैं उन्हीं का रूप बदल-बदलकर नवीन-नवीन वस्तुएँ दिखाई देती रहती हैं, जैसे– सोने से अनेक प्रकार के आभूषण बनाए जाते हैं। सोने के बिना ये आभूषण नहीं बन सकते। फिर उन्हीं आभूषणों को तोड़कर दूसरे प्रकार के आभूषण बनाए जाते हैं। सोना उनमें भी रहता है। इस प्रकार मिट्टी, जल, वायु और धूप का संयोग पाकर बीज ही वृक्ष रूप परिणत होता है। वृक्ष को जला देने पर वह कोयले में परिवर्तित हो जाता है और कोयला जलकर राख हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु से ही वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा जगत् में एक भी परमाणु न तो कम होता है और न बढ़ता है। सदा जितने के तितने ही रहते हैं। हाँ, उनकी अवस्थाएँ बदल-बदलकर नई-नई वस्तुओं की सृष्टि होती रहती है। अतः यह बात सिद्ध होती है कि संसार में कोई वस्तु अस्ति से नास्ति रूप नहीं होती। किंतु हरेक वस्तु किसी न किसी रूप में सदा से चली आती है और आगे भी किसी न किसी रूप में सदा विद्यमान रहेगी। अर्थात् संसार की जीव व अजीव रूप सभी वस्तुएँ अनादि अनंत हैं और उनके अनेक नवीन रूप होते रहने से ही यह संसार चल रहा हैं।

इस प्रकार जीव व अजीव रूप सभी वस्तुओं की नित्यता सिद्ध हो जाने पर अब केवल एक बात निर्णय करने के योग्य रह जाती है कि संसार के ये सब पदार्थ किस तरह से नवीन-नवीन रूप धारण करते हैं। इस बात का निर्णय करने के लिए जब हम संसार की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि मनुष्य मनुष्य से ही पैदा होता है। इसी तरह पशु-पक्षी भी अपने माता-पिता से ही पैदा होते देखे जाते हैं। बिना माता-पिता के उनकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। गेहूँ, चना आदि अनाज तथा आम, अमरूद आदि वनस्पतियाँ भी अपने-अपने बीज, जड़ या शाखा वगैरह से ही उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं। वैसे ही पहले भी उत्पन्न होती होंगी। इस तरह इन सब वस्तुओं की उत्पत्ति अनादि मानने पर इस धरती को भी अनादि मानना ही पड़ता है।

जिस प्रकार वस्तुएँ अनादि अनंत हैं। उसी प्रकार उनके गुण और स्वभाव भी अनादि अनंत हैं। जैसे, अग्नि का स्वभाव उष्ण है। वह उसका स्वभाव अनादि से ही है और अनंत काल तक रहेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। यदि वस्तुओं के गुण और स्वभाव सदा बदलते रहते तो मनुष्य को किसी वस्तु को छूने या उसके पास जाने तक का साहस भी न होता। उसे सदा यह भय रहता

कि न जाने आज इसका क्या स्वभाव हो गया है? परंतु उनके गुण और स्वभाव के विषय में वह सदा निर्भय रहता है क्योंकि वह उनके स्वभाव के विषय में अपने और अपने से पूर्ववर्ती सज्जनों के अनुभव पर पूरा भरोसा करता है अतः यह सिद्ध होता है कि वस्तुओं की ही तरह उनके गुण और स्वभाव भी अनादि अनंत हैं।

इसी प्रकार संसार की वस्तुओं की जाँच करने पर यह भी मालूम होता है कि दो या तीन वस्तुओं के मिलने से जो वस्तुएँ आज बन सकती हैं वे पहले भी बन सकती थीं। जैसे नीला और पीला रंग मिलाने से आज हरा रंग बन जाता है। यह रंग पहले भी बन सकता था और आगे भी बनता रहेगा। ऐसे ही किसी एक वस्तु के प्रभाव से जो परिवर्तन दूसरी वस्तु में हो जाता है। वह पहले भी होता था या हो सकता था और आगे भी होता रहेगा। जैसे आग की गर्मी से जो भाप आज बनती है वही पहले भी बनती थी और आगे भी बनती रहेगी। जलाने से जैसे आज लकड़ी, आग व कोयला राख रूप हो जाती है वैसे ही वे पहले भी होती थीं और आगे भी होंगी। सारांश यह है कि अन्य वस्तुओं से प्रभावित होने अन्य वस्तुओं को प्रभावित करने के गुण और स्वभाव भी वस्तुओं में अनादि हैं।

इस प्रकार विचार करने पर जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की उत्पत्ति के समान या मुर्गी से अंडा और अंडे से मुर्गी की उत्पत्ति के समान संसार के सभी मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पतियाँ संतान दर संतान अनादि काल से चले आते हैं। किसी समय में इनका अनादि नहीं हो सकता और इन सबके अनादि होने से इस पृथ्वी का भी अनादि होना जरूरी है। साथ ही वस्तुओं के गुण स्वभाव और एक-दूसरे पर असर डालने तथा एक-दूसरे के असर को ग्रहण करने की प्रकृति भी अनादि काल से ही चली आती है, तब जगत् के प्रबंध का सारा ढाँचा ही मनुष्य की आँखों के सामने हो जाता है। उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब वस्तुओं के गुण और स्वभाव के कारण हो रहा है। इसके सिवा न तो कोई ईश्वरीय शक्ति ही इसमें कोई काम कर रही है और न ही उसकी कोई ज़रूरत ही है। जैसे, जब समुद्र के पानी पर सूरज की धूप पड़ती है तो उस धूप में जितना ताप होता है उसी के अनुसार समुद्र का पानी भाप रूप बन जाता है और जिधर ही हवा होती है उधर को ही भाप बनकर चला जाता है। फिर जहाँ कहीं भी उसे इतनी ठंड मिल जाती है कि वह पानी का पानी हो जाए वहीं पानी होकर बरसने लगता है। फिर वह बरसा हुआ पानी स्वभाव से ढाल की ओर बहता हुआ बहुत-सी चीजों को अपने साथ लेता हुआ चला जाता है और बहता-बहता नदियों के द्वारा समुद्र में ही जा पहुँचता है।

धूप, हवा, पानी और मिट्टी आदि के इन उपर्युक्त स्वभावों से दुनिया में लाखों करोड़ों परिवर्तन हो जाते हैं, जिससे फिर लाखों करोड़ों काम होने लग जाते हैं। अन्य भी जिन परिवर्तनों पर दृष्टि डालते हैं उनमें भी वस्तु स्वभाव को ही कारण पाते हैं।

जब संसार की सारी वस्तुएँ और उनके गुण स्वभाव सदा से हैं और जब संसार की सारी वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं से प्रभावित होती हैं और दूसरी वस्तुओं पर अपना प्रभाव डालती हैं तब तो यह बात जरूरी है कि उनमें सदा से ही आदान-प्रदान होता रहता है और उसके कारण नाना परिवर्तन होते रहते हैं। यही संसार का चक्र है जो वस्तु स्वभाव के द्वारा अपने आप ही चल रहा है। किंतु अविचारी मनुष्य उससे चकित होकर भ्रम में पड़े हुए हैं।

विचारने की बात है कि जब समुद्र के पानी की ही भाप बनकर उसका ही बादल बनता है तब यदि वस्तु स्वभाव के सिवाय कोई दूसरा ही वर्षा का प्रबंध करने वाला होता तो वह कभी भी उस समुद्र पर पानी न बरसाता जिसके पानी की भाप से ही वह बादल बना था। परंतु देखने में तो यही आता है कि बादल को जहाँ भी इतनी ठंड मिल जाती है कि भाप का पानी बन जाए वहीं वह बरस पड़ता है। यही कारण है कि वह समुद्र पर भी बरसता है और धरती पर भी। बादल को तो इस बात का ज्ञान ही नहीं कि उसे कहाँ बरसना चाहिए और कहाँ नहीं। इसी कारण वर्षा समय पर होती है और कभी कुसमय में। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा होता है कि सारी फसल-भर अच्छी वर्षा होकर अंत में एक आध वर्ष की ऐसी कमी हो जाती है कि सारी करी-कराई खेती मारी जाती है। यदि वस्तु स्वभाव के सिवाय कोई दूसरा प्रबंधकर्ता होता तो ऐसी अंधाधुंधी कभी भी न होती। इस पर शायद यह कहा जाए कि उसकी तो इच्छा ही यह थी कि इस खेत में अनाज पैदा न हो या कम पैदा हो। परंतु यदि यही बात होती तो वह सारी फसल-भर अच्छी वर्षा करके उस खेत को इतनी बड़ी ही क्यों होने देता। बल्कि वह तो उस किसान को बीज ही न बोने देता। यदि किसान पर उसका काबू नहीं चल सकता था तो खेत में पड़े बीज को ही वह न उगाने देता। यदि बीज पर भी उसका काबू न था तो बारिश की एक बूँद भी उस खेत में न पड़ने देता तथा यदि संसार के उस प्रबंधकर्ता की यही इच्छा होती कि इस वर्ष अनाज ही पैदा न हो या कमती पैदा हो तो वह उन खेतों को ही न सुखाता जो बारिश के ही ऊपर निर्भर हैं। बल्कि उन खेतों को भी जरूर सुखाता जिनमें नहर से पानी आता है। परंतु देखने में यही आता है कि जिस वर्ष वर्षा नहीं होती उन खेतों में तो कुछ पैदा नहीं होता जो वर्षा पर निर्भर हैं और नहर से पानी आने वाले खेतों में उसी वर्ष सब कुछ पैदा हो जाता है। इससे सिद्ध है कि संसार का कोई एक प्रबंधकर्ता नहीं है। बल्कि वस्तु स्वभाव के कारण ही जब वर्षा के निमित्त कारण जुट जाते हैं तब पानी बरस जाता है और जब वे कारण नहीं जुटते तब पानी नहीं बरसता। वर्षा को इस बात का ज्ञान नहीं है कि उसके कारण कोई खेती हरी होगी या सूखेगी और संसार के जीवों का लाभ होगा या हानि। इससे ऐसी गड़बड़ी हो जाती

है कि जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ एक बूँद भी पानी नहीं पड़ता और जहाँ आवश्यकता नहीं होती वहाँ खूब वर्षा हो जाती है। किसी प्रबंधकर्ता के न होने के कारण ही मनुष्य ने नहर निकालकर और कुएँ आदि खोदकर यह प्रबंध किया है कि यदि वर्षा न हो तो भी अपने खेतों को पानी देकर वह अनाज पैदा कर सके।

इसके सिवाय जब प्रत्येक धर्म के अनुसार संसार में इस समय पापों की ही अधिकता हो रही है और नित्य ही भारी-भारी अन्याय देखने में आते हैं तब यह कैसे माना जा सकता है कि जगत् का कोई प्रबंधकर्ता भी है, जिसकी आज्ञा को न मानकर ही ये सब अपराध और पाप हो रहे हैं। शायद कहा जाए कि राजा की भी तो आज्ञा भंग होती रहती है। किंतु राजा न तो सर्वज्ञ ही होता है और न सर्वशक्तिमान। इसलिए न तो उसे अपराध करने वालों का ही पता रहता है और न ही वह सब प्रकार के अपराधों को दूर ही सकता है। परंतु जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो और छोटे से परमाणु से लेकर आकाश तक की गति और स्थिति का कारण हो जिसकी इच्छा के बिना एक पत्ता तक भी नहीं हिल सकता हो, उसके संबंध में यह बात कभी भी नहीं कही जा सकती। एक ओर तो उसे संसार के एक-एक कण का प्रबंधकर्ता बताना और दूसरी ओर अपराधों के रोकने में उसे असमर्थ ठहराना, यह तो उस प्रबंधकर्ता का परिहास है।

तथा यदि कोई इस संसार का प्रबंधकर्ता होता तो वह यह अवश्य बतलाता कि इस समय हमें जो सुख-दुःख मिल रहा है वह हमारे कौन-से कृत्यों का फल है, जिससे हम आगामी को बुरे कृत्यों से बचते और अच्छे कर्मों की ओर लगते। परंतु हमें तो यह भी मालूम नहीं कि पुण्य क्या है और पाप क्या है? एक ही कृत्य को कोई पाप कहता है और कोई पुण्य। यही वजह है कि संसार में सैकड़ों प्रकार के मत फैले हुए हैं और तमाशा यह है कि सब ही अपने-अपने मत को उसी सर्वशक्तिमान परमात्मा का बताया हुआ कहते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं ऐसा अँधेर तो मामूली राजाओं के राज्य में भी नहीं होता। प्रत्येक राजा के राज्य में जो कानून प्रचलित होता है, यदि कोई मनुष्य उसके विपरीत नियम चलाना चाहता है या उसके विरुद्ध प्रचार करता है तो वह दंड पाता है। किंतु सर्वशक्तिमान परमात्मा के राज्य में सैकड़ों ही मतों के प्रचारक अपने-अपने धर्म का उपदेश करते हैं–अपने-अपने सिद्धांतों को उसी एक परमेश्वर की आज्ञा बताकर उसके ही अनुसार चलने की घोषणा करते हैं और यह सब कुछ होते हुए भी संसार के प्रबंधकर्ता उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर की ओर से कुछ रोक-टोक इस विषय में नहीं होती। ऐसी स्थिति में तो कभी भी यह नहीं माना जा सकता कि कोई सर्वशक्तिमान परमेश्वर इस संसार का प्रबंध करता है। बल्कि यही मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि वस्तु स्वभाव पर ही संसार का सारा ढाँचा बँधा हुआ है और

उसी के अनुसार जगत् का सब प्रबंध चला आता है। यही कारण है कि यदि कोई मनुष्य वस्तु स्वभाव के विपरीत आचरण करता है तो ये सब वस्तुएँ उसको मना करने या रोकने नहीं जाती और न अपने स्वभाव के अनुसार कभी अपना फल देने से ही चूकती हैं। जैसे, आग में चाहे तो कोई बालक नादानी से अपना हाथ डाल दे या किसी बुद्धिमान पुरुष का हाथ भूल से पड़ जाए, वह आग अपना काम अवश्य करेगी। मनुष्य के शरीर में सैकड़ों बीमारियाँ ऐसी होती हैं जो उसके अज्ञात दोषों का ही फल होती हैं। परंतु प्रकृति या वस्तु स्वभाव उसे नहीं बताते कि तेरे अमुक दोष के कारण तुझको यह बीमारी हुई है। इसी तरह हमारे दोषों का फल भी हमें वस्तु स्वभाव के अनुसार स्वयं मिल जाता है।

इस प्रकार वस्तु स्वभाव के अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि सुख-दुःख भोगते समय क्यों हमको हमारे उन कृत्यों की खबर नहीं होती, जिनके फलस्वरूप हमें वह सुख-दुःख भोगना पड़ता है। परंतु किसी प्रबंधकर्ता के मानने की हालत में वह बात कभी ठीक नहीं बैठती, बल्कि उल्टा अंधेर ही दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि हम यह मानते हैं कि जो बच्चा किसी चोर, डाकू या वेश्या आदि पापियों के घर में पैदा किया गया है वह अपने भले-बुरे कृत्यों के फलस्वरूप ही ऐसे स्थान में पैदा किया गया है, तो सर्वशक्तिमान दयालु परमेश्वर को प्रबंधकर्ता मानने की अवस्था में यह बात ठीक नहीं बैठती, क्योंकि शराबी शराब पीकर और उसका बुरा फल भोगकर भी यदि शराब की दुकान पर जाता है और पहले से भी तेज़ शराब माँगता है तो वस्तु स्वभाव के अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि शराब ने उसका दिमाग ऐसा खराब कर दिया है, जिससे अब उसको पहले से भी ज़्यादा तेज़ शराब पीने की इच्छा होती है। परंतु जगत् के प्रबंधकर्ता द्वारा ही फल मिलने की अवस्था में तो शराब पीने का ऐसा दंड मिलना चाहिए था, जिससे वह शराब की दुकान तक पहुँच ही नहीं सकता या फिर कभी उसका नाम ही नहीं लेता। इसी तरह व्यभिचार और चोरी आदि की भी ऐसी सजा मिलनी चाहिए थी, जिससे वह कभी भी व्यभिचार या चोरी करने नहीं पाता। जो जीव चोरों या वेश्याओं के घर पैदा किए जाते हैं उन्हें ऐसी जगह पैदा करना तो चोरी और व्यभिचार की शिक्षा दिलाने का ही प्रयत्न करना है। सर्वशक्तिमान दयालु परमेश्वर से तो ऐसी आशा कभी भी नहीं की जा सकती।

ऐसी बातें देखकर यही मानना पड़ता है कि संसार का कोई भी एक बुद्धिमान प्रबंधकर्ता नहीं है। बल्कि वस्तु स्वभाव के द्वारा और उसी के अनुसार ही जगत् का सब प्रबंध चल रहा है। खेद है कि मनुष्यों ने वस्तु स्वभाव को न समझकर संसार का एक प्रबंधकर्ता मान लिया है। पृथ्वी पर राजा को मनुष्यों के बीच में प्रबंध संबंधी कार्य

करता हुआ देखकर सारे संसार के प्रबंधकर्ता को भी वैसा ही मान लिया है। जिस प्रकार राजा लोग खुशामद और स्तुति से प्रसन्न होकर खुशामद करने वालों के वश में हो जाते हैं और उनकी इच्छा के अनुसार ही कार्य करने लग जाते हैं। उसी प्रकार दुनिया के लोगों ने भी संसार के प्रबंधकर्ता को खुशामद या स्तुति से प्रसन्न होने वाला मानकर उसकी भी खुशामद करना शुरू कर दिया है और अपने आचरणों को सुधारना छोड़ बैठे हैं। इसी वजह से संसार में पापों की वृद्धि होती जाती है। जब मनुष्य इस भ्रामक विचार को हृदय से दूर करके वस्तु स्वभाव के अटल सिद्धांत को मानने लग जाएँगे तभी उनके चित्त में यह विचार जड़ पकड़ सकता है कि जिस प्रकार आँखों में मिर्च और घाव पर नमक डाल देने से दर्द का होना आवश्यक है वह दर्द किसी की खुशामद या स्तुति से दूर नहीं हो सकता, जब तक कि मिर्च या नमक का असर दूर न कर दिया जाए। उसी प्रकार जैसा हमारा आचरण होगा वैसा ही उसका फल भी हमें अवश्य भोगना पड़ेगा। किसी की खुशामद या स्तुति से उसे टाला नहीं जा सकता।

'जैसी करनी वैसी भरनी' के सिद्धांत पर पूर्ण विश्वास हो जाने पर ही यह मनुष्य बुरे कृत्यों से बच सकता है और भले कृत्यों की तरफ लग सकता है। परंतु जब तक मनुष्य को यह ख्याल बना रहेगा कि खुशामद करने, केवल स्तुतियाँ पढ़ने या भेंट चढ़ाने आदि के द्वारा भी मेरे अपराध क्षमा हो सकते हैं तब तक वह बुरे कामों से नहीं बच सकता और न अच्छे कामों की तरफ लग सकता है। अतः संसार के लोगों को चाहिए कि वे वस्तु स्वभाव के अटल सिद्धांत पर विश्वास करें, अपने-अपने भले-बुरे कृत्यों का फल भुगतने के लिए सदा तैयार रहें और किसी की खुशामद या स्तुति करने से उनका फल टल जाना बिलकुल ही असंभव समझें। ऐसा मान लेने पर ही मनुष्यों को अपने ऊपर पूरा भरोसा होगा, वे अपने पैरों पर खड़े होकर आचरणों को ठीक बनाने का प्रयत्न करेंगे और तभी दुनिया से सब पाप और अन्याय दूर हो सकेंगे। नहीं तो, किसी प्रबंधकर्ता को मानने की अवस्था में हृदय में अनेक भ्रम उत्पन्न होते रहेंगे और दुनिया के लोग पापों की तरफ ही झुकते रहेंगे। जैसे, कोई एक तो यह सोचेगा कि यदि उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर को मुझसे पाप कराना मंजूर नहीं होता तो वह मेरे मन में पाप करने का विचार ही क्यों आने देता। दूसरा विचारेगा कि वह मुझसे उस प्रकार के पाप कराना मंजूर नहीं होता तो वह मुझे ऐसा बनाता ही क्यों? तीसरा कहेगा कि यदि यह पापों को न कराना चाहता तो पापों को पैदा ही क्यों करता। चौथा सोचेगा कि अब तो यह पाप कर लें फिर उस सर्वशक्तिमान की खुशामद करके उसे भेंट चढ़ाकर अपराध क्षमा करा लेंगे। सारांश यह है कि संसार का प्रबंधकर्ता मानने की अवस्था में तो लोगों को पाप करने के लिए सैकड़ों बहाने बनाने का अवसर मिलता है, परंतु वस्तु स्वभाव के अनुसार ही संसार का सब कार्य चलता हुआ मानने की

अवस्था में इसके सिवाय कोई विचार ही नहीं उठ सकता कि जैसा करेंगे वैसा ही हम उसका फल पाएँगे। ऐसा मानने पर ही हम बुरे आचरणों से बच सकते हैं और अच्छे आचरणों की ओर लग सकते हैं। अतः किसी प्रबंधकर्ता की खुशामद करके या भेंट चढ़ाकर उसको राजी कर लेने के भरोसे न रहकर हमको स्वयं अपने आचरणों को सुधारने की ओर ही दृष्टि रखनी चाहिए और यही श्रद्धान रखना चाहिए कि यह विश्व अनादि-निधन है उसका कोई एक बुद्धिमान प्रबंधकर्ता नहीं है।

7. जैन दृष्टि से ईश्वर

'ईश्वर' शब्द के सुनते ही हमें जिन अर्थों को बोध होता है वे हैं– ऐश्वर्यशाली, वैभवशाली, सर्वशक्तिमान, स्वामी, अधिकारी, कर्ता-हर्ता आदि। इस लोक में जो दर्जा एक स्वतंत्र सम्राट का है वही परलोक में ईश्वर या परमेश्वर का माना जाता है। जैसे किसी राजवंश में जन्म लेने वालों को सम्राट पद अनायास प्राप्त हो जाता है, उसके लिए उन्हें कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वैसे ही वह ईश्वर भी अनादि काल से संसार के कारण क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से सर्वथा अछूता है, उनका विनाश कर देने से उसे ईश्वरत्व पद प्राप्त नहीं हुआ है, किंतु सदा से ही उनसे वह सर्वथा रहित है। इसलिए वह सबसे बड़ा है, सबका गुरु है, सबका ज्ञाता है जो संसारी जीव क्लेश, कर्म आदि को नष्ट करके मुक्त होते हैं। वे कभी भी उसके बराबर नहीं हो सकते। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है, क्योंकि काल के द्वारा उसका कभी भी नाश नहीं होता। ऐसे अनादि-अनंत पुरुष-विशेष को ईश्वर कहा जाता है। किंतु जैन धर्म में इस प्रकार के ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। उसका कहना है–

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपत्तितः।।8।।–आप्तप०

'कोई सर्वद्रष्टा सदा से कर्मों से अछूता हो नहीं सकता; क्योंकि बिना उपाय के उसका सिद्ध होना किसी भी तरह नहीं बनता।'

असल में ईश्वर को अनादि मानने के कारण उसे सदा कर्मों से अछूता माना गया है और चूँकि वह सृष्टि का रचयिता है इसलिए उसे अनादि माना गया है। किंतु जैन धर्म किसी को इस विश्व का रचयिता नहीं मानता, जैसा कि हम पहले बताते आए हैं। अतः वह किसी एक अनादि सिद्ध परमात्मा की सत्ता से इंकार करता है। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नहीं, बल्कि असंख्य हैं। अर्थात् जैन धर्म के अनुसार इतने ईश्वर हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। उनकी संख्या अनंत है और आगे भी वे बराबर अनंतकाल तक होते रहेंगे, क्योंकि जैन सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक

आत्मा अपनी स्वतंत्र सत्ता को लिए हुए मुक्त हो सकता है। आज तक ऐसे अनंत आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होंगे। ये मुक्त जीव ही जैन धर्म के ईश्वर हैं। इन्हीं में से कुछ मुक्तात्माओं को जिन्होंने मुक्त होने से पहले संसार को मुक्ति का मार्ग बतलाया था, जैन धर्म तीर्थंकर मानता है।

जैन धर्म का मंतव्य है कि अनादि काल से कर्मबंध से लिप्त होने के कारण जीव अल्पज्ञ हो रहा है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के द्वारा उसके स्वाभाविक ज्ञान आदि सद्‌गुण ढके हुए हैं। इन आवरणों के दूर होने पर यह जीव अनंत ज्ञान आदि का अधिकारी होता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। जो महापुरुष कर्मबंधन को काटकर मुक्त हुए हैं वे सब सर्वज्ञ हैं। कर्मों के कारण जीव के स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास नहीं होता। उनके दूर होने पर प्रत्येक जीव अपनी-अपनी स्वाभाविक शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। मतलब यह है कि जीवों का कर्मबंधन तथा जीवों का मर्यादित किंतु हीनाधिक ज्ञान इस बात को बताता है कि जीवों की मुक्ति तथा उनकी सर्वज्ञता असंभव वस्तु नहीं है तथा जो सर्वज्ञ होता है वह कर्मबंधन को काटकर ही सर्वज्ञ होता है उसके बिना कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता। इसलिए अनादि सिद्ध कोई नहीं है।

कर्म बंध का विशेष वर्णन आगे कर्म सिद्धांत में किया गया है। चार घाति कर्मों का नाश करके यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ का दूसरा नाम केवली भी है। क्योंकि उसका ज्ञान और दर्शन आत्मा के सिवा किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं करता, अतः वह केवली कहा जाता है। उसे जीवन्मुक्त भी कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि अभी वह सशरीर है। किंतु घाति कर्मों के नष्ट हो जाने के कारण मुक्तात्मा के ही समान है। वह चार घातिया कर्मों का नाश कर देता है। इसलिए उसे 'अरिहंत' भी कहते हैं। उसे ही 'जिन' कहते हैं। वह कर्म रूपी शत्रुओं को जीत लेता है। ये केवली जिन दो प्रकार के होते हैं– एक सामान्य केवली और दूसरे तीर्थंकर केवली। सामान्य केवली अपनी ही मुक्ति की साधना के बाद संसारी जीवों को भी मुक्ति का समस्त दुःखों से छूटने का मार्ग बताते हैं। इनके उपदेश से संसार के जीव तर जाते हैं इसलिए वे तीर्थस्वरूप गिने जाते हैं।

जैसे ब्राह्मण धर्म में रामचंद्र जी आदि को अवतार रूप माना जाता है या बौद्ध धर्म में बुद्ध की मान्यता है वैसे ही जैन धर्म में तीर्थंकरों की मान्यता है। किंतु ये तीर्थंकर किसी परमात्मा के अवतार रूप नहीं होते बल्कि संसारी जीवों में से ही कोई जीव प्रयत्न करते-करते लोककल्याण की भावना से तीर्थंकर पद प्राप्त करता है। जब कोई तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाला जीव माता के गर्भ में आता है तब तीर्थंकर की माता को सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। तीर्थंकरों के गर्भावतरण, जन्माभिषेक, जिन दीक्षा, केवल ज्ञान प्राप्ति और निर्वाण प्राप्ति ये पंच महाकल्याण होते हैं, जिनमें

इंद्रादिक भी सम्मिलित होते हैं। इन पंच महाकल्याण रूप पूजा के कारण तीर्थंकरों को 'अर्हत'[1] भी कहा जाता है।

तीर्थंकर अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य के धारी होते हैं। ये साक्षात् भगवान् या ईश्वर होते हैं। जैन साहित्य में इनके ऐश्वर्य का बहुत वर्णन मिलता है। ये जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान के धारी होते हैं। जन्म से ही इनका शरीर अपूर्व कांतिवान होता है। इनके निश्वास में अपूर्व सुगंधित रहती है। इनके शरीर का रक्त और मांस सफेद होता है। केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अर्थात् अर्हत् पद प्राप्त कर लेने पर उनका उपदेश सुनने के लिए पशु-पक्षी तक इनकी सभा में उपस्थित होते हैं। इस सभा को 'समवसरण' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है 'समान रूप से सबका शरणभूत' अर्थात् जिनकी शरण में सब आते हैं। इस सभा में बारह प्रकोष्ठ होते हैं, जिनमें एक प्रकोष्ठ पशुओं के लिए भी होता है। तीर्थंकर की वाणी को पशु भी समझ लेते हैं। जहाँ-जहाँ इनका विहार होता है वहाँ-वहाँ रोग, बैर, महामारी, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष आदि रह नहीं सकते। तीर्थंकर भगवान् के पधारने के साथ ही देश में सर्वत्र शांति छा जाती है। कैवल्य लाभ करने के पश्चात् ये अपना शेष जीवन संसार के प्राणियों का उद्धार करने में ही व्यतीत करते हैं। इसी से जैनों के परमपवित्र पंच नमस्कार मंत्र में अरिहंत को प्रथम स्थान दिया गया है–

णमो अरिहंताणं-अर्हंतों को नमस्कार हो।

जब इन अर्हंतों की आयु थोड़ी शेष रह जाती है तब ये योग का विरोध करके बाकी बचे चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर देते हैं। चारों अघातिया कर्मों का भी नाश होने पर इन्हें मुक्ति की प्राप्ति होती है। इनका शरीर यहीं छूट जाता है और अपने स्वाभाविक अनादि गुणों से युक्त केवल शुद्ध आत्मा रह जाता है, जो मुक्त होने के पश्चात् स्वाभाविक उर्ध्वगमन के द्वारा लोक के ऊपर अग्रभाग में ठहर जाता है। मुक्त होने के पश्चात् सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में कोई अंतर नहीं रहता, दोनों को एक ही प्रकार की मुक्ति प्राप्त होती है। यद्यपि संसार में सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर केवली अधिक पूजनीय माने जाते हैं, क्योंकि तीर्थंकर केवली से संसार को बहुत लाभ पहुँचता है। किंतु मुक्त होने पर दोनों में इस तरह का कोई अंतर नहीं रहता। संसार अवस्था में जो कुछ अंतर था वह तीर्थंकर पद के कारण था। मुक्त होने पर इस पद से भी मुक्ति मिल जाती है, अतः मुक्ति में सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में

1. 'संभवतः इस 'अर्हत्' नाम पर से हिंदू पुराणकारों ने यह कल्पना कर डाली है कि किसी 'अर्हत्' नाम के राजा ने जैन धर्म की स्थापना की थी। अर्हत् किसी का नाम नहीं है बल्कि जैन तीर्थंकरों का एक पद है। इस पद को प्राप्त कर लेने पर ही वे जीवनमुक्त होकर संसार को कल्याण का मार्ग बतलाते हैं वही मार्ग उनके 'जिन' नाम पर से जैन धर्म कहा जाता है।'

कोई भेद नहीं रहता। दोनों मुक्त कहे जाते हैं। मुक्तों को जैन सिद्धांत में 'सिद्ध' भी कहते हैं। यद्यपि अर्हंतों से सिद्धों का पद ऊँचा है क्योंकि अर्हंत कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त नहीं होते और सिद्ध उससे सर्वथा मुक्त होते हैं तथापि सिद्धों को अर्हंतों के बाद नमस्कार किया गया है। यथा–

णमो सिद्धाणं-सिद्धों को नमस्कार हो।

इस प्रकार जैन दृष्टि से अर्हंत पद और सिद्ध पद को प्राप्त हुए जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव में इस प्रकार के ईश्वर होने की शक्ति है। परंतु अनादि काल से कर्मबंधन के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। जो जीव इस कर्मबंधन को तोड़ डालता है उसको ही ईश्वर होने की शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं और वह ईश्वर बन जाता है। इस तरह ईश्वर किसी एक पुरुष विशेष का नाम नहीं है। किंतु अनादि काल से जो अनंत जीव अर्हंत और सिद्ध पद को प्राप्त हो गए हैं और आगे होंगे, उन्हीं का नाम ईश्वर है।

जैन धर्म के ये ईश्वर संसार से कोई संबंध नहीं रखते। न सृष्टि के संचालन में उनका हाथ है, न वे किसी का भला-बुरा करते हैं। न वे किसी के स्तुतिवाद से कभी प्रसन्न होते हैं और न किसी के निंदावाद से अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें। न वे किसी को उसके अपराधों का दंड देते हैं। जैन सिद्धांत के अनुसार सृष्टि स्वयं सिद्ध है। जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख-दुःख पाते हैं। ऐसी अवस्था में मुक्तात्माओं और अर्हंतों को इन सब झँझटों में पड़ने की आवयश्कता ही नहीं है, क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

सारांश यह है कि जैन धर्म में ईश्वर रूप में माने हुए अर्हंतों और मुक्तात्माओं का उस ईश्वरत्व से कोई संबंध नहीं है जिसे अन्य लोक संसार के कर्ता-हर्ता ईश्वर में कल्पना किया करते हैं। उस ईश्वरत्व की तो जैन दर्शन के विविध ग्रंथों में बड़े जोरों के साथ आलोचना की गई है। और उस दृष्टि से जैन धर्म को अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। उसमें इस तरह के ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।

8. उसकी उपासना

क्यों और कैसे?

जैनों में मूर्तिपूजा का प्रचलन बहुत प्राचीन है। सम्राट खारवेल के शिलालेख में कलिंग पर चढ़ाई करके नंद द्वारा अग्रजिन (श्रीऋषभदेव) की मूर्ति को ले जाने का और मगध पर चढ़ाई करके खारवेल के द्वारा उसे प्रत्यावर्तन करके लाने का उल्लेख

मिलता है। इससे सिद्ध है कि आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व राजघरानों तक में जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा होती थी। स्वामी दयानंद तो जैनों से ही मूर्तिपूजा का प्रचलन हुआ मानते हैं। यों तो भारत के प्रायः सभी प्राचीन धर्मों में मूर्तिपूजा प्रचलित है, किंतु जैन मूर्ति के स्वरूप, उसकी पूजा-विधि तथा उसके उद्देश्य में अन्य धर्मों में बहुत अंतर है जो उसे समझ लेगा वह मूर्तिपूजा को व्यर्थ कहने का साहस नहीं कर सकता।

जैन धर्म में पाँच पद बहुत प्रतिष्ठित माने गए हैं– अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हें पंचपरमेष्ठी कहते हैं। जैनों के परमपवित्र पंचनमस्कार मंत्र में इन्हीं पंचपदों को नमस्कार किया गया है। ये ही पाँच जैन धर्म में वंदनीय और पूजनीय हैं।

जो चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप स्वचतुष्टय को प्राप्त करता है, उन परम औदारिक शरीर में स्थित शुद्ध आत्मा को अर्हंत कहते हैं, जिनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। ये जीवन्मुक्त होते हैं। जो आठों कर्मों से और शरीर से भी रहित हो जाते हैं, लोकालोक के जानने और देखने वाले, सिद्धालय में विराजमान उस पुरुषाकार आत्मा को सिद्ध कहते हैं और यह मुक्त होते हैं। जो साधु साधु संघ के प्रधान होते हैं और पाँच प्रकार के आचार का स्वयं भी पालन करते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं। जो साधु समस्त शास्त्रों के पारगामी होते हैं, अन्य साधुओं को पढ़ाते हैं तथा सदा धर्म का उपदेश करने में लगे रहते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जो विषयों की आशा के फंदे से निकलकर सदा ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं, जिनके पास न किसी प्रकार की परिग्रह होती है और न कोई ठग विद्या, मोक्ष की साधना करने वाले उन शांत, निस्पृही और जितेंद्रिय मुनि को साधु कहते हैं।

इन पाँच परमेष्ठियों में से अर्हंत परमेष्ठी की मूर्ति जैन मंदिरों में बहुतायत से विराजमान रहती है। यद्यपि वे मूर्तियाँ जैनों के 24 तीर्थंकरों में से किसी न किसी तीर्थंकर की ही होती है, किंतु होती अर्हंत अवस्था की ही हैं क्योंकि तीर्थंकर पद का वास्तविक कार्य धर्म तीर्थ प्रवर्तन है, जो अर्हंत अवस्था में ही होता है। तीर्थंकर भी अर्हंत अवस्था को प्राप्त किए बिना पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ नहीं होते और बिना वीतरागता और सर्वज्ञता के धर्म तीर्थ का प्रवर्तन नहीं हो सकता। अतः धर्म तीर्थ के प्रवर्तक जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ जैन मंदिरों में बहुतायत से पाई जाती हैं। ये मूर्तियाँ पद्मासन भी होती हैं और खड्गासन भी होती हैं। किंतु होती सभी ध्यानस्थ हैं। एक आत्मध्यान में लीन योगी की जैसी आकृति होती है वैसी ही आकृति उन मूर्तियों की होती हैं।

भगवद्गीता में योगाभ्यासी का चित्रण करते हुए लिखा है–

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नाचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥13॥
प्रशान्तात्मा विगत भी ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत्त मत्परः॥14॥ अ० 6

भावार्थ– शरीर, सिर और गर्दन को सीधा रखकर, निश्चल हो, इधर-उधर न देखते हुए, स्थिर मन से अपनी नाक के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर प्रशांत आत्मा, निर्भय हो ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर तथा मन को वश में करके मेरे में मन को लगा।

जैन मूर्ति की भी बिलकुल ऐसी ही मुद्रा होती है। उसकी दृष्टि नाक के अग्र भाग पर रहती है। शरीर, सिर और गर्दन एक सीध में रहते हैं। पद्मासन में बाईं हथेली के ऊपर दाईं हथेली खुली होती है और खड्गासन में दोनों हाथ जानु तक लटके रहते हैं। चेहरे पर शांति, निर्भयता और निर्विकारता खेलती रहती है। शरीर पर विकार को ढाँकने के लिए न कोई आवरण होता है और न सौंदर्य को चमकाने के लिए कोई आभरण रहता है। न हाथ में कोई अस्त्र-शस्त्र ही होता है। भगवद्गीता में कही हुई जिस योग मुद्रा से योगी निर्वाण लाभ करते हैं, वही मुद्रा जैन मूर्ति में अंकित रहती है। देखने वाले को यही प्रतीत होता है कि वह किसी प्रशांतात्मा योगी की मूर्ति का दर्शन कर रहा है। न वहाँ राग है और न वैर-विरोध।

सिद्धों की भी मूर्ति रहती है, किंतु चूँकि सिद्ध परमेष्ठी देहरहित होते हैं। इसलिए पीतल की चादर के बीच में से मनुष्याकार को काटकर मनुष्याकार रूप खाली स्थान छोड़ दिया जाता है। आचार्य, उपाध्याय और साधु की भी मूर्तियाँ कहीं-कहीं पाई जाती हैं। इनकी मूर्तियों में साधु के चिह्न पीछी और कमंडलु अंकित रहते हैं। सारांश यह है कि जैन मूर्ति जैनों के आराध्य पंचपरमेष्ठियों की प्रतिकृति रूप होती है।

जिन मंदिर में जाकर देव दर्शन करना प्रत्येक जैन श्रावक और श्राविका का नित्य कर्तव्य है। वहाँ वह यह विचारता है कि यह मंदिर जिन भगवान् का समवसरण-उपदेश सभा है। वेदी में विराजमान जिन की मूर्ति ही जिनेंद्रदेव है, और मंदिर में उपस्थित स्त्री-पुरुष ही श्रोतागण हैं। ऐसा विचार करके अच्छी-अच्छी स्तुतियाँ पढ़ते हुए जिन भगवान् को नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देता है और यदि पूजन करता होता है तो पूजा भी करता है। पूजा में सबसे पहले जल से मूर्तियों का अभिषेक किया जाता है। कहीं-कहीं दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वोषधि रस से भी अभिषेक करने की पद्धति है। अभिषेक के पश्चात् पूजन किया जाता है। यह पूजन जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों से किया जाता है। एक-एक पद्य बोलते जाते हैं और नंबरवार एक-एक द्रव्य चढ़ाते हैं। द्रव्य चढ़ाते समय द्रव्य चढ़ाने का उद्देश्य बोलकर द्रव्य चढ़ाते

हैं। यथा– मैं जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल चढ़ाता हूँ। अर्थात् जैसे जल से गंदगी दूर हो जाती है वैसे ही मेरे पीछे लगे हुए रोग धुलकर दूर हो जाएँ।

1. मैं संसार रूपी संताप की शांति के लिए चंदन चढ़ाता हूँ।

2. मैं अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए अक्षत चढ़ाता हूँ।

3. मैं काम के विकार को दूर करने के लिए पुष्प चढ़ाता हूँ।

4. मैं क्षुधा रूपी रोग को दूर करने के लिए नैवेद्य चढ़ाता हूँ।

5. मैं अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिए दीप चढ़ाता हूँ।

6. मैं आठों कर्मों को जलाने के लिए धूप चढ़ाता हूँ।

7. यह धूप अग्नि में चढ़ाई जाती है। मैं मोक्षफल की प्राप्ति के लिए फल चढ़ाता हूँ।

8. एक-एक करके आठों द्रव्य चढ़ाने के बाद आठों द्रव्यों को मिलाकर चढ़ाया जाता है। उसे 'अर्घ्य' कहते हैं। यह भी अनर्घ अर्थात् अमूल्य पद की प्राप्ति के उद्देश्य से चढ़ाया जाता है।

इस प्रकार पूजा का उद्देश्य भी अपने विकारों और विकारों के कारणों को दूर करके चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही रखा गया है। पूजा के दो भेद किए गए हैं– द्रव्य पूजा और भाव पूजा। शरीर और वचन को पूजन में लगाना द्रव्य पूजा है और उसमें मन को लगाना भाव पूजा है। शरीर को लगाने के लिए द्रव्य रखे गए हैं, जिससे हाथ वगैरह का उपयोग उनके चढ़ाने में ही होता है और वचन को उसमें लगाने के लिए पद्य रखे गए हैं जिन्हें पढ़-पढ़कर द्रव्य चढ़ाया जाता है। इस तरह मनुष्य का शरीर और वचन पूजन में रहने पर भी यदि उसका मन उसमें न रम रहा हो तो वह पूजन बेकार ही है क्योंकि बिना भाव के कोई क्रिया फलदायक नहीं होती। जैसा कि कल्याण मंदिर स्रोत में कहा भी है–

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥38॥

'हे जनबंधु! तुम्हारा उपदेश सुनकर भी, तुम्हारी पूजा करके भी और तुम्हें बारंबार देखकर भी अवश्य ही मैंने भक्तिपूर्वक तुम्हें अपने हृदय में स्थापित नहीं किया। इसी से मैं दुःखों का पात्र बना, क्योंकि भाव शून्य क्रिया कभी भी फलदायी नहीं होती।'

अतः द्रव्य पूजा के साथ-शारीरिक और वाचनिक पूजा के साथ भाव-पूजा का, मानसिक पूजा का होना आवश्यक है। किंतु भाव पूजा ऊपर कहे गए आठ द्रव्यों के बिना भी हो सकती है। द्रव्य तो मन, वचन और काय को लगाने के लिए एक आलंबन मात्र है।

इस प्रकार जैन मूर्ति का स्वरूप और पूजा विधि बतलाकर उसके उद्देश्य पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

जैन धर्म में बतलाया है कि दुनिया में प्रत्येक वस्तु का चार रूप से व्यवहार होता देखा जाता है– एक नाम रूप से, दूसरे स्थापना रूप से, तीसरे द्रव्य रूप से और चौथे भाव रूप से। उदाहरण के लिए, हम 'राजा' को लेते हैं। राजा शब्द का व्यवहार चार रूप से देखा जाता है। एक तो बहुत-से लोग अपने बच्चों का राजा नाम रख लेते हैं। वे बच्चे नाम से राजा कहलाते हैं। दूसरे, राजा के अभाव में राजकार्य चलाने के लिए किसी को उनका प्रतिनिधि मानकर राजा की ही तरह उसका आदर-सत्कार होता देखा जाता है। जैसे भारत के वायसराय राजा के प्रतिनिधि के रूप में राजा की ही तरह माने जाते थे। यह स्थापना की अपेक्षा राजा कहे जाते थे। अर्थात् वे वास्तव में राजा नहीं थे किंतु स्थानापन्न थे। तीसरे, जो राजपुत्र आगे राजा होने वाला है या जो राजगद्दी से उतार दिया गया है उन्हें भी राजा साहब कहते हुए देखा जाता है। वे द्रव्य की अपेक्षा राजा कहे जाते हैं। चौथे, राज्यासन पर विराजमान वास्तविक राजा तो राजा है ही। वह भाव की अपेक्षा राजा है। इसी तरह तीर्थंकर भगवान् का भी चार रूप से व्यवहार होता है।

जब कोई तीर्थंकर मोक्ष को चला जाता है तो उनकी मूर्तियाँ बनवाकर और उनमें उस तीर्थंकर की स्थापना करके उसका उसी तरह से आदर-सत्कार आदि किया जाता है जिस तरह वास्तविक तीर्थंकर का आदर सत्कार होता था। कोई भी पाषाण धातु की बनी हुई उन मूर्तियों को ही तीर्थंकर परमात्मा नहीं मानता, किंतु हमारे तीर्थंकर इसी प्रकार के प्रशांतात्मा, वीतरागी तथा जितेंद्रिय योगी होते थे, पूजक और दर्शक का यही भाव रहता है। वह मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान की उपासना करता है। मूर्ति को देखते ही उसे मूर्तिमान का स्मरण हो आता है और स्मरण आते ही उनके पुनीत जीवन की एक झलक उसकी दृष्टि में घूम जाती है। जो लोग मूर्ति पूजा के विरोधी होते हैं, उन्हें भी हम अपने धर्म ग्रंथों का आदर-सत्कार करते हुए पाते हैं। वास्तव में वे धर्म ग्रंथ कागज और स्याही से बने हुए हैं। किंतु कागज और स्याही का कोई आदर-सत्कार नहीं करता, बल्कि उन कागजों के ऊपर मनुष्य के हाथ से बनाए गए अक्षरों में जो उस महापुरुष का ज्ञान अंकित है उसका आदर किया जाता है। अतः जिस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान के स्मरण के लिए मनुष्य अपने हाथों से कागज पर अक्षरों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी विनय करता है उसी प्रकार ईश्वरीय रूप को स्मरण करने के लिए कलाकार मूर्ति की प्रतिष्ठा करता है। जैसे कागजों के ऊपर अंकित अक्षरों के पढ़ने से ईश्वरीय ज्ञान का बोध होता है वैसे ही मूर्ति के द्वारा ईश्वरीय स्वरूप का बोध होता है। यद्यपि अक्षर भी मूर्ति है और मूर्ति भी मूर्ति है, किंतु अक्षरों से तो पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है परंतु मूर्ति को देखकर बिना पढ़ा मनुष्य भी ज्ञान प्राप्त कर सकता

है। यदि कोई नासमझ मूर्ति से गलत शिक्षा ले लेता है इसलिए मूर्ति बेकार है तो कोई-कोई नासमझ धर्मग्रंथों को भी गलत समझ लेते हैं, किंतु इसी से उन्हें व्यर्थ तो नहीं माना जा सकता। जैसे कागजों पर अंकित देश-विदेश के नक्शों पर उँगली रखकर शिक्षक विद्यार्थियों को बतलाता है कि यह रूस है, यह हिंदुस्तान है, यह अमेरिका है आदि। समझदार विद्यार्थी जानते हैं कि जहाँ शिक्षक ने उँगली रखी है वह रूस है, अमेरिका नहीं है, किंतु उस नक्शे के द्वारा हमें उनका बोध कराया जा रहा है वैसे ही हम भी मूर्ति को असली परमेश्वर नहीं मानते, किंतु उसके द्वारा हमें उस परमेश्वर के स्वरूप को समझने में मदद मिलती है। अतः मूर्ति व्यर्थ नहीं है।

यहाँ हम एक जैन स्तुति का भाव अंकित करते है, जिससे मूर्ति पूजा के उद्देश्य पर तथा पूजक की भावना पर प्रकाश पड़ता है– 'सब पदार्थों के ज्ञाता होते हुए भी अपने आत्मिक आनंद में मग्न वे जिनेंद्र सदा जयवंत हों जो चारों घातियाँ कर्मों से रहित हो चुके हैं।'

'हे वीतराग विज्ञान के भंडार! तुम्हारी जय हो। हे मोह रूपी अंधकार को दूर करने वाले सूर्य! तुम्हारी जय हो। हे अनंतानंत ज्ञान के धारक तथा अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य से सुशोभित! तुम्हारी जय हो। भव्य जीवों को स्वानुभव कराने में कारण परमशांत मुद्रा के धारक! तुम्हारी जय हो। हे देव! भव्य जीवों के भाग्योदय से आपका दिव्य उपदेश होता है, जिसे सुनकर उनका भ्रम दूर हो जाता है। हे देव! तुम्हारे गुणों का चिंतन करने से अपने-पराए का भेद मालूम हो जाता है अर्थात् तुम्हारे आत्मिक गुणों का विचार करने से मैं यह जान जाता हूँ कि आत्मा और शरीर में तथा शरीर से संबंध रखने वाले कुटुंबीजन धन संपत्ति आदि में कितना अंतर है, क्योंकि तुम्हारी आत्मा में जो गुण हैं वैसे ही गुण मेरी आत्मा में मौजूद हैं मगर मैं उन्हें भूला हुआ हूँ। अतः तुम्हारे गुणों का चिंतन करने से मुझे अपने गुणों का भान हो जाता है और उसमें मैं 'स्व' और 'पर' पहचानने लगता हूँ, जिससे मैं अनेक आपदाओं से-मुसीबतों से बच जाता हूँ। हे देव! तुम संसार के भूषण हो, क्योंकि तुम सब दूषणों और संकल्प विकल्पों से मुक्त हो। तुम शुद्ध चैतन्य स्वरूप परम पावन परमात्मा हो। तुमने शुभ और अशुभ रूप विभाव परिणति का अभाव कर दिया है। हे धीर! तुम अठारह दोषों से रहित हो और अपने अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप स्वचतुष्टय में विराजमान हो। मुनि, गणपति वगैरह तुम्हारी सेवा करते हैं। तुम तो केवल लब्धि रूपी आध्यात्मिक लक्ष्मी से सुशोभित हो। तुम्हारे उपदेशों पर चलकर अगणित जीवों ने मुक्ति लाभ किया है, करते हैं तथा करेंगे। 'यह भव रूपी समुद्र दुःख रूपी खारे पानी से पूर्ण है, इसे पार करने में आपके सिवा और कोई समर्थ

नहीं है। यह देखकर और 'मेरे दुःख रूपी रोग दूर करने का इलाज तुम्हारे ही पास है' यह जानकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ और चिरकाल से मैंने जो दुःख उठाए हैं उन्हें बतलाता हूँ। मैं अपने को भूलकर चिरकाल से इस संसार में भटक रहा हूँ। मैंने विधि के खेल, पुण्य और पाप को ही अपना समझा और अपने को 'पर' का कर्ता मानकर तथा 'पर' में इष्ट या अनिष्ट की कल्पना करके अज्ञानवश मैं व्याकुल हुआ हूँ। जैसे मृग मरीचिका को पानी समझ लेता है वैसे ही मैंने शरीर को ही आत्मा माना और कभी भी आत्मरस का अनुभव नहीं किया।'

'हे जिनेश! तुमको न जानकर मैंने जो क्लेश उठाए, उन्हें तुम जानते हो। पशुगति, नरकगति और मनुष्यगति में जन्म ले लेकर मैं अनंतबार मरा। अब काललब्धि के आ जाने से मुक्ति लाभ का काल समीप आ जाने से तुम्हारे दर्शन पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। मेरा मन शांत हो गया है। मेरे सब द्वंद-फंद मिट गए हैं और मैंने दुःखों का नाश करने वाले आत्मरस का स्वाद चख लिया है। हे नाथ! अब ऐसा करो कि तुम्हारे चरणों का साथ कभी न छूटे। (और इसके लिए) आत्मा का अहित करने वाले पाँचों इंद्रियों के विषयों में और क्रोधादि कषायों में मेरा मन कभी न रमे। मैं अपने आप में ही मग्न रहूँ। भगवन्! ऐसा करो जिससे मैं स्वाधीन हो जाऊँ। हे ईश! मुझे और कुछ चाह नहीं है, मुझे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी रत्नत्रय चाहिए। मेरे कार्य के कारण आप हैं। मेरा मोह रूपी संताप हरकर मेरा कार्य करो। जैसे चंद्रमा स्वयं ही शांति भी देता है और अंधकार को भी हरता है, वैसे ही कल्याण करना तुम्हारा स्वभाव ही है। जैसे अमृत के पीने से रोग चला जाता है वैसे ही तुम्हारा अनुभव करने से संसार रूपी रोग नष्ट हो जाता है। तीनों लोकों और तीनों कालों में तुम्हारे सिवा अन्य कोई आत्मिक सुख का दाता नहीं है। आज मेरे मन में यह निश्चय हो गया। तुम दुःखों के समुद्र से पार उतारने के लिए जहाज के समान हो।'

इस स्तुति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्ति मनुष्य के चंचल चित्त को लगाने के लिए एक आलंबन है। उस आलंबन को पाकर मनुष्य का चंचल चित्त क्षणभर के लिए उन महापुरुषों के गुणानुवाद में रम जाता है, जो किसी समय हमारी ही तरह संसार में भटक रहे थे। किंतु उन्होंने स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर अपने को पहचाना और आत्मलाभ करके दुनिया के कल्याण की भावना से उस मार्ग को बतलाया, जिस पर चलकर उन्होंने स्वयं मुक्ति लाभ किया। उनके गुणानुवाद का प्रयोजन उन्हें रिझाना या प्रसन्न करना नहीं है। वे राग-द्वेष की इस घाटी से दूर हैं। न वे किसी की स्तुति से प्रसन्न होते हैं और न निंदा से नाराज़। किंतु उनके गुणों का कीर्तन करने से हमें अपने गुणों का बोध होता है, क्योंकि जो गुण उनमें हैं वही हममें

भी हैं, किंतु हम अपने को भूले हुए हैं। अतः उनका गुणानुवाद हमें अपनी स्मृति कराकर बुरे कर्मों से बचाता है। कहा भी है–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निंदया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनातुचित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।57।।–बृहत्स्वयं

अर्थात्– हे नाथ! तुम वीतराग हो इसलिए तुम्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है और चूँकि तुम वीतद्वेष हो इसलिए निंदा से भी कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी तुम्हारे पुण्य गुणों की स्तुति हमारे चित्त को पाप रूपी कालिमा से बचाती है।

अतः मूर्तिपूजा का उद्देश्य मूर्ति में अंकित भावों को अपने में लाकर जिसकी वह मूर्ति है उसके ही समान अपने को बनाना है। अर्थात् जो जैसा होना चाहता है वह अपने सामने वैसा ही आदर्श रखता है। जैन धर्म का उद्देश्य आत्मा को समस्त कर्म बंधनों से छुड़ाकर उसके असली स्वरूप की प्राप्ति कराना है जिसे वह भूला हुआ है। अतः उसका आदर्श वे पुनीत आत्माएँ हैं, जिन्होंने अपने को वैसा बना लिया है। उन्हीं आदर्शों की मूर्ति में स्थापना करके सच्चा जैन अपने को वैसा ही बनाने का प्रयत्न करता है।

प्रत्येक जैन मंदिर में शास्त्र भंडार भी रहता है, जिसमें जैन शास्त्रों का संग्रह होता है। जो दर्शन या पूजन के लिए जाता है उसे दर्शनया पूजन कर चुकने के बाद शास्त्र स्वाध्याय भी अवश्य करनी होती है, क्योंकि उन शास्त्रों को जाने बिना श्रावक या पूजक उन जैन तीर्थंकरों के उपदेशों और उनके जीवनवृत्तों को नहीं जान सकता जिनकी मूर्ति को वह पूजता है और उनके जाने बिना मूर्ति से उसे जिस आदर्श की शिक्षा मिलती है उस आदर्श को वह प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि मूर्ति तो मनुष्य के उच्च आदर्श की ओर संकेत मात्र करती है, केवल वही उसे उच्च आदर्श प्राप्त नहीं करा सकती। जैसे, जब बालक वर्णमाला सीखता है तो उसका हाथ साधने के लिए पट्टी पर पेंसिल से वर्णमाला के आंवटे लिख दिए जाते हैं। बच्चा उन आंवटों पर ही अपनी कलम चलाता है। जब तक उसका हाथ नहीं सधता और इस योग्य नहीं हो जाता कि बिना आंवटों के भी स्वयं अक्षर लिख सके, तब तक उसे बराबर आंवटों का सहारा लेना पड़ता है। किंतु जब उसका हाथ सध जाता है तब आंवटों की ज़रूरत नहीं रहती और वह बिना किसी सहारे के स्वयं लिखने लग जाता है। उसी तरह मूर्ति के साहाय्य की भी तभी ज़रूरत रहती है जब तक दर्शन का दृष्टिकोण अपने आदर्श की ओर पूरी तरह से नहीं होता। जब दर्शक अपने आदर्श की ओर अग्रसर होकर उसी की साधना में लग जाता है और इस तरह उस पथ का साधक बन जाता है तब उसके लिए मूर्ति का दर्शन करना आवश्यक नहीं रहता।

अतः जैनों की मूर्तिपूजा उस आदर्श की पूजा है जो प्राणिमात्र का सर्वोच्च लक्ष्य है। उसके द्वारा पूजक को अपने आदर्श का भान होता है, उसे वह भुला नहीं सकता।

प्रतिदिन प्रातःकाल अन्य सब कार्य करने से पहले मंदिर में जाना इसलिए अनिवार्य रखा गया है कि मनुष्य अर्थ और काम के पचड़े में पड़कर अपने सर्वोच्च लक्ष्य को भूल न जाए तथा जिन महापुरुषों ने उस सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है, उनका गुणानुवाद करके उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सके और शांति तथा विरागता के उस दर्पण में अपनी कलुषित आत्मा का प्रतिबिंब देखकर उसके परिमार्जन करने का प्रयत्न कर सके।

ऐसे सर्वोच्च लक्ष्य का भान कराने के लिए निर्मित जैन मंदिरों के बारे में जब हम एक पुरानी उक्ति सुनते हैं–

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैन मन्दिरम्

अर्थात्– हाथी के द्वारा मारे जाने पर भी जैन मंदिर में नहीं जाना चाहिए, तो हमें बड़ा अचरज होता है। तत्कालीन सांप्रदायिक मनोवृत्ति के सिवा इसका कोई दूसरा कारण हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। अस्तु–

हम पहले लिख आए हैं कि जैन मूर्ति निरावरण और निराभरण होती है। जो लोग सवस्त्र और सालंकार मूर्ति की उपासना करते हैं, उन्हें शायद नग्नमूर्ति अश्लील प्रतीत होती है। इस संबंध में हम अपनी ओर से कुछ न लिखकर सुप्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर के वे उद्‌गार यहाँ अंकित करते हैं जो उन्होंने श्रवणबेलगोला (मैसूर) में स्थित बाहुबलि की प्रशांत किंतु नग्नमूर्ति को देखकर अपने एक लेख में व्यक्त किए थे। वे लिखते हैं–

सांसारिक शिष्टाचार में आसक्त हम इस मूर्ति को देखते ही मन में विचार करते हैं कि मूर्ति नग्न हैं। हम मन में और समाज में भाँति-भाँति की मैली वस्तुओं का संग्रह करते हैं, परंतु हमें उससे नहीं होती है घृणा और नहीं आती है लज्जा। परंतु नग्नता देखकर घबराते हैं और नग्नता में अश्लीलता का अनुभव करते हैं। इसमें सदाचार का द्रोह है और यह लज्जास्पद है। अपनी नग्नता को छिपाने के लिए लोगों ने आत्महत्या भी की है। परंतु क्या नग्नता वस्तुतः अभद्र है? वास्तव में श्रीविहीन है? ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसकी लज्जा आती। पुष्प नग्न रहते हैं, पशु-पक्षी नग्न ही रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होंने एकता नहीं खोई है ऐसे बालक भी नग्न ही घूमते हैं। उनको इसकी शर्म नहीं आती और उनकी निर्व्याजता के कारण हमें भी इसमें लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जा की बात जाने दें। इसमें किसी प्रकार का अश्लील, वीभत्स जुगुप्सित, विश्री, अरोचक हमें लगा है, ऐसा किसी भी मनुष्य को अनुभव नहीं। इसका कारण क्या? कारण यही कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभाव शुदा है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने मन के विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उल्टे रास्ते की ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभाव सुंदर नग्नता उसे सहन नहीं होती। दोष नग्नता

का नहीं है पर अपने कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के समक्ष परिपक्व फल, पौष्टिक मेवा और सात्विक आहार भी स्वतंत्रतापूर्वक रख नहीं सकते। यह दोष उन खाद्य पदार्थों का नहीं पर मनुष्य के मानसिक रोग का है। नग्नता छिपाने में नग्नता की लज्जा नहीं, पर इसके मूल में विकारी पुरुष के प्रति दया भाव है, रक्षणवृत्ति है। पर जैसे बालक के सामने–नराधम भी सौम्य और निर्मल बन जाता है वैसे ही पुण्यपुरुषों के सामने वीतराग विभूतियों के समक्ष भी वे शांत हो जाते हैं। जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ भी मनुष्य पराजित होकर विशुद्ध होता है। मूर्तिकार सोचते तो माधवीलता की एक शाखा जंघा के ऊपर से ले जाकर कमर पर्यंत ले जाते। इस प्रकार नग्नता छिपानी अशक्य नहीं थी। पर फिर तो उन्हें सारी फिलोसफी की हत्या करनी पड़ती। बालक आपके समक्ष नग्न खड़े रहते हैं। उस समय वे कात्यायनी व्रत करती हुई मूर्तियों के समान अपने हाथों द्वारा अपनी नग्नता नहीं छिपाते। उनकी लज्जाहीनता उनकी नग्नता को पवित्र करती है। उनके लिए दूसरा आवरण किस काम का है?

'जब मैं (काका सा०) कारकल के पास गोमटेश्वर की मूर्ति देखने गया, उस समय हम स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अनेक थे। हममें से किसी को भी इस मूर्ति का दर्शन करते समय संकोच जैसा कुछ भी मालूम नहीं हुआ। अस्वाभाविक प्रतीत होने का प्रश्न ही नहीं था। मैंने अनेक मूर्तियाँ देखी हैं और मन विकारी होने के बदले उल्टा इन दर्शनों के कारण ही निर्विकारी होने का अनुभव करता है। मैंने ऐसी भी मूर्तियाँ तथा चित्र देखे हैं कि जो वस्त्राभूषण से आच्छादित होने पर भी केवल विकार प्रेरक और उन्मादक जैसी प्रतीत हुई हैं। केवल एक औपचारिक लंगोट पहनने वाले नग्न साधु अपने समक्ष वैराग्य का वातावरण उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत सिर से पैर पर्यंत वस्त्राभूषणों से लदे हुए व्यक्ति आँख के एक इंगित मात्र से अथवा अपने नखरे के थोड़े से इशारे से मनुष्य को अस्वस्थ कर देते हैं, नीचे गिरा देते हैं। अतः हमारी नग्नता विषयक दृष्टि और हमारा विकारों की ओर सुझाव दोनों बदलने चाहिए। हम विकारों का पोषण करते जाते हैं और विवेक रखना चाहते हैं।'

काका साहब के इन उद्गारों के बाद नग्नता के संबंध में कुछ कहना शेष नहीं रहता। अतः जैन मूर्तियों की नग्नता को लेकर जैन धर्म के संबंध में जो अनेक प्रकार के अपवाद फैलाए गए हैं वे सब सांप्रदायिक प्रद्वेषजन्य गलतफहमी के ही परिणाम हैं। जैन धर्म वीतरागता का उपासक है। जहाँ विकार है, राग है, कामुक प्रवृत्ति है, वहीं नग्नता को छिपाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। निर्विकार के लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। इसी भाव से जैन मूर्तियाँ नग्न होती हैं। उनके मुख पर विरागता और सौम्यता रहती हैं। उनके दर्शन से विकार भागता है न कि उत्पन्न होता है। अतः जैन मंदिरों में न जाने की जनश्रुति भी एक मिथ्या प्रवाद है।

जैन मंदिर शांति और भव्यता के प्रतीक होते हैं। उनमें मनुष्य का मन पवित्र होता है। निर्विकार मूर्ति, तत्वज्ञान के परिपूर्ण प्राचीन शास्त्र और उपयोगी चित्रकारी यही वहाँ की प्रधान वस्तुएँ हैं, जिनके दर्शन और अध्ययन से मनुष्य के मन को शांति मिलती है।

9. सात तत्व

यद्यपि द्रव्य छह हैं तथापि धर्म का संबंध केवल एक जीव द्रव्य से ही है, क्योंकि उसी को दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त करने के लिए ही धर्म का उपदेश दिया गया है और दुःखों का मूल कारण उसी जीव के द्वारा बाँधे गए कर्म हैं। जो कि अजीव और अजीवों में पौद्‌गलिक हैं। अतः जब धर्म का लक्ष्य जीव को सब दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना है और दुःखों का मूल कारण जीव के द्वारा बाँधे गए कर्म ही हैं तो दुःखों से छूटने के लिए निम्न बातों की जानकारी आवश्यक है–

1. उस वस्तु का क्या स्वरूप है, जिसको छुटकारा दिलाना है?

2. कर्म का क्या स्वरूप है? क्योंकि जैसे स्वर्णकार को स्वर्ण और उसमें मिले हुए द्रव्य की ठीक-ठीक पहचान होना आवयश्क है वैसे ही एक आत्मशोधक को भी आत्मा और उसके साथ मिले हुए परद्रव्य की पहचान होना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना वह आत्मा का शोधन ही नहीं कर सकता।

3. वह अजीव कर्म जीव तक कैसे पहुँचता है?

4. और पहुँचकर कैसे जीव के साथ बँध जाता है?

इस प्रकार जीव और कर्म का स्वरूप और कर्मों का जीव तक आगमन और बंध का ज्ञान हो जाने से संसार के कारणों का पूरा ज्ञान हो जाता है। अब उससे छुटकारा पाने के लिए कुछ बातें जानना आवश्यक है–

5. नवीन कर्मबंध को रोकने का क्या उपाय है?

6. पुराने बंधे हुए कर्मों को कैसे नष्ट किया जा सकता है?

7. इन उपायों से जो मुक्ति प्राप्त होगी वह क्या वस्तु है?

इन सात बातों का ज्ञान होना प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है, इन्हीं को सात तत्व कहते हैं। पौद्‌गलिक कर्मों के संयोग से ही यह जीव बंधन में है और सब प्रकार के कष्ट भोगता है। इस संबंध का अंत किस प्रकार किया जाए यह एक समस्या है, जिसे प्रत्येक मुमुक्षु को हल करना है। धर्म ही विज्ञान है, जिसके द्वारा उक्त समस्या को हल किया जा सकता है और उसी के हल करने के लिए उक्त सात बातें बतलाई गई हैं। ये सात बातें ही ऐसी हैं जिनकी श्रद्धा और ज्ञान पर हमारा योगक्षेम निर्भर है। इसलिए इन्हें

तत्व संज्ञा दी गई। तत्व ज्ञानी सारभूत पदार्थ ये ही हैं। जो व्यक्ति इनको नहीं जानता, संभव है वह बहुत ज्ञान रखता हो, किंतु यथार्थ में उपयोगी बातों का ज्ञान उसे नहीं है।

उक्त सात तत्वों का नाम है– जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें से जीव और अजीव दो मूलभूत तत्व हैं, जिनसे यह विश्व निर्मित है। इन दोनों तत्वों का वर्णन पहले कर आए हैं। तीसरा तत्व आस्त्रव है, जो जीव में कर्ममल के आने को सूचित करता है। वास्तव में जीव और कर्मों का बंध तभी संभव है जब जीव के कर्म पुद्‍गलों का आगमन हो। अतः कर्मों के आने के द्वार को आस्त्रव कहते हैं। वह द्वार, जिसके द्वारा जीव में सर्वदा कर्म पुद्‍गलों का आगमन होता है। जीव की ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। वह शक्ति शरीरधारी जीवों की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाओं का सहारा पाकर जीव की ओर कर्म पुद्‍गलों को आकृष्ट करती है। अर्थात् हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं, वह सब हमारी ओर कर्मों के आने में कारण होता है। इसलिए तत्वार्थसूत्र में कहा है कि मन, वचन और काय की क्रिया को योग कहते हैं और वह योग ही आस्त्रव का कारण होने से आस्त्रव कहा जाता है। अतः आस्त्रव तत्व यह बतलाता है कि जीव में कर्म पुद्‍गलों का आगमन किस प्रकार से होता है?

चौथा बंध तत्व है। जीव और कर्म के परस्पर में मिल जाने को बंध कहते हैं। यह बंध यद्यपि संयोगपूर्वक होता है किंतु संयोग से एक जुदी वस्तु है। संयोग तो मेज और उस पर रखी हुई पुस्तक का भी है, किंतु उसे बंध नहीं कह सकते। बंध तो एक ऐसा मिश्रण (मिलाव) है जिसमें रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। उसमें मिलने वाली दो वस्तुएँ अपनी असली हालत को छोड़कर एक तीसरी हालत में हो जाती है। जैसे दूध और पानी को आपस में मिला दिए जाने पर न दूध अपनी असली हालत में रहता है और न पानी अपनी असली हालत में रहता है, किंतु दूध में पनीलापन आ जाता है और पानी दूध-सा हो जाता है। दोनों पर प्रभाव डालते हैं। इसी तरह जीव और कर्म का परस्पर में संबंध हो जाने पर न जीव ही अपनी असली हालत में रहता है और न पुद्‍गल ही अपनी असली हालत में रहते हैं। दोनों दोनों से प्रभावित होते हैं। यही बंध है। इसका विशेष विवेचन आगे कर्म सिद्धांत में किया गया है। आस्त्रव और बंध ये दोनों संसार के कारण हैं।

पाँचवाँ तत्व संवर है। आस्त्रव को रोकने को संवर कहते हैं। अर्थात् नए कर्मों का जीव में न आना ही संवर है। यदि नए कर्मों के आगमन को रोका जाए तो जीव को कभी भी कर्मबंधन से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः संवर पाँचवाँ तत्व है। छठा

तत्व निर्जरा है। बँधे हुए कर्मों के थोड़ा-थोड़ा करके जीव से अलग होने को निर्जरा कहते हैं। यद्यपि जैसे जीव प्रति समय नए कर्मों का आश्रव और बंध होता है वैसे ही प्रति समय पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती रहती है, क्योंकि जो कर्म अपना फल दे चुकते हैं, वे झड़ते आते हैं। किंतु उस निर्जरा से, कर्मबंधन से छुटकारा नहीं मिलता, क्योंकि प्रति समय नए कर्मों का बंध होता ही रहता है, अतः संवरपूर्वक जो निर्जरा होती है, अर्थात् एक ओर तो नए कर्मों के आगमन को रोक दिया जाता है और दूसरी ओर पहले बँधे हुए कर्मों को जीव से धीरे-धीरे जुदा कर दिया जाता है तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है जो कि सातवाँ तत्व है। समस्त कर्मबंधनों से जीव के छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष या मुक्ति शब्द का अर्थ ही छुटकारा है। जब जीव सब कर्मबंधनों से छूट जाता है, तो उसे मुक्त जीव कहते हैं।

इस प्रकार उक्त सात तत्वों में से जीव और अजीव दो मूल तत्व हैं, उनके मेल से ही संसार की सृष्टि होती है। संसार के मूल कारण आस्रव और बंध हैं और संसार से मुक्त होने के कारण संवर और निर्जरा है। संवर और निर्जरा के द्वारा जीव को जो पद प्राप्त होता है वह मोक्ष है, जो कि प्रत्येक जीव का चरम लक्ष्य है। उसी की प्राप्ति के लिए उसका प्रयत्न चालू रहता है, जिसे हम धर्म के नाम से पुकारते हैं। अतः जो जीव अपने उस चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे उक्त सात तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है।

10. कर्म सिद्धांत

कर्म का स्वरूप

प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। मोटेतौर से यही कर्म सिद्धांत का अभिप्राय है। इस सिद्धांत को जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं, किंतु अनात्मवादी बौद्ध दर्शन भी मानता है। इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इसमें प्रायः एकमत हैं किंतु इस सिद्धांत में ऐकमत्य होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फल देने के संबंध में दोनों में मौलिक मतभेद हैं। साधारणतौर से जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे– खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना वगैरह। परलोक को मानने वाले दार्शनिकों का मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म अपना संस्कार छोड़ जाता है, क्योंकि हमारे प्रत्येक कर्म या प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति या कर्म क्षणिक होता है, तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परंपरा अनादि काल से चली आती है।

इसी का नाम संसार है। यह संस्कार ही धर्म, अधर्म, कर्माशय आदि नामों से पुकारा जाता है। किंतु जैन दर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में इससे भिन्न है। जैन दर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किंतु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मिल जाता है। यद्यपि वह पदार्थ भौतिक है तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर वह जीव से बँधता है इसलिए उसे कर्म कहते हैं आशय यह है कि जहाँ अन्य धर्म राग और द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी उसके संस्कार को स्थायी मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन का कहना है कि राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव में आता है जो उसके राग-द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर जीव से बँध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है। इसका खुलासा यह है कि पुद्गल द्रव्य 23 तरह की वर्गणाओं में बँटा हुआ है। उन वर्गणाओं में से एक कार्मणवर्गणा भी है, जो इस संसार में व्याप्त है। जीव के कार्यों के निमित्त से यह कार्मणवर्गणा ही कर्म रूप हो जाती है, जैसा कि आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है–

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदौसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥95॥–प्रवच.

'जब राग, द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कर्मों में लगता है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरण आदि रूप से उसमें प्रवेश करता है।'

इस प्रकार कर्म एक मूर्त पदार्थ है जो जीव के साथ बँध जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक। अतः उन दोनों का बंध संभव नहीं है, क्योंकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बंध हो सकता है। किंतु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बंध कैसे हो सकता है? ऐसी आशंका की जा सकती है, उसका समाधान इस प्रकार है– अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी जीव और कर्म के संबंध को अनादि मानता है। किसी समय जीव सर्वथा शुद्ध था, बाद को उसके साथ कर्मों का संबंध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से अनेक विवाद उठ खड़े होते हैं। सबसे पहले विवाद तो यह है कि सर्वथा शुद्ध जीव के कर्मबंध हुआ तो कैसे हुआ? और यदि सर्वथा शुद्ध जीव भी कर्मों के बंधन में पड़ सकता है तो उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ हो जाता है। अतः जीव और कर्म का संबंध अनादि है। जैसा कि पंचास्तिकाय नामक ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद ने कहा है–

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदि॥128॥

गदिमधिगदस्स देही देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥129॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवदेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणतो वा॥130॥

अर्थ– जो जीव संसार में स्थित है अर्थात् जन्म और मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, उसके राग रूप और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नए कर्म बँधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इंद्रियाँ होती हैं। इंद्रियों से विषयों को ग्रहण करता है। विषयों को ग्रहण करने से इष्ट विषयों से राग और अनिष्ट विषयों से द्वेष करता है। इस प्रकार संसार रूपी चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्मबंध और कर्मबंध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते हैं। यह चक्र[1] अभव्यजीव की अपेक्षा से अनादि अनंत है और भव्यजीव की अपेक्षा से अनादि सांत है।

इससे स्पष्ट है कि संसारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बँधा हुआ है और इसलिए एक तरह से वह भी मूर्तिक हो रहा है, जैसा कि कहा है–

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥7॥–द्रव्यसं.

अर्थात्– वास्तव में जीव में पाँचों रूप, पाँचों रस, दोनों गंध और आठों स्पर्श नहीं रहते इसलिए वह अमूर्तिक है, क्योंकि जैन दर्शन में रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाली वस्तु को ही मूर्तिक कहा है। किंतु कर्मबंध के कारण व्यवहार में जीव मूर्तिक है। अतः कथचिंत् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म द्रव्य का संबंध होता है।

सारांश यह है कि कर्म के दो भेद हैं– द्रव्य कर्म और भाव कर्म। जीव से संबद्ध कर्म पुद्गलों को द्रव्य कर्म कहते हैं और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूप भावों को भाव कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म भाव कर्म का कारण है और भाव कर्म द्रव्य कर्म का कारण है। न बिना द्रव्य कर्म के भाव कर्म होते हैं और न बिना भाव कर्म के द्रव्य कर्म होते हैं।

कर्म अपना फल कैसे देते हैं?

ईश्वर को जगत् का नियंता मानने वाले वैदिक दर्शन जीव को कर्म करने में स्वतंत्र किंतु उसका फल भोगने में परतंत्र मानते हैं। उनके मत से कर्म का फल ईश्वर

1. जो जीव इस चक्र का अंत नहीं कर सकते उन्हें अभव्य कहते हैं और जो उसका अंत कर सकते हैं उन्हें भव्य कहते हैं।

देता है और वह प्राणियों के अच्छे या बुरे कर्म के अनुरूप ही अच्छा या बुरा फल देता है किंतु जैन दर्शन का कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देता है, उसके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है; जैसे– शराब पीने से नशा होता है और दूध पीने से पुष्टि होती है। शराब या दूध पीने के बाद उसका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिमान नियामक की आवश्यकता नहीं होती। उसी तरह जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्म परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बँध जाते हैं। उन कर्म परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है। जो चैतन्य के संबंध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है, जो सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बँधने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और बाद में उनका फल भी अच्छा ही होता है तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पड़ता है और कालांतर में उसका फल भी बुरा ही होता है।

मानसिक भावों का अचेतन वस्तु के ऊपर कैसे प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव की वजह से उस अचेतन का परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए चिकित्सकों के भोजन संबंधी नियमों पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। वैद्यक शास्त्र के अनुसार भोजन करते समय मन में किसी तरह का क्षोभ नहीं होना चाहिए, भोजन करने से आधा घंटा पहले से लेकर भोजन करने के आधा घंटा बाद तक मन में अशांति उत्पन्न करने वाला कोई विचार नहीं आना चाहिए। ऐसी दशा में जो भोजन किया जाता है उसका परिपाक अच्छा होता है और वह विकार नहीं करता। किंतु इसके विपरीत काम, क्रोध आदि विकारों के रहते हुए यदि भोजन किया जाता है तो वह भोजन शरीर में जाकर विकार उत्पन्न करता है। इससे स्पष्ट है कि कर्ता के भावों का असर अचेतन पर भी पड़ता है और उसके अनुसार ही उसका विपाक होता है। अतः जीव को फल भोगने में परतंत्र मानने की आवश्यकता नहीं है।

यदि ईश्वर को फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात करता है वहाँ घातक को पाप का भागी नहीं होना चाहिए; क्योंकि उस घातक के द्वारा ईश्वर मरने वाले को दंड दिलाता है। जैसे, राजा जिन पुरुषों के द्वारा अपराधियों को दंड दिलाता है वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते क्योंकि वे राजाज्ञा का पालन करते हैं। उसी तरह किसी की घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मों का फल भुगताता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मों की यही सजा नियत की होगी तभी तो उसका वध किया गया। यदि कहा जाए कि मनुष्य कर्म करने में

स्वतंत्र है अतः घातक का कार्य ईश्वर प्रेरित नहीं है, किंतु घातक की स्वतंत्र इच्छा का परिणाम है तो इसका उत्तर यह है कि संसार दशा में कोई भी प्राणी वास्तव में स्वतंत्र नहीं है, सभी अपने-अपने कर्मों से बँधे हैं और कर्म के अनुसार ही प्राणी की बुद्धि होती है। शायद कहा जाए कि ऐसी दशा में तो कोई भी व्यक्ति मुक्ति लाभ नहीं कर सकता; क्योंकि जीव कर्म से बँधा है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है। किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्म के अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाती है और बुरे कर्म के अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्य को कुमार्ग की ओर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से मुक्ति लाभ और कुमार्ग पर चलने से संसार लाभ होता है। अतः बुद्धि के अनुसार होने से मुक्ति की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती।

इस तरह जब जीव कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है तो घातक का घात रूप कर्म उसकी दुर्बुद्धि का ही परिणाम कहा जाएगा और बुद्धि की दुष्टता उसके लिए किसी पूर्वकृत कर्म का फल कही जाएगी। ऐसी स्थिति में यदि हम कर्म फलदाता ईश्वर को मानते हैं तो उस घातक की दुष्ट बुद्धि का कर्ता ईश्वर को ही कहा जाएगा। इस पर हमारी विचारशक्ति कहती है कि एक विचारशील फलदाता को किसी व्यक्ति के बुरे कर्म का फल ऐसा देना चाहिए जो उसकी सज़ा के रूप में हो न कि उसके द्वारा दूसरों को सजा दिलवाने के रूप में हो। किंतु ईश्वर घातक से दूसरे का घात कराता है, क्योंकि उसे उस घातक के द्वारा दूसरे को सज़ा दिलानी है। किंतु घातक को जिस बुद्धि के कारण वह पर का घात करता है, उस बुद्धि को बिगाड़ने वाले कर्मों का क्या फल मिला? इस फल के द्वारा तो दूसरे को सज़ा भोगनी पड़ी। किंतु यदि ईश्वर को फलदाता न मानकर जीव के कर्मों में ही स्वतः फलदान की शक्ति मान ली जाए तो उक्त समस्या आसानी से हल हो जाती है क्योंकि मनुष्य के बुरे कर्म उसकी बुद्धि पर इस प्रकार संस्कार डाल देते हैं, जिससे वह क्रोध में आकर दूसरों को घात कर डालता है और इस तरह उसके बुरे कर्म उसे बुरे मार्ग की ओर ही तब तक लिए चले जाते हैं जब तक वह उधर से सावधान नहीं होता। अतः ईश्वर को कर्म-फलदाता मानने में इस तरह के अन्य भी अनेक विवाद खड़े होते हैं। जिनमें से एक इस प्रकार है–

किसी कर्म का फल हमें तुरंत मिल जाता, किसी का कुछ माह बाद मिलता है, किसी का कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसी का जन्मांतर में मिलता है। इसका क्या कारण है? कर्म फल के भोग में समय की विषमता क्यों देखी जाती है? ईश्वर वादियों की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के सिवाय कोई संतोषकारक समाधान नहीं मिलता। किंतु कर्म में ही फलदान की शक्ति मानने वाला कर्मवादी जैन सिद्धांत उक्त प्रश्नों का

बुद्धिगम्य समाधान करता है जो आगे बताया गया है। अतः ईश्वर को फलदाता मानना उचित नहीं जँचता।

कर्म के भेद

पहले बताया है कि जैन दर्शन में कर्म से मतलब जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ जीव की ओर आकृष्ट होने वाले कर्म परमाणुओं से है। वे कर्म परमाणु जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ, जिसे जैन दर्शन में योग के नाम से कहा गया है। जीव की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्मा के राग, द्वेष और मोह आदि भावों का जिन्हें जैन दर्शन में कषाय कहते हैं, निमित्त पाकर जीव से बँध जाते हैं। इस तरह कर्म परमाणुओं को जीव तक लाने का काम जीव की योगशक्ति करती है और उसके साथ बंध कराने का काम कषाय अर्थात् जीव की राग-द्वेष रूप भाव करते हैं। सारांश यह है कि जीव की योगशक्ति और कषाय ही बंध का कारण है। कषाय के नष्ट हो जाने पर योग के रहने तक जीव में कर्म परमाणुओं का आस्रव आगमन तो होता है किंतु कषाय के न होने के कारण वे ठहर नहीं सकते। उदाहरण के लिए, योग को वायु की, कषाय को गोंद की, जीव को एक दीवार की और कर्म परमाणुओं को धूल की उपमा दी जा सकती है। यदि दीवार पर गोंद लगा हो तो वायु के साथ उड़कर आने वाली धूल दीवार से चिपक जाती है, किंतु यदि दीवार साफ, चिकनी और सूखी होती है तो धूल दीवार पर न चिपककर तुरंत झड़ पड़ती है। यहाँ धूल का कम या ज्यादा परिणाम में उड़कर आना वायु के वेग पर निर्भर हैं। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी ज्यादा उड़ती है और यदि वायु धीमी होती है तो धूल भी कम उड़ती है तथा दीवार पर धूल का थोड़े या अधिक दिनों तक चिपके रहना उस पर लगी गोंद आदि गीली वस्तुओं की चिपकाहट की कमीवेशी पर निर्भर है। यदि दीवार पर पानी पड़ा हो तो उस पर लगी हुई धूल जल्दी झड़ जाती है। यदि किसी पेड़ का दूध लगा हो तो कुछ देर में झड़ती है और यदि कोई गोंद लगी हो तो बहुत दिनों में झड़ती है। सारांश यह कि चिपकने वाली चीज़ का असर दूर होते ही चिपकने वाली चीज स्वयं झड़ जाती है। यही बात योग और कषाय के संबंध में भी जाननी चाहिए। योगशक्ति जिस दर्जे की होती है आने वाले कर्म परमाणुओं की संख्या भी उसी के अनुसार कमती या बढ़ती होती है। यदि योग उत्कृष्ट होता है तो कर्म परमाणु भी अधिक तादाद में जीव की ओर आते हैं। यदि योग जघन्य होता है तो कर्म परमाणु भी कम तादाद में जीव की ओर आते हैं। इसी तरह यदि कषाय तीव्र होती है तो कर्म परमाणु जीव के साथ बहुत दिनों तक बँधे रहते हैं और फल भी तीव्र देते हैं। यदि कषाय हल्की होती है तो कर्म परमाणु जीव के साथ कम समय तक बँधे रहते हैं और फल भी कम देते हैं। यह एक साधारण नियम है किंतु इसमें कुछ अपवाद भी हैं।

इस प्रकार योग और कषाय से जीव के साथ कर्मपुद्गलों का बंध होता है। वह बंध चार प्रकार का है– प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध। बंध को प्राप्त होने वाले कर्म परमाणुओं में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृति बंध है। उनकी संख्या का नियत होना प्रदेश बंध है। उनमें काल की मर्यादा का पड़ना, कि ये अमुक काल तक जीव के साथ बँधे रहेंगे, स्थिति बंध है और उनमें फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभाग बंध है। कर्मों में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्या का कमती-बढ़ती होना योग पर निर्भर है तथा उनमें जीव के साथ कम या अधिक काल तक ठहरने की शक्ति का पड़ना और तीव्र या मंद फल देने की शक्ति का पड़ना कषाय पर निर्भर है। इस तरह प्रकृति बंध और प्रदेश बंध तो योग से होते हैं और स्थित बंध तथा अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

इनमें से प्रकृति बंध के आठ भेद हैं– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, साहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। ज्ञानावरण नाम का कर्म जीव के ज्ञानगुण को घातता है। इसी की वजह से कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेषज्ञानी देखा जाता है। दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शन-गुण को घातता है। आवरण ढाँकने वाली वस्तु को कहते हैं अर्थात् ये दोनों कर्म के ज्ञान और दर्शन को ढाँकते हैं, उन्हें प्रकट नहीं होने देते। वेदनीय कर्म जो सुख और दुःख का वेदन अनुभवन कराता है। मोहनीय कर्म जो जीव को मोहित कर देता है। इसके दो भेद हैं एक जो जीव को सच्चे मार्ग का भान नहीं होने देता और दूसरा, जो सच्चे मार्ग का भान हो जाने पर उस पर भी चलने नहीं देता। आयु कर्म जो अमुक समय तक जीव को किसी एक शरीर में रोके रहता है। इसके छिद जाने पर ही जीव की मृत्यु कही जाती है। नाम कर्म जिसकी वजह से अच्छे या बुरे शरीर और अंग उपांग वगैरह की रचना होती है। गोत्र कर्म जिसकी वजह से जीव उच्च कुल का या नीच कुल का कहा जाता है। अंतराय कर्म जिसकी वजह से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में रुकावट पैदा हो जाती है। इन आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म घाति कर्म कहे जाते हैं, क्योंकि वे चारों जीव के स्वाभाविक गुणों को घातते हैं। शेष चार कर्म अघाति कहे जाते हैं, वे जीव के गुणों का घात नहीं करते। इन आठ कर्मों में से भी ज्ञानावरण के पाँच दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तिरानवें, गोत्र के दो और अंतराय के पाँच भेद हैं। इन भेदों के नाम और उनका काम वगैरह तत्वार्थसूत्र कर्मकांड आदि ग्रंथों में देखा जा सकता है।

घाती कर्म के भी दो भेद हैं– सर्वघाती और देशघाती। जो कर्म जीव के गुण का पूरी तरह से घात करता है उसे सर्वघाती कहते हैं और जो कर्म उसका एक देश से

घात करता है, उसे देशघाती कहते हैं। चार घाती कर्मों के 47 भेदों में से 26 देश घाती हैं और 21 सर्वघाती हैं। घाती कर्म तो पाप कर्म ही कहे जाते हैं किंतु अघाति कर्म के भेदों में से कुछ पुण्य कर्म हैं और कुछ पाप कर्म हैं। जैसे मनुष्य के द्वारा खाया हुआ भोजन पाकस्थली में जाकर रस, मज्जा, रुधिर आदि रूप हो जाता है, वैसे ही जीव के द्वारा ग्रहण किए गए कर्म पुद्‌गल ज्ञानावरणादि रूप हो जाते हैं। उन कर्म पुद्‌गलों का बँटवारा बँधने वाले कर्मों में तुरंत हो जाता है।

जीव कब कैसे कर्मों को बाँधता है और उनका बँटवारा कैसे होता है? स्थिति और अनुभाग का क्या नियम है? इत्यादि बातों का वर्णन जैन कर्म साहित्य से जाना जा सकता है।

जैन सिद्धांत में कर्मों की 10 मुख्य अवस्थाएँ या कर्मों में होने वाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई हैं जिन्हें 'करण' कहते हैं। उनके नाम हैं– बंध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

बंध– कर्म पुद्‌गलों का जीव के साथ संबंध होने को बंध कहते हैं। यह सबसे पहली दशा है, इसके बिना अन्य कोई अवस्था नहीं हो सकती। इसके चार भेद हैं– प्रकृति बंध, स्थित बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। जब जीव के साथ कर्म पुद्‌गलों का बंध होता है, उसमें जीव के योग और कषाय के निमित्त से चार बातें होती हैं। प्रथम तुरंत ही उनमें ज्ञानादिक को घातने वगैरह का स्वभाव पड़ जाता है। दूसरे उनमें स्थिति पड़ जाती है कि ये अमुक समय तक जीव के साथ बँधे रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मंद फल देने की शक्ति पड़ जाती है, चौथे वे नियत तादाद में ही जीव से संबंध होते हैं जैसा कि पहले बताया है।

उत्कर्षण– स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं।

अपकर्षण– स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं।

बंध के बाद बँधे हुए कर्मों में ये दोनों क्रियाएँ होती हैं। बुरे कर्मों का बंध करने के बाद यदि जीव अच्छे कर्म करता है तो उसके पहले बाँधे हुए बुरे कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति अच्छे भावों के प्रभाव से घट जाती है और अगर बुरे कर्मों का बंध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते हैं और वह और भी अधिक बुरे काम करने पर उतारू हो जाता है तो बुरे भावों का असर पाकर पहले बाँधे हुए कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देर में। किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मंद।

सत्ता– बँधने के बाद ही कर्म तुरंत अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद उसका फल देता है। इसका कारण यह है कि बँधने के बाद कर्म सत्ता में रहता है। जैसे

शराब पीते ही तुरंत अपना असर नहीं देती किंतु कुछ समय बाद अपना असर दिखाती है वैसे ही कर्म भी बँधने के बाद कुछ समय तक सत्ता में रहता है। इस काल को जैन परिभाषा में आबाधाकाल कहते हैं। साधारणतया कर्म का आबाधाकाल उसकी स्थिति के अनुसार होता है। जैसे जो शराब जितना ही अधिक नशीली और टिकाऊ होती है वह उतने ही अधिक दिनों तक सड़ाकर बनती है, वैसे ही जो कर्म अधिक दिनों तक ठहरता है उसका आबाधाकाल भी उसी हिसाब से अधिक होता है। एक कोटि सागर की स्थिति में सौ वर्ष अबाधाकाल होता है अर्थात् यदि किसी कर्म की स्थिति एक कोटि-कोटि सागर बाँधी हो तो वह कर्म सौ वर्ष के बाद फल देना शुरू करता है और तब तक फल देता रहता है जब तक उसकी स्थिति पूरी न हो। किंतु आयुकर्म का आबाधाकाल उसकी स्थिति पर निर्भर नहीं है। इसका खुलासा अन्य ग्रंथों में देखना चाहिए। इस प्रकार बँधने के बाद कर्म के फल न देकर जीव के साथ मौजूद रहने मात्र को सत्ता कहते हैं।

उदय– कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। यह उदय दो तरह का होता है– फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है तो वह फलोदय कहा जाता है और जब कर्म बिना फल दिए ही नष्ट होता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

उदीरणा– जैसे, आमों के मौसम में आम बेचने वाले आमों को जल्दी पकाने के लिए पेड़ से तोड़कर भूसे वगैरह में दबा देते हैं, जिससे वे आम वृक्ष की अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी नियत समय से पहले कर्म का विपाक हो जाता है। इसे ही उदीरणा कहते हैं। उदीरणा के लिए पहले अपकर्षणकरण के द्वारा कर्म स्थिति को कम कर दिया जाता है, स्थिति के घट जाने पर कर्म नियत से पहले उदय में आ जाता है। जब कोई असमय में ही मर जाता है तो उसकी अकाल मृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयु कर्म का उदीरणा है। स्थिति का घात हुए बिना उदीरणा नहीं होती।

संक्रमण– एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म रूप हो जाने को संक्रमणकरण कहते हैं। यह संक्रमण मूल भेदों में नहीं होता अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप नहीं होता और न दर्शनावरण ज्ञानावरण होता है। इसी तरह अन्य कर्मों के बारे में भी जानना। किंतु एक कर्म का अवांतर भेद अपने सजातीय अन्य भेद रूप हो सकता है। जैसे, वेदनीय कर्म के दो भेदों से सातवेदनीय असातवेदनीय रूप हो सकता है और असातवेदनीय सातवेदनीय रूप हो सकता है। यद्यपि संक्रमण एक कर्म का अवांतर

भेदों में ही हो परस्पर में संक्रमण नहीं होता। नरक गति की आयु बाँध लेने पर जीवन को नरक गति में ही जाना पड़ता है, अन्य गति में नहीं। इस प्रकार बाकी के तीन आयुओं के बारे में भी जानना चाहिए।

उपशम– कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य कर देना उपशमकरण है।

निधत्ति– कर्म का संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

निकाचना– उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा का न हो सकना निकाचना है।

कर्म की इन अनेक दिशाओं के सिवाय जैन सिद्धांत में कर्म का स्वामी, कर्मों की स्थिति, कब कौन कर्म बाँधता है? किसका उदय होता है, किस कर्म की सत्ता रहती है, किस कर्म का क्षय होता है आदि बातों का विस्तार से वर्णन है।

चारित्र

जैन धर्म के दार्शनिक मंतव्यों का परिचय कराकर अब हम उस चारित्र की ओर आते हैं, जो वस्तुतः धर्म कहा जाता है।

रत्नकरंड श्रावकाचार नामक प्राचीन जैन ग्रंथ में समर्थ जैनाचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने धर्म का वर्णन करते हुए लिखा है–

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सावान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥2॥

मैं कर्मबंध का नाश करने वाले उस सत्य धर्म का कथन करता हूँ जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धारता है।

इससे निम्न निष्कर्ष निकलते हैं–

1. संसार में दुःख हैं।
2. उस दुःख का कारण प्राणियों के अपने-अपने कर्म हैं।
3. धर्म प्राणिमात्र को दुःख से छुड़ाकर न केवल सुख किंतु उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

अब विचारणीय यह है कि संसार में दुःख क्यों है और धर्म कैसे उससे छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

1. संसार में दुःख क्यों है?

संसार में दुःख है यह किसी से छिपा नहीं और सब लोग सुख के इच्छुक हैं और सुख के लिए ही रात-दिन प्रयत्न करते हैं यह भी किसी से छिपा नहीं। फिर भी सब दुःखी हैं। जिन्हें पेट भरने के लिए न मुट्ठी-भर अन्न मिलता है और न तन ढाँकने के लिए वस्त्र, उनकी बात जाने दीजिए। जो संपत्तिशाली हैं उन्हें भी हम किसी न किसी दुःख से पीड़ित पाते हैं। निर्धन धन के लिए छटपटाते हैं और धनवानों को धन की तृष्णा चैन नहीं लेने देती। निःसंतान संतान के लिए रोते हैं, तो संतान वाले संतान के भरण-पोषण के लिए चिंतित हैं। किसी का पुत्र मर जाता है तो किसी की पुत्री विधवा हो जाती है। कोई पत्नी के बिना दुःखी है तो कोई कुलटा पत्नी के कारण दुःखी है। सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी दुःख से

दुःखी है और अपनी-अपनी समझ के अनुसार उसे दूर करने की चेष्टा करता है, किंतु फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं होता। सुख की चाह को पूरा करने के प्रयत्न में जीवन बीत जाता है किंतु किसी की चाह पूरी नहीं होती। आइए, ज़रा इसके कारणों पर विचार करें।

सुख के साधन तीन हैं– धर्म, अर्थ और काम। इनमें भी धर्म ही सुख का मुख्य साधन हैं और बाकी के दोनों गौण हैं, क्योंकि शुभाचरण रूप धर्म के बिना प्रथम तो अर्थ और काम की प्राप्ति ही असंभव है। ज़रा देर के लिए उसे संभव भी मान लिया जाए तो अधर्मपूर्ण साधनों से उपार्जन किया हुआ अर्थ और काम कभी सुख का कारण हो नहीं सकता, बल्कि दुःखों का ही कारण होता है। इसके दृष्टांत के लिए चोरी से धन कमाने वालों और परस्त्रीगामियों को उपस्थित किया जा सकता है। मोहवश इन कामों में बहुत-से लोग प्रवृत्त हुए देखे जाते हैं, पर उन कामों को स्वयं वे ही अच्छा बताते और उस धन और काम भोग से उन्हें कितना सुख मिलता है यह भी उनकी आत्मा ही जानती है। यथार्थ में अर्थ और काम से तभी सुख हो सकता है जब उसमे संतोष हो, संतोष के बिना धन कमाने से धन की तृष्णा बढ़ती जाती है और तृष्णा की ज्वाला से जलते हुए मनुष्यों को सुख का लेश भी नहीं मिल सकता। इसी प्रकार जो काम भोग की तृष्णा में पड़कर काम भोग के साधन शरीर इंद्रिय वगैरह को जर्जर कर लेते हैं वे क्या कभी सुखी हो सकते हैं? फिर अर्थ और काम सदा ठहरने वाले नहीं है, इनका स्वभाव ही नश्वरता है, किंतु मनुष्यों ने उन्हें ही सुख का साधन मान रखा है, अर्थ और काम में जो जितनी उन्नति कर लेता है, जितनी अधिक संपत्ति, भोग-उपभोग के साधन, ऊँची अट्टालिकाएँ, सुंदर-सुंदर गाड़ियाँ आदि जिसके पास हैं वह उतना ही अधिक सुखी माना जाता है, उसका उतना ही अधिक आदर होता है और यह सब देखकर सब लोग, क्या मूर्ख और क्या विद्वान्, क्या ग्रामीण और क्या शहरी, बालक से बूढ़े तक अर्थ और काम के लिए ही शक्ति-भर उद्योग करते हैं। यदि कोई धर्म से लगता भी है तो अर्थ और काम के लिए ही लगता है। ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य दुःखी न हों तो क्यों न हों? फिर मनुष्यों की यह अर्थ लालसा और काम लालसा केवल उन्हीं को दुःखी नहीं करती बल्कि समाज और राष्ट्र-भर को दुःखी बनाती है, क्योंकि जो मनुष्य स्वार्थवश धन कमाता है और उचित-अनुचित का विचार नहीं करता है वह दूसरों के कष्ट का कारण अवश्य होता है, साथ ही साथ यदि वह दूसरों को कष्ट पहुँचाकर चोरी या छल से अपने को धनी बनाता है तो दूसरे चतुर मनुष्य उसका ही अनुकरण करके उसी रीति से धनवान बनने की चेष्टा करते हैं और इस तरह परस्पर में ही एक-दूसरे के द्वारा सताया जाकर समाज का समाज दुःखी हो उठता है। यही बात काम भोग के संबंध में भी है। अतः यदि

धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रखी जाए तो सुख के साधन हो सकते हैं, परंतु धर्म की मर्यादा के बिना वे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। अतः सुख के साथ धर्म का ही घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है और सुख के साधनों में धर्म ही प्रधान ठहरता है तथा शास्त्रों में सुख का विचार किया गया है, उस पर दृष्टि डालने से तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। शास्त्रों में सुख को जीव का स्वभाव बताया है, क्योंकि सुख जीव के भीतर से ही प्रकट होता है, बाहर संसार में कोई भी सुख का स्थान नहीं है। यदि हम अपने से बाहर अन्य पदार्थों में सुख की खोज करते रहें तो हमें भी सुख नहीं मिल सकता। यह सत्य है कि इंद्रियों के भोग हमसे बाहर इस संसार में विद्यमान हैं, किंतु उनमें से कोई भी स्वयं सुखी नहीं है। उदाहरण के लिए, एक व्यापारी को तार द्वारा यह सूचना मिलती है कि उसे व्यापार में बहुत लाभ हुआ है। सूचना पाते ही वह अनंत में निमग्न हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि तार द्वारा सूचना मिलते ही उसके हृदय में जो आनंद हुआ वह कहाँ से आया? क्या वह उस तार के कागज से उत्पन्न हुआ जिस पर सूचना लिखी थी? नहीं, क्योंकि उस कागज पर हानि की सूचना लिखी होती तो वही कागज़ उसी व्यापारी के दुःख का कारण बन जाता। शायद आप कहें कि उस तार के कागज पर जो वाक्य लिखे हुए थे उनमें सुख विद्यमान था। किंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उन वाक्यों में सुख है तो जो कोई उन वाक्यों को पढ़े या सुने उन सभी को उससे सुख होना चाहिए, मगर ऐसा नहीं देखा जाता। शायद कहा जाए कि उन वाक्यों का संबंध उसी व्यापारी से है, अतः उनसे उसी को सुख होता है दूसरों को नहीं। किंतु उस व्यापारी को उस तार की सत्यता में संदेह हो तो उन वाक्यों से उसे भी तब तक सुख नहीं होगा जब तक उसका संदेह दूर न हो, इसके सिवा एक ही वस्तु किसी के सुख का साधन होती है और किसी के दुःख का साधन होती है तथा एक ही वस्तु कभी सुख का साधन होती है और कभी दुःख का साधन होती है। जैसे पुत्र जब तक माता-पिता का आज्ञाकारी रहता है जब तक उनके सुख का साधन होता है और जब वह उद्दंड हो जाता है तो दुःख का कारण बन जाता है। अतः यदि बाह्य वस्तु सुखस्वरूप होती है तो उससे सबको सदा सुख ही होना चाहिए था, किंतु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः यह मानना पड़ता है कि सुख जीव का ही स्वभाव है, इसलिए वह अंदर से ही उत्पन्न होता है। किंतु बाहर में जिस वस्तु का सहारा पाकर सुख उत्पन्न होता है अज्ञान से मनुष्य उसे ही सुख समझ बैठता है। परंतु वास्तव में बाहरी वस्तु न स्वयं सुख है और न सुख का साधन ही है। शरीर में उत्पन्न होने वाले विकारों की क्षणिक शांति के उपायों को मनुष्य भ्रम से सुख का साधन मानता है, वास्तव में सुख के साधन नहीं हैं, बल्कि शारीरिक विकार के प्रतिकार मात्र हैं, जैसा कि भर्तृहरि ने भी लिखा है–

तृषा शुष्यत्यास्ये पिवति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन कवलयति शाकादिवलितान् ।
प्रदीप्ये कामाग्नौ सुदृढ़तरमालिंगति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।।

अर्थात्– 'जब प्यास से मुख सूखने लगता है तो मनुष्य सुगंधित स्वादु जल पीता है। भूख से पीड़ित होने पर शाक आदि के साथ भात खाता है। कामाग्नि के प्रज्वलित होने पर पत्नी का आलिंगन करता है। इस प्रकार रोग के प्रतिकारों को मनुष्य सुख मान रहा है।'

सारांश यह है कि बाह्य वस्तुओं के संग्रह का उद्देश्य केवल शरीर और मन के अंदर उत्पन्न होने वाली दुःख जनित चंचलता को मिटाना मात्र है। सच्चा सुख तो अपने अंदर से स्वतः विकसित होता है, वह बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता। उसके लिए नगर और वन, स्वजन और श्मशान तथा प्रिया की गोद और शिलातल सब समान हैं। अतः न अर्थ सुख का साधन है और न काम, किंतु इच्छा का निरोध ही सच्चे सुख का साधन है। जो इस सत्य को नहीं समझते वे इच्छा को न रोककर इच्छा के अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके सुखी होने का प्रयत्न करते हैं, किंतु एक इच्छा के पूरी होने पर दूसरी इच्छा उत्पन्न होती है और इस तरह इच्छा का स्रोत बहता रहता है। सब इच्छाएँ किसी की पूरी नहीं होतीं, यदि हो भी जाएँ तो आगे कोई इच्छा उत्पन्न न हो यह संभव नहीं है। अतः फिर इच्छा उत्पन्न होने से फिर दुःख की ही संभावना है। अतः प्रत्येक प्रकार की इच्छा का नियमन करना ही सुख का सच्चा उपाय है, न कि उसके अनुकूल पदार्थ जुटाकर उसकी तृप्ति करना। तृप्ति करने से तो इच्छा बढ़ती है और वह तृष्णा का रूप धारण कर लेती है।

निष्कर्ष यह है कि सब सुख चाहते हैं, किंतु दुःखों का अभाव हुए बिना सुख की प्रतीति नहीं हो सकती। अर्थ और काम से जो सुख होता है वह सुख सुख नहीं है, किंतु शारीरिक और मानसिक रोगों का प्रतीकार मात्र है। भ्रम से लोगों ने उसे सुख मान लिया है और सब उसी की प्राप्ति के उपायों में लगे रहते हैं तथा न्याय और अन्याय का विचार नहीं करते। इसी से संसार में दुःख है। हमारी अर्थ और काम की अनियंत्रित वांछा ही स्वयं हमारे और दूसरों के दुःख का कारण बनी हुई है। यदि हम उसे धर्म के अंकुश से नियंत्रित कर सकें–धर्म अविरुद्ध अर्थ और काम के सेवन करने का व्रत ले लें तो हम स्वयं भी सुखी हो सकते हैं और दूसरे भी, जो कि हमारी अनियंत्रित अर्थ तृष्णा के और काम तृष्णा के शिकार बने हुए हैं, सुखी हो सकते हैं। इसलिए धर्म उपादेय है। वह हमारी इच्छाओं का नियमन करके हमें सुखी ही नहीं, किंतु पूर्ण सुखी बनाता है, क्योंकि जो सुख हमें इंद्रियों के द्वारा प्राप्त होता है वह पराधीन है। जब तक हमें भोगने के लिए रुचिकर पदार्थ नहीं मिलते तब तक वह होता ही नहीं तथा उनके भोगने पर छोड़ देते हैं तो पुनः उनके

बिना विकलता होने लगती है जैसे, भूख लगने पर रुचिकर भोजन मिलने से सुख होता है न मिलने से दुःख होता है तथा एक बार भरपेट भोजन कर लेने पर दूसरी बार फिर क्षुधा सताने लगती है और हम भोजन के लिए विकल हो उठते हैं। अतः इस प्रकार से प्राप्त होने वाला सुख सुख नहीं है किंतु दुःख ही है। सच्चा सुख वह है जिसे एक बार प्राप्त कर लेने पर फिर दुःख का भय ही नहीं रहता। इसी से कहा है, 'तत्सुखं यत्र नासुखम्।' सुख वही है जिसमें दुःख न हो। धर्म से ऐसे ही स्थायी सुख की प्राप्ति होती है।

2. मुक्ति का मार्ग

'संसार में दुःख क्यों है' यह हम जान चुके हैं और यह भी जान चुके हैं कि सुख का साधन धर्म है। वह हमें दुःखों से छुड़ाकर सुख ही नहीं बल्कि उत्तम सुख प्राप्त करा सकता है। अब प्रश्न यह है कि दुःखों से छूटने और सुख को प्राप्त करने का वह मार्ग कौन-सा है, जो धर्म के नाम से पुकारा जाता है। आचार्य समंतभद्र लिखते हैं–

सदृष्टिज्ञानवृत्त नि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥3॥ –रत्नकरंड.

अर्थात्– 'धर्म के प्रवर्तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को धर्म कहते हैं। जिनके उल्टे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र संसार के मार्ग हैं।'

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को ही, जो कि धर्म के नाम से कहे गए हैं, प्रसिद्ध सूत्रकार उमा स्वामी ने मुक्ति का मार्ग बतलाया है। असल में जो मुक्ति का मार्ग है– दुःखों और उनके कारणों से छूटने योग्य है, वही धर्म है। उसी को हमें समझना है।

दुःखों से स्थायी छुटकारा पाने के लिए सबसे प्रथम हमें यह दृढ़ श्रद्धान होना जरूरी है कि–

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥102॥–नियमसार

'ज्ञानदर्शनमय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए बाकी के सभी पदार्थ बाह्य हैं– मुझसे भिन्न हैं मेरे नहीं हैं।'

जब तक हम उन वस्तुओं से, जो हमें हमारे शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, ममत्व नहीं त्यागेंगे, तब तक हम अपने छुटकारे का प्रयत्न नहीं कर सकेंगे और करेंगे भी तो वह हमारा प्रयत्न सफल नहीं होगा, क्योंकि जब तक हमें यही मालूम नहीं है कि हम क्या हैं और जिनके बीच में हम रहते हैं उनके साथ हमारा क्या संबंध है तब तक हम किससे किसका छुटकारा करा सकेंगे? जैसे, जिसे सोने की और मिले खोट की

पहचान नहीं है कि यह सोना है और यह मैल है, वह खान से निकले हुए पिंड में से सोने को शोधकर नहीं निकाल सकता। सोने को शोधकर निकालने के लिए उसे सोने और मैल का ज्ञान तथा यही सोना है और यही मैल है ऐसा दृढ़ विश्वास न होने पर वह किसी दूसरे के बहकावे में आकर मैल को सोना और सोने को मैल समझकर भ्रम में भी पड़ सकता है। वैसे ही आत्मशोधक को भी अपनी आत्मा, उसकी खराबियाँ, उन खराबियों के कारण और उनसे छुटकारा पाने के उपायों का भलीभाँति ज्ञान होने के साथ ही साथ अपने उस ज्ञान की सत्यता पर दृढ़ आस्था भी अवश्य होनी चाहिए। यह आस्था ही सम्यग्दर्शन है। छुटकारे का प्रयत्न करने से पहले इसका नितांत होना आवश्यक है। जो कुछ संदेह वगैरह हो उसे पहले ही दूर कर लेना चाहिए। जब वह दूर हो जाए और पहले कहे गए सात तत्वों की दृढ़ प्रतीति हो जाए तब फिर मुक्ति के मार्ग में पैर बढ़ाना चाहिए और फिर उससे पीछे पैर नहीं हटाना चाहिए, जैसा कि कहा है–

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥15॥–पुरुषार्थ.

'शरीर को ही आत्मा मान लेने का जो मिथ्या भाव हो रहा है, उसे दूर करके आत्मतत्व को अच्छी तरह जानकर, इससे विचलित न होना ही परमपुरुषार्थ मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है।'

अतः मुक्ति के लिए उक्त सात तत्वों पर दृढ़ आस्था होना सम्यग्दर्शन है और उनका ठीक-ठाक ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है। ये दोनों ही आगे बढ़ने की भूमिका हैं, इनके बिना मुक्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। जिस जीव को इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान और ज्ञान हो जाता है, उसे सम्यदृष्टि कहते हैं अर्थात् उसकी दृष्टि ठीक मानी जाती है। अब यदि वह आगे बढ़ेगा तो धोखा नहीं खा सकेगा। जब तक मनुष्य की दृष्टि ठीक नहीं होती उसे अपने हिताहित का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अपने हितकर मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। अतः प्रारंभ में ही उसकी दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है। इसलिए सम्यग्दर्शन को मोक्ष के मार्ग में कर्णधार बताया है जैसे नाव को ठीक दिशा में ले जाना खेने वाले के हाथ में नहीं होता, किंतु नाव के पीछे लगे हुए डांड का संचालन करने वाले मनुष्य के हाथ में होता है। वह उसे जिधर घुमाता है उधर को नाव की गति हो जाती है। यही बात सम्यग्दर्शन के विषय में भी जानना चाहिए। इसी से जैन सिद्धांत में सम्यग्दर्शन का बहुत महत्व बताया है। इसके हुए बिना न कोई ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और न कोई चारित्र सम्यग्चारित्र कहलाता है। अतः मोक्ष के उपासक की दृष्टि का सम्यक् होना बहुत जरूरी है। उसके रहते हुए मुमुक्षु लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हो सकता।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। जैसे शरीर में आठ अंग होते हैं, उनके बिना शरीर नहीं बनता, वैसे ही इन आठ अंगों के बिना सम्यग्दर्शन भी नहीं बनता। सबसे

प्रथम जिस सत्य मार्ग का उसने अवलंबन किया है उसके संबंध में उसे निःशंक होना चाहिए। जब तक उसे यह शंका लगी हुई है कि यह मार्ग ठीक है या गलत, उसकी आस्था दृढ़ कैसे कही जा सकती है? ऐसी अवस्था में आगे बढ़ने पर भी उसका लक्ष्य तक पहुँचना संभव नहीं है। अतः उसे अपने पर अपने गंतव्य पथ पर और अपने मार्ग दृष्टाचार अविचल विश्वास होना चाहिए। दूसरे उसे किसी भी प्रकार के लौकिक सुखों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। बिलकुल निष्काम होकर काम करना चाहिए, क्योंकि कामना और वह भी स्त्री, पुत्र, धन वगैरह की, मनुष्य को लक्ष्य भ्रष्ट कर देती है। इच्छा का दास कभी आगे बढ़ ही नहीं सकता। जैसे कोई आदमी अपने देश को स्वतंत्र करने के मार्ग को अपनाता है और यह कामना रखकर अपनाता है कि इस मार्ग को अपनाने से मेरी ख्याति होगी, प्रतिष्ठा होगी, मुझे कौंसिल में मेंबरी मिलेगी। यदि ये चीजें उसे मिल जाती हैं तो वह फिर इनको ही अपना लक्ष्य मानकर उनमें ही रम जाता है और देश की स्वतंत्रता को भूल बैठता है। यदि ये चीजें नहीं मिलती और उल्टी यातना सहनी पड़ती है तो वह लोगों को भला-बुरा कहकर उस मार्ग को छोड़ बैठता है। वैसे ही सांसारिक सुख की कामना रखकर इस मार्ग पर चलना भी लक्ष्य भ्रष्ट कर देता है। अतः निरीह होकर रहना ही ठीक है। तीसरे रोगी, दुःख और दरिद्री को देखकर उससे ग्लानि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये सब जीवों के अपने-अपने किए हुए पुण्य का खेल है। आज जो अमीर है कल वह दरिद्र हो सकता है। आज जो निरोग है कल वह रोगी हो सकता है। अतः मनुष्य के वैभव और शरीर की गंदगी पर दृष्टि न देकर उसके गुणों पर दृष्टि देनी चाहिए। चौथे, उसे कुमार्ग की और कुमार्ग पर चलने वालों की कभी भी सराहना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे कुमार्ग को प्रोत्साहन मिलता है तथा उसमें इतना विवेक और दृढ़ता का होना ज़रूरी है कि यदि कोई उसे सन्मार्ग से च्युत करने का प्रयत्न करे तो उसकी बातों में न आ सके। पाँचवें, उसे अपने गुणों को बढ़ाते रहने का प्रयत्न करते रहना चाहिए और दूसरों के दोषों को ढाँकने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अज्ञानी और असमर्थ जनों के द्वारा यदि सन्मार्ग पर कोई अपवाद आता हो तो उसे भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे लोक में सन्मार्ग की निंदा न हो। छठे, स्वयं या कोई दूसरा मनुष्य सन्मार्ग से डिगता हुआ हो, किसी कारण से उसका त्याग कर देना चाहता हो तो अपना और उसका स्थितिकरण करना चाहिए। सातवें अपने सहयोगियों से और अहिंसामयी धर्म से अत्यंत स्नेह करना चाहिए। आठवें, जनता में फैले हुए अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके अहिंसामयी धर्म का सर्वत्र प्रसार करते रहना चाहिए। ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, जिनका होना ज़रूरी है।

इसके सिवा सम्यग्दृष्टि को अपने ज्ञान, तप, आदर-सत्कार, बल, ऐश्वर्य, कुल, जाति और सौंदर्य का मद नहीं करना चाहिए। मद बहुत बुरा है। जो कोई मद में आकर अपने किसी भी सहधर्मी का अपमान करता है, वह अपने धर्म का ही अपमान करता है, क्योंकि धार्मिकों के बिना धर्म की स्थिति नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्ज्ञानी होकर जीव को आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इतनी भूमिका तैयार किए बिना अहिंसा धर्म रूपी उस महावृक्ष का अंकुरारोपण नहीं हो सकता, जिसके शांतरस से परिपूर्ण सुस्वादु मधुरफल मुक्ति के मार्ग में पाथेय का काम देते हैं और जिसकी शीतल सुखद छाया में यह सचराचर विश्वयुद्धों की विभीषिका से त्रस्त और आकुल यह संसार, शांति लाभ कर सकता है।

अब रहा सम्यक् चारित्र या आचार।

3. चारित्र या आचार

प्रारंभ में जैन धर्म का आरंभ काल बताते हुए यह बतलाया है कि जैन शास्त्रों के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रारंभ में जब जहाँ भोगभूमि थी, उस समय यहाँ कोई धर्म नहीं था। सब मनुष्य सुखी थे। सबको आवश्यकता के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती थीं। मनुष्य संतोषी और सरल होते थे। वैयक्तिक संपत्तिवाद का तब जन्म नहीं हुआ था। अतः विषमता भी नहीं थी। प्राकृतिक साम्यवाद था। न कोई छोटा था और न कोई बड़ा। न कोई अमीर था और न कोई गरीब। न कोई शासक था और न कोई शास्य। किंतु पीछे प्रकृति ने पलटा खाया आवश्यक वस्तुओं का यथेष्ट परिमाण में मिलना बंद हो गया। मनुष्यों में असंतोष और घबराहट पैदा हुई। उससे संचयवृत्ति का जन्म हुआ। फलतः विषमता बढ़ने लगी और उसके साथ-साथ अपराधों की भी प्रवृत्ति हो चली। सुख का स्थान दुःख ने ले लिया तब भगवान् ॠषभदेव का जन्म हुआ। उन्होंने लोगों को असि, मषी, कृषि, शिल्प, सेवा और व्यापार के द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया तथा अपने प्रत्येक कार्य में अहिंसामूलक व्यवहार करने का उपदेश देकर अहिंसा को ही धर्म बतलाया और अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार अन्य धर्मों का पालन भी आवश्यक बताया। ये पाँच यम रूप धर्म ही जैनाचार का मूल है इसी को एकदेश से गृहस्थ पालते हैं और सर्वदेश से मुनि पालते हैं।

चारित्र या आचार का अर्थ होता है आचरण। मनुष्य जो कुछ सोचता है या बोलता है या करता है वह सब उसका आचरण कहलाता है। उस आचरण का सुधार ही मनुष्य का सुधार है और उसका बिगाड़ ही मनुष्य का बिगाड़ है। मनुष्य प्रवृत्तिशील है और उसकी प्रवृत्ति में तीन द्वार हैं– मन, वचन और कार्य। इनके द्वारा ही मनुष्य

अपना काम करता है और इनके द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के परिचय में आता है। यही वे चीजें हैं, जो मनुष्य को मनुष्य का दुश्मन बनाती हैं और यही वे चीजें हैं जो मनुष्य को मनुष्य का मित्र बना देती हैं। यही वे चीजें हैं जिनके सत्प्रयोग से मनुष्य स्वयं सुखी हो सकता है और दूसरों को सुखी कर सकता है और यही वे चीजें है जिनके दुष्प्रयोग से मनुष्य स्वयं दुःखी होता है और दूसरों के दुःख का कारण बनता है। अतः इनका सत्प्रयोग करना और दुष्प्रयोग न करना शुभाचरण कहा जाता है।

यथार्थ में चारित्र के दो अंश हैं– एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक। जितना प्रवृत्तिमूलक अंश है वह सब बंध का कारण है और जितना निवृत्तिमूलक अंश है वह सब अबंध का कारण है।

यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। प्रवृत्ति का मतलब है इच्छापूर्वक किसी कार्य में लगना और निवृत्ति का मतलब है प्रवृत्त को रोकना। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी। प्रवृत्ति के तीन द्वार हैं– मन, वचन और कार्य। किसी का बुरा विचारना, किसी से ईर्ष्याभाव रखना आदि बुरी वाचनिक प्रवृत्ति है। किसी का भला विचारना, किसी की रक्षा का उपाय सोचना आदि अच्छी मानसिक प्रवृत्ति है। झूठ बोलना, गाली बकना आदि बुरी वाचनिक प्रवृत्ति है। हित मित वचन बोलना, अच्छी वाचनिक प्रवृत्ति है। किसी की हिंसा करना, चोरी करना, व्यभिचार करना आदि बुरी कायिक प्रवृत्ति है और किसी की रक्षा करना, सेवा करना आदि अच्छी कायिक प्रवृत्ति है। इस तरह प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। किंतु प्रवृत्ति का अच्छापन या बुरापन कर्ता की क्रिया या उसके फल पर निर्भर नहीं है किंतु कर्ता के इरादे पर निर्भर है। कर्ता जो कार्य अच्छे इरादे से करता है, वह कार्य अच्छा कहलाता है और जो कार्य बुरे इरादे से करता है वह कार्य बुरा कहलाता है। जैसे, एक डॉक्टर अच्छा करने के भाव से रोगी को नश्तर देता है। रोगी चिल्लाता है और तड़पता है। फिर भी डॉक्टर का कार्य बुरा नहीं कहलाता क्योंकि उसका इरादा बुरा नहीं है तथा एक मनुष्य किसी धनी युवक से मित्रता जोड़कर उसका धन हथियाने के इरादे से प्रतिदिन उसकी खुशामद करता है, उसे तरह-तरह के सब्जबाग दिखाकर वेश्या और शराब से उसकी खातिर करता है। उसका यह काम बुरा है क्योंकि उसका इरादा बुरा है। इसी तरह और भी अनेक दृष्टांत दिए जा सकते हैं। अतः प्रवृत्ति का अच्छा या बुरापन कर्ता के भावों पर निर्भर है, न कि कार्य पर। ऐसी स्थिति में जो लोग लौकिक सुख की इच्छा से प्रेरित होकर धर्माचरण करते हैं उनका वह धर्माचरण यद्यपि बुरे कार्यों में लगने की अपेक्षा अच्छा ही है तथापि जिस दृष्टि से धर्माचरण को कर्तव्य बतलाया है उस दृष्टि से वह एक तरह से निष्फल ही है, क्योंकि लौकिक वैषयिक सुख की लालसा

में फँसकर हम उस चिरस्थायी आत्मिक सुख की बात को भूल जाते हैं, जो धर्माचरण का अंतिम लक्ष्य है और ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिनसे बहुत काल के लिए उस चिरस्थायी सुख की आशा नष्ट हो जाती है।

यद्यपि सुख लाभ की प्रवृत्ति जीव का स्वभाव सिद्ध धर्म है। वही प्रवृत्ति जीवों को अच्छे या बुरे कार्यों में लगाती है। किंतु एक तो जीवों को सच्चे सुख की पहचान नहीं है। वे समझते हैं कि इंद्रियों के विषयों में ही सच्चा सुख है। इसलिए वे उन्हीं की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और उसी के लोभ से धर्माचरण भी करते हैं। किंतु ज्यों-ज्यों उन्हें विषयों की प्राप्ति होती जाती है त्यों-त्यों उनकी विषय तृष्णा बढ़ती जाती है। उस तृष्णा की पूर्ति के लिए वे प्रतिदिन नए-नए उपाय रचते हैं, अनर्थ करते हैं, बलात्कार करते हैं, दूसरों को सताते हैं। उचित-अनुचित का विचार किए बिना जो कुछ कर सकते हैं करते हैं, किंतु उनकी तृष्णा शांत नहीं होती। अंत में तृष्णा को शांत करने की धुन में वे स्वयं ही शांत हो जाते हैं और अपने पीछे पापों की पोटरी बाँधकर दुनिया से चल बसते हैं। इसलिए वैषयिक सुख की खोज इतनी निंदनीय है। दूसरे प्रवृत्ति में एक बड़ा भारी दोष यह है कि प्रवृत्ति मात्र ही सहज में असंयत हो उठती है और उचित सीमा को लांघकर कार्य करने लगती है। इसी से प्रवृत्ति के दमन पर इतना जोर दिया गया है और प्रवृत्ति को विश्वस्त पथप्रदर्शक नहीं माना जाता। इसलिए दूरदर्शी धर्मोपदेष्टाओं ने प्रवृत्तिमूलक कार्य की अपेक्षा निवृत्तिमूलक कार्य की ही अधिक प्रशंसा की है और निवृत्तिमार्ग को ही ग्रहण करने का उपदेश दिया है।

अनेक लोग सोचा करते हैं कि प्रवृत्ति मनुष्य को यर्थाथकर्मा बनाकर जगत का हित से करने में लगाती है और निवृत्ति मनुष्य को निष्कर्मा बनाकर जगत का हित करने से रोकती है। किंतु यह बात ठीक नहीं है। यह सच है कि निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग आकर्षक है। पर उसका कारण यह है कि प्रवृत्तिमार्ग से जिस सुख की खोज की जाती है वह क्षणिक होने पर भी सहजलभ्य और सहजभोग्य है। उधर निवृत्तिमार्ग से जिस सुख को खोजा जाता है, वह नित्य होने पर भी अतिदूर है और संयतचित्त हुए बिना कोई उसे भोग नहीं सकता। अतः निवृत्तिमार्ग यद्यपि आकर्षक नहीं है तथापि एक बार जो उस पर पग रख देता है वह बराबर चलता रहता है, क्योंकि उसे मार्ग पर चलने से जो सुख प्राप्त होता है वह नित्य है और उसको भोगने की शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता। इसके विपरीत प्रवृत्तिमार्ग से जो सुख प्राप्त होता है उस सुख के लिए जिन भोग्य सामग्रियों की आवश्यकता है वे सब अस्थायी हैं और उस सुख को भोगने के लिए हममें जो शक्ति है वह भी क्षय होने वाली है। दूसरे, प्रवृत्ति से प्रेरित होकर जो कार्य किया जाता है उसके अंत तक चालू रहने में बहुत शंका रहती है, क्योंकि कर्ता किसी लौकिक इच्छा से ही उसमें प्रवृत्त होता है किंतु निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले के

विषय में शंका नहीं रहती, क्योंकि वह अपने सुख-लाभ पर दृष्टि न रखकर कार्य करने में ही रत रहता है। शायद कोई कहे कि वह प्रवृत्तिमार्गी लोगों ने ही परिश्रम करके अनेक प्रकार के विषय-सुख के उपायों का आविष्कार करके मनुष्य जाति का महान हित किया है और निवृत्तिमार्गियों ने कुछ नहीं किया तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि उन सब सुख-साधनों के रहते हुए भी जब कोई आदमी दुस्सह शोक सागर में निमग्न होता है, या निराशा के गर्त में पड़ा होता है या असाध्य रोग से पीड़ित होता है तो निवृत्तिमार्गियों के जीवन के उज्ज्वल दृष्टांत ही उसको धीरज बँधाते हैं और उनके अनुभवपूर्ण उपदेशों के द्वारा ही उसे सच्ची शांति का लाभ होता है। अतः जो सच्चे सुख और शांति की खोज में हैं, उन्हें कुछ-कुछ निवृत्तिमार्गी भी होना चाहिए और प्रवृत्तिमार्ग पर चलते हुए भी अपनी दृष्टि निवृत्तिमार्ग पर ही रखनी चाहिए।

कोई कह सकता है कि इस तरह यदि सभी निवृत्तिमार्गी हो जाएँगे तो दुनिया का काम कैसे चलेगा? किंतु ऐसा सोचने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि हमारी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि निवृत्ति के अभ्यास से उनकी जड़ उखड़ने की संभावना नहीं है। उससे इतना ही हो सकता है कि वे कुछ शांत हो जाएँ, किंतु इससे हमें और जगत को लाभ ही पहुँचेगा, हानि नहीं। अतः चारित्र के दो रूप हैं एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक। इन दोनों ही चारित्रों का प्राण है अहिंसा और उसके रक्षक हैं, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

4. अहिंसा

जैनाचार का प्राण

अहिंसा ही परमधर्म है। अहिंसा ही परमब्रह्म है। अहिंसा ही सुख-शांति देने वाली है, अहिंसा ही संसार का त्राण करने वाली है। यही मानव का सच्चा धर्म है, यही मानव का सच्चा कर्म है। यही वीरों का सच्चा बाना है, यही धीरों की प्रबल निशानी है। इसके बिना न मानव की शोभा है न ही उसकी शान है। मानव और दानव में केवल अहिंसा और हिंसा का ही तो अंतर है। हिंसा दानवी है और अहिंसा मानवी। जब से मानव ने अहिंसा को भुला दिया तभी से वह दानव होता जाता है और उसका दानवता का अभिशाप इस विश्व को भोगना पड़ रहा है फिर भी मानव इस सत्य को नहीं समझता। किंतु वह दिन दूर नहीं जब मानव संसार उसे समझेगा, क्योंकि उसके कष्टों का दूसरा इलाज नहीं है।

संसार सुख-शांति चाहता है, इसका मतलब है कि संसार में निवास करने वाला प्रत्येक प्राणी सुख-शांति का इच्छुक है। कोई मरना नहीं चाहता। दुःखी से दुःखी प्राणी

भी जीवित रहने की चाह रखता है। सबको अपना जीवन प्रिय ही नहीं, बल्कि अतिप्रिय है। ऐसी अति प्यारी चीज़ को नष्ट कर डालता है वह हिंसक है, दानव है, पातकी है और जो उसकी रक्षा करता है, अपने प्राणों का बलिदान करके भी त्रस्तों को बचाता है, उन्हें जीवनदान देता है वह अहिंसक है वही सच्चा मानव है। इस मानवता का मूल्य वहीं आंक सकता है जिसके प्राणों पर कभी संकट आया है। जो केवल मारना जानते हैं, सताना जानते हैं, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है?

कहावत प्रसिद्ध है, 'जाके पैर नहिं फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई?' जिसके जीवन पर कभी दुःख की घटा नहीं घहराई, कभी किसी आततायी की तलवार नहीं पड़ी, वह क्या जान सकता है कि दूसरों को मारने या सताने में क्या दुःख है? काश यदि मानव ने अपने जीवन पर बीती दुःखद घटनाओं से शिक्षा ली होती तो आज मानव मानव के खून का प्यासा न होता। किंतु मानव इतना स्वार्थी है या उसकी स्वार्थपरक वृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि वह स्वयं जीवित रहना चाहता है किंतु दूसरों के जीवन की कतई परवाह नहीं करता। उसकी दशा नशे में मस्त उस मोटर चालक की सी है जो सरपट मोटर दौड़ाते हुए यह भूल जाता है कि जिस सड़क पर मैं मोटर चला रहा हूँ उस पर कुछ अन्य प्राणी भी चल रहे हैं, जो मेरी मोटर से दबकर मर सकते हैं। उसे अपने जीवन की व अपने सुख-चैन की चिंता तो है किंतु दूसरों की नहीं। मुझे स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिलने चाहिए चाहे दूसरों को सूखा कौर भी न मिले। मेरे खजाने में बेकार सोना-चाँदी का ढेर लगा रहना चाहिए। चाहे दूसरों के तन पर फटा चीथड़ा न हो। मेरी साहूकारी सैकड़ों को गरीब बनाती है तो मुझे क्या? मेरे भोग-विलास के निमित्त से दूसरों के प्राणों पर बन आती है तो मुझे क्या? हमारे साम्राज्यवाद की चक्की में देश पिस रहा है तों हमें क्या? व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की ये भावनाएँ ही दूसरे, व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रों का निर्दलन कर रही हैं। इनके कारण किसी को भी सुख भाता नहीं है। परस्पर में अविश्वास की तीव्र भावना रात-दिन आकुल करती रहती है। सब अवसर की प्रतिक्षा में रहते हैं कि कब दूसरे का गला दबोचा जाए। ये सब हिंसक मनोवृत्ति का ही दुष्परिणाम है जो विश्व को भोगना पड़ रहा है। इससे बचने का एक ही उपाय है और वह है 'जियो और जीने दो' का मंत्र। इसके बिना विश्व में शांति नहीं हो सकती।

कुछ लोग अहिंसा को कायरता की जननी समझते हैं और कुछ उसे अच्छी मानकर भी अशक्य समझते हैं। उनका ऐसा ख्याल है कि अहिंसा तो अच्छी चीज है मगर वह पाली नहीं जा सकती। ये दोनों ख्याल गलत हैं। न अहिंसा कायरता को पैदा करती है और न वह ऐसी ही है कि उसका पालन करना अशक्य हो। अहिंसा पर गहरा विचार न करने से ही ऐसी धारणा बना ली गई है। हिंसा न करने को अहिंसा कहते हैं। किंतु अपने द्वारा किसी प्राणी के मर जाने से या दुःखी हो जाने से ही हिंसा नहीं होती। संसार में सर्वत्र

जीव पाए जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी रहते हैं फिर भी जैन धर्म के अनुसार इसे तब तक हिंसा नहीं कहा जा सकता जब तक हिंसा रूप परिणाम न हो। वास्तव में हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। अर्थात् जब तक हम प्रमादी और अयत्नाचारी न हों तब तक किसी का घात हो जाने मात्र से हम हिंसक नहीं कहलाए जा सकते।

आशय यह है कि हिंसा दो प्रकार से होती है एक कषाय से अर्थात् जान-बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानी से। जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभ के वश दूसरे मनुष्य पर वार करता है तो वह हिंसा कषाय से कही जाती है और जब मनुष्य की असावधानता से किसी का घात हो जाता है या किसी को कष्ट पहुँचता है तो वह अयत्नाचार से कही जाती है। किंतु यदि कोई मनुष्य देख-भालकर अपना कार्य कर रहा है और उस समय उसके चित्त में किसी को कष्ट पहुँचाने का भाव नहीं है। फिर भी यदि उसके द्वारा किसी को कष्ट पहुँचता है या किसी का घात हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जा सकता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकारों ने लिखा है–

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।

–प्रवच, पृ० 292

अर्थात्- 'जो मनुष्य आगे देख-भालकर रास्ता चल रहा है उसके पैर उठाने पर अगर कोई जीव पैर के नीचे आ जाए और कुचलकर मर जाए तो उस मनुष्य को उस जीव के मारने का थोड़ा-सा भी पाप आगम में नहीं कहा।'

किंतु यदि कोई मनुष्य असावधानता से कार्य कर रहा है उसे इस बात की बिलकुल परवाह नहीं है कि उसके इस कार्य से किसी को हानि पहुँच सकती है या किसी के प्राणों पर बन सकती है और उसके द्वारा उस समय किसी को कोई हानि पहुँच भी नहीं रही हो, फिर भी वह हिंसा के पाप का भागी है–

मरदु व जीवदु जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥17॥ –प्रवच.3

अर्थात्- 'जीव चाहे जिये चाहे मरे, असावधानता से काम करने वाले को हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किंतु जो सावधानी से काम कर रहा है उसे प्राणिवध होने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता।'

अहिंसा की इस व्याख्या के अनुसार अपने से किसी जीव का घात हो जाने या किसी के दुःखी हो जाने पर भी तब तक हिंसा नहीं कहलाती जब तक अपने भाव उसे मारने या दुःखी करने के न हों, अथवा हम अपना कार्य करते हुए असावधान न हों। किंतु

यदि हमारे भाव किसी को मारने या कष्ट पहुँचाने के हों, परंतु प्रयत्न करने पर भी हम उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकें, तब भी हम हिंसक ही समझे जाएँगे। क्योंकि जो दूसरों का बुरा करना चाहता है वह सबसे पहले अपना बुरा करता है। जैसा कि कहा है–

स्वयमेवात्मनाऽऽमानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्व प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः॥–सर्वार्थ, पृ. 206

अर्थात्- 'प्रमादी मनुष्य पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है, पीछे दूसरे प्राणियों का घात हो या न हो।'

असल में जैन धर्म में हिंसा को दो भागों में बाँट दिया गया है– द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। जब किसी को मारने या सताने अथवा असावधानता का भाव न होने पर भी दूसरे का घात हो जाता है तब उसे द्रव्य हिंसा कहते हैं और जब किसी को मारने या सताने अथवा असावधानता का भाव होता है तब उसे भाव हिंसा कहते हैं। वास्तव में भाव हिंसा ही हिंसा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव हिंसा के साथ संबंध है। किंतु द्रव्य हिंसा के होने पर भाव हिंसा अनिवार्य नहीं है, अर्थात् जिस आदमी के द्वारा किसी का घात हो जाता है या किसी को कष्ट पहुँचता है उस आदमी का इरादा ही ऐसा करने का था ऐसा एकांत रूप से नहीं कहा जा सकता। अतः जहाँ कर्ता के भावों में हिंसा है वही हिंसा है, उसके द्वारा कोई मारा जाए या न मारा जाए और जहाँ कर्ता के भावों में हिंसा नहीं है वहाँ भी हिंसा भी नहीं है, भले ही उसके निमित्त से किसी की जान ही चली जाए। अगर द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को इस प्रकार अलग न किया गया होता तो कोई भी अहिंसक न बन सकता और यह शंका बराबर खड़ी रहती–

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

'जल में जंतु हैं, स्थल में जंतु हैं और आकाश में भी जंतु हैं। इस तरह जब समस्त लोक जंतुओं से भरा हुआ है तो कोई मुनि कैसे अहिंसक हो सकता है?'

इस शंका का उत्तर इस प्रकार दिया है–

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

'जीव दो प्रकार के हैं सूक्ष्म और बादर या स्थूल। जो जीव सूक्ष्म अर्थात् अदृश्य होते हैं और न तो किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं, उन्हें तो कोई पीड़ा दी ही नहीं जा सकती। रहे स्थूल जीव, उनमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी रक्षा की जाती है। अतः जिसने अपने को संयत कर लिया है उसे हिंसा का पाप कैसे लग सकता है?'

इससे स्पष्ट है कि जो मनुष्य जीवों की हिंसा करने के भाव नहीं रखता बल्कि उनको बचाने के भाव रखता है और अपना प्रत्येक काम ऐसी सावधानी से करता है कि उससे किसी को भी कष्ट न पहुँच सके, उसके द्वारा जो द्रव्य हिंसा हो जाती है उसका पाप उसे नहीं लगता। अतः जैन धर्म की अहिंसा भावों के ऊपर निर्भर है और इसलिए कोई भी समझदार उसे अव्यवहार्य नहीं कह सकता। मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह अपने स्वार्थ के पीछे किसी भी अन्य जीव को सताने के भाव चित्त में न आने दें और अपना जीवन निर्वाह इस तरीके से करे कि उससे कम से कम जीवों का कम से कम अहित हो। जो मनुष्य इस तरह की सावधानी रखता है वह अहिंसक है।

अहिंसा को व्यवहार्य बनाने के लिए जैसे हिंसा के द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के भेद किए गए हैं, वैसे ही अहिंसा के भी अनेक भेद किए गए हैं। सबसे प्रथम तो गृहस्थ और साधु की अपेक्षा से अहिंसा दो भागों में बाँट दी गई है। गृहस्थ की अहिंसा की सीमा जुदी है और साधु की अहिंसा की सीमा जुदी है। जो एक के लिए व्यवहार्य है वही दूसरे के लिए अव्यवहार्य है, क्योंकि दोनों के पद और उत्तरदायित्व विभिन्न हैं। दूसरे, गृहस्थ की दृष्टि से भी उसके अनेक प्रभेद किए हैं। यदि उन सीमाओं और भेद-प्रभेदों को भी दृष्टि में रखकर जैनी अहिंसा को देखा जाए तो हमें विश्वास है कि उस पर अव्यावहारिकता का दोषारोपण नहीं किया जा सकेगा।

गृहस्थ की अहिंसा

हिंसा चार प्रकार की होती है– संकल्पी, उद्योगी, आरंभी और विरोधी। बिना अपराध के जान-बूझकर किसी जीव का वध करने को संकल्पी हिंसा कहते हैं; जैसे– कसाई पशुवध करता है। जीवन निर्वाह के लिए व्यापार, खेती आदि करने, कल-कारखाने चलाने तथा सेना में नौकर होकर युद्ध करने आदि में जो हिंसा हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। सावधानी रखते हुए भी भोजन आदि बनाने में जो हिंसा हो जाती है उसे आरंभी हिंसा कहते हैं और अपनी या दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

जैन धर्म में सब संसारी जीवों को दो भेदों में बाँटा गया है एक स्थावर और दूसरा त्रस। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव हैं। मिट्टी में कीड़े आदि तो हैं ही परंतु मिट्टी का ढेला स्वयं पृथ्वीकायिक जीव के शरीर का पिंड है। इसी तरह जलबिंदु में यंत्रों के द्वारा दिखाई देने वाले अनेक जीवों के अतिरिक्त वह स्वयं जलकायिक जीव के शरीर का पिंड है। ऐसे ही अग्नि आदि के संबंध में भी समझना चाहिए। इन जीवों को स्थावर कहते हैं और जो जीव चलते-फिरते दिखाई देते हैं; जैसे– मनुष्य,

पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े वगैरह वे सब त्रस कहे जाते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों में से गृहस्थ स्थावर जीवों की रक्षा का तो यथाशक्ति प्रयत्न करता है और बिना ज़रूरत न पृथ्वी खोदता है, न जल को खराब करता है, न आग जलाता है, न हवा करता है और न हरी साग-सब्ज़ी को या वृक्षों को काटता है तथा त्रस जीवों की केवल संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। इस हिंसा का त्याग कर देने से उसके सांसारिक जीवन में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती, क्योंकि संकल्पी हिंसा मनोविनोद के लिए या दूसरों को मारकर उसके मांस का भक्षण करने के लिए की जाती है। खेद है कि मनुष्य 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत को भुलाकर दिल बहलाव के लिए जंगल में निर्द्वंद्व विचरण करने वाले पशु-पक्षियों का शिकार खेलता है और उनके मांस से अपना पेट भरता है। यदि मनुष्य ऐसा करना छोड़ दे तो उससे उसकी जीवनयात्रा में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी। मनुष्य के दिल बहलाने के साधनों की कमी नहीं है और पेट भरने के लिए पृथ्वी से अन्न और हरी साग-सब्ज़ी उपजाई जा सकती है जिससे तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन तैयार हो सकते हैं। आज के युग में वैज्ञानिक साधनों से सब जगह खाद्यान्न उपजाया जा सकता है और अनावश्यक जानवरों की पैदाइश को भी रोका जा सकता है। यदि मनुष्य यह संकल्प कर ले कि हम अपने लिए किसी जीव की हत्या नहीं करेंगे तो वह दूसरी दिशा में और भी अधिक उन्नति कर सकता है।

फिर मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक भोजन भी नहीं है। उसके दाँतों और आँतों की बनावट साक्षी है। न मांसाहार से वह बल और शक्ति ही प्राप्त होती है। जो घी, दूध व फलाहार से प्राप्त होती है। इसके सिवा मांसाहार तामसिक है, उससे मनुष्य की सात्विकवृत्तियों का घात होता है। इसके विषय में भी काफी लिखा जा सकता है किंतु यहाँ उतना स्थान नहीं है। इसी तरह शिकार खेलना भी मनुष्य की नृशंसता है। व्याघ्र वगैरह हिंसक पशु भी तभी दूसरे जानवर पर आक्रमण करते हैं जब उन्हें भूख सताती है। किंतु मनुष्य उनसे भी गया बीता है, जो डर से भागते हुए पशुओं के पीछे घोड़ा दौड़ाकर और बाण या बंदूक की गोली से उनको मार-भूनकर अपना दिल बहलाता है। कुछ लोगों का कहना है कि शिकार खेलने से वीरता आती है, इसलिए मृगया करना क्षत्रिय का कर्तव्य है। उन्होंने शायद क्रूरता और निर्दयता को वीरता समझा है। किंतु वीरता आंतरिक शौर्य है जो तेजस्वी पुरुषों में समय-समय पर अन्याय व अत्याचार का दमन करने के लिए प्रकट होती है। डरकर भाग रहे मूक प्राणियों के जीवन के साथ होली खेलना शूरवीरता नहीं कायरता है। जो ऐसा कहते हैं, वे प्रायः कायर होते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमने हिंदू-मुस्लिम दंगे के समय बनारस में देखा। हमारे मुहाल में अधिकतर बस्ती मल्लाहों की है। वे इतने क्रूर होते हैं कि बड़े-बड़े घड़ियालों को पकड़कर साग-सब्ज़ी की तरह काट डालते हैं और खा जाते हैं। किंतु हिंदू-मुस्लिम

दंगे के समय उनकी कायरता दयनीय थी। अपनी नावों में बैठ-बैठकर सब उस पार भाग गए थे और जो शेष थे वे भी जैन विद्यार्थियों से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना किया करते थे। अतः मांसाहार या शिकार खेलने से शूरवीरता का कोई संबंध नहीं है। इसलिए इनसे बचना चाहिए।

इसी तरह धर्म समझकर देवी के सामने बकरों, भैसों और सूअरों का बलिदान करना भी एक प्रकार की मूढ़ता और नृशंसता है। इससे देवी प्रसन्न नहीं होती। धर्माराधन के स्थानों को बूचड़खाना बनाना शोभा नहीं देता। अतः सबसे पहले गृहस्थ को धर्म के लिए, पेट के लिए, दिल बहलाव के लिए, किसी भी प्राणी का घात नहीं करना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि जब जैन धर्म के अनुसार जल तथा वनस्पति वगैरह भी जीवों का कलेवर ही है, तब निरामिष भोजियों को वनस्पति वगैरह भी नहीं खाना चाहिए। परंतु जो सप्तधातु युक्त कलेवर होता है उसकी ही मांस संज्ञा है। वनस्पति में सप्तधातु नहीं पाई जाती। अतः उसकी मांस संज्ञा नहीं है। इसी तरह कुछ लोग स्वयं मरे हुए प्राणी के मांस के खाने में दोष नहीं बतलाते। यह सत्य है कि जिस प्राणी का वह मांस है उसे मारा नहीं गया। किंतु एक तो मांस में तत्काल अनेक सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, दूसरे मांस भक्षण से जो बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं उनसे मनुष्य कभी भी नहीं बच सकता। कहा भी है–

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शकुन्य इव दुर्धियः॥27॥ –योगशा.

अर्थात्– 'जिसको मांस खाने का चस्का पड़ जाता है, उस प्राणी की बुद्धि दुष्ट पक्षियों के समान दूसरे प्राणियों को मारने में लगती है।'

आज मांस भक्षण का बहुत प्रचार है उसका ही यह कुफल है कि अपने स्वार्थ के पीछे मनुष्य मनुष्य का दुश्मन बना हुआ है। एक को दूसरे का वध करते हुए जरा भी संकोच नहीं होता। अतः इससे बचना चाहिए।

इस तरह गृहस्थ को त्रस जीवों की संकल्पी हिसां का त्याग जरूर करना चाहिए। अब रह जाती है उद्योगी, आरंभी और विरोधी हिंसा। एक नीची श्रेणी के गृहस्थ के लिए इनका त्याग करना शक्य नहीं है, क्योंकि उसे अपने कुटुंबियों के भरण-पोषण के लिए कोई न कोई उद्योग और कुछ न कुछ आरंभ अवश्य करना पड़ता है, उसके बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकता। किंतु उसे ऐसा ही उद्योग और आरंभ करना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को कम से कम कष्ट पहुँचने की संभावना हो। इसी तरह विरोधी हिंसा से भी गृहस्थ नहीं बच सकता। यद्यपि वह स्वयं किसी से अकारण विरोध पैदा नहीं करता, किंतु यदि कोई उस पर आक्रमण करे तो उससे बचने के लिए

वह बराबर प्रयत्न करेगा। आक्रमणकारी का सामना न करके डरकर घर में छिप जाना अहिंसा की निशानी नहीं है। इस मानसिक हिंसा से तो प्रत्यक्ष हिंसा कहीं अच्छी है। जैन शास्त्रों में तो स्पष्ट लिखा है–

नापि स्पष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक्। –पंचाध्यायी

'जैन धर्म का जो सच्चा श्रद्धानी है वह सात प्रकार के भयों से सर्वथा अछूता रहता है।'

जैन धर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रियवंशी थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक दिग्विजयें की थीं। मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त, महामेघवाहन सम्राट खारवेल, वीर सेनापति चामुंडराय आदि जैन वीर योद्धा तो भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न हैं। वस्तुतः जैन धर्म उन क्षत्रियों का धर्म था जो युद्ध में दुश्मन का सामना तलवार से करना जानते थे और उसे क्षमा करना भी जानते थे। जैन क्षत्रियों के लिए आदेश है–

यः शस्त्रवृत्तिःसमरे रिपु स्याद यः कण्टकोः वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति न दीनकानीनशुभाषयेषु॥

–यशस्तिलक, पृ.96

'अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर युद्ध-भूमि में जो शत्रु बनकर आया हो, या अपने देश का दुश्मन हो उसी पर राजागण अस्त्र प्रहार करते हैं, कमजोर, निहत्थे, कायरों और सदाशयी पुरुषों पर नहीं।'

यही जैन राजनीति है। अतः जो लोग अहिंसा धर्म पर कायरता का लांछन लगाते हैं, वे भ्रम में हैं। अहिंसा में तो कायरता के लिए स्थान नहीं है। अहिंसा का तो पहला पाठ ही निर्भयता है। निर्भयता और कायरता एक ही स्थान में नहीं रह सकतीं। शौर्य आत्मा का एक गुण है, जब वह आत्मा के ही द्वारा प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा कहलाता है और जब वह शरीर के द्वारा प्रकट किया जाता है तब वह वीरता। जैन धर्म की अहिंसा या तो वीरता का पाठ पढ़ाती है या क्षमा का। आपत्तिकाल में गृहस्थ का कर्तव्य बतलाते हुए एक जैनाचार्य ने लिखा है–

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेसु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये॥812॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्य यावन्मंत्रासिकशकम्।
तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥813॥ –पंचाध्या.

अर्थात्– 'धर्म के आयतन जिन मंदिर, जिन बिंब आदि में से किसी पर भी आपत्ति आ जाने पर सच्चे जैनी को उसे दूर करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। अथवा जब तक उसके पास आत्मबल, मंत्रबल, तलवार का बल और धनबल है, तब तक वह उस आपत्ति को न तो देख सकता है और न सुन ही सकता है।'

जो कुछ धर्म पर आई हुई आपत्ति के प्रतिकार के बारे में कहा गया है वही देश पर आई हुई आपत्ति के बारे में भी समझना चाहिए। अतः जो लोग ऐसा समझते हैं कि जैन धर्म का अनुयायी सेना में भर्ती नहीं हो सकता या युद्ध नहीं कर सकता, वे भ्रम में हैं। आजकल जैन धर्म के मानने वाले अधिकांश वैश्य हैं और सदियों की दासता और उत्पीड़न ने उन्हें किसी हद तक डरपोक बना दिया है। यह अहिंसा धर्म का दोष नहीं है। जब तक भारत पर अहिंसाधर्मी जैनों का राज्य रहा तब तक भारत गुलाम नहीं हो सका। वे समय पर मरना जानते थे और मारना भी जानते थे। किंतु रण से विमुख होकर भागना नहीं जानते थे। प्राणों के मोह से कर्तव्यच्युत होना तो सबसे बड़ी हिंसा है।

एक बार एक लेखक ने गीता में प्रतिपादित अर्जुन व्यामोह के संबंध में लिखा था– अर्जुन का आदर्श अनार्यों का– बौद्ध और जैनों का मार्ग है। वह आर्यों का हिंदू जाति का आदर्श को नहीं मानती। हम नहीं समझते लेखक ने इस आदर्श को जैनों का आदर्श कैसे समझ लिया? गीता से स्पष्ट है कि अर्जुन हिंसा के भय से युद्ध से विरत नहीं हो रहा था किंतु अपने बंधु बांधवों और कुल का विनाश उसे कर्तव्यच्युत कर रहा था। अर्जुन के हृदय में अहिंसा की ज्योति नहीं झलकी थी, जिसके प्रकाश में मनुष्य प्राणिमात्र को अपना बंधु और संसार को अपना कुटुंब मानता है, उसके हृदय में तो कुटुंब मोह ने अपना साम्राज्य जमा लिया था। अतः वह अहिंसा का आदर्श नहीं था। अहिंसा कर्तव्यच्युत नहीं करती, किंतु कर्तव्य का बोध कराकर अकर्तव्य से बचाती है और कर्तव्य पर दृढ़ करती है। अतः अहिंसा न अव्यवहार्य है और न कायरता है और न निर्बलता की जननी है। उसकी मर्यादा, व्याख्या और शक्ति से जो परिचित है वह ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता।

5. श्रावक का चारित्र

जैन संघ के चार अंग बताए हैं– मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। श्रावक से मतलब है पुरुष गृहस्थ और श्राविका से मतलब है स्त्री गृहस्थ। जैन गृहस्थ श्रावक कहे जाते हैं, जिसका अपभ्रंश 'सरावगी' शब्द कहीं-कहीं अब भी प्रचलित है। श्रावक और श्राविका का जैन संघ में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उनके बिना मुनि आश्रम चल नहीं सकता और उन्हीं में तो आगे चलकर मुनि होते हैं। अतः जैन गृहस्थ का आचार एक प्रकार से मुनि-आचार का नींव रूप है, उसी के ऊपर आगे चलकर मुनि-आचार का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। अतः सच्चा जैन धर्म गृहस्थ एक आदर्श गृहस्थ होता है।

जैन शास्त्रों में लिखा है कि गृहस्थ धर्म का पालन वही कर सकता है जो न्याय से धन कमाता है, गुणीजनों का आदर करता है, मीठी वाणी बोलता है, धर्म, अर्थ और

काम का सेवन इस रीति से करता है कि एक-दूसरे में बाधक नहीं होता, लज्जाशील होता है, जिसका आहार और विहार दोनों युक्त होते हैं, सदा सज्जनों की संगति में रहता है और जो शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ, दयालु, पापभीरु और जितेंद्रिय होता है। जिस गृहस्थ में इतने गुण हों उसके आदर्श गृहस्थ होने में संदेह ही क्या है? यदि ऐसे सद्गृहस्थ होने लगें तो यही पृथ्वी स्वर्ग से बढ़कर हो सकती है। किंतु मनुष्य की भोगलिप्सा और स्वार्थपरक वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जाती हैं कि वह अपने सभी सद्गुणों को भुला बैठा है और उसका आराध्य केवल काम और अर्थ रह गया है यदि वह धर्माचरण भी करता है तो उसी की पूर्ति के लिए करता है। न उसे न्याय का विचार है और न अन्याय का। न उसे दया से प्रेम है और न पाप से भय। वह इंद्रियों का दास बना हुआ है और उसकी तुष्टि के लिए सब कुछ करता रहता है, अस्तु।

जैन गृहस्थ के आठ मूल गुण होते हैं– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का एकदेश पालन तथा मांस, मधु और मदिरा का सर्वथा त्याग। मूल जड़ को कहते हैं– ये आगे बढ़ने के लिए जड़ रूप हैं इसलिए इन्हें मूलगुण कहते हैं। इनके बिना कोई जैन श्रावक नहीं कहा जा सकता।

1. अहिंसाणुव्रत

जैन सिद्धांत में जीव दो प्रकार के बताए हैं– स्थावर और त्रस। जो जीव चलते-फिरते हैं जैसे मनुष्य, पशु, चींटी, लट, जूँ वगैरह उन्हें त्रस कहते हैं और जो जीव पृथ्वी रूप हैं, जल रूप हैं, अग्नि रूप हैं, वायु रूप हैं और वनस्पति रूप हैं, उन्हें स्थावर कहते हैं। गृहस्थ स्थावर जीवों की हिंसा से बच ही नहीं सकता, उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए इन सब वस्तुओं की आवश्यकता होती है। हाँ, सावधानी उनके प्रति भी रखता है, जैसा आगे बताया गया है। अब रह जाते हैं त्रस। त्रसों की हिंसा चार प्रकार की होती है– संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी। इनमें से वह केवल संकल्पी हिंसा त्याग करता है। इनका विशेष विवेचन पहले 'अहिंसा' के प्रकरण में कर दिया गया है। शास्त्रकारों ने लिखा है–

इत्यनारम्भजां जह्याद् हिंसामारम्भजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद गृही॥10॥–सागार धर्मा.

अर्थात्– 'आरंभ के सिवा अन्य कार्यों में होने वाली हिंसा को गृहस्थ छोड़ दे और खेती आदि आरंभों में होने वाली हिंसा से व्यर्थ ही स्थावर हिंसा की तरह यथाशक्ति बचने का प्रयास करे।'

आरंभ में होने वाली हिंसा के सिवा दिल बहलाने के लिए, स्वाद के लिए, चमड़े के सामान जूते वगैरह बनाने के लिए और धर्म के लिए जो पशु हत्या की जाती

है, वह सब छोड़ देना चाहिए और जीवित पशुओं को मारकर उनके ताज़े और मुलायम चमड़े से जो चीज़ें बनाई जाती हैं उनका भी व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे उनके वध को प्रोत्साहन मिलता है। चूँकि जो गृहस्थ जीवन बिताता है उसका निर्वाह बिना किसी उद्योग-धंधे के चल नहीं सकते, इसलिए आरंभी हिंसा तो एक गृहस्थ के लिए अपरिहार्य है, किंतु गृहस्थ को ऐसा उद्योग करना चाहिए जिसमें जीव घात कम से कम हो और उतना ही उद्योग करना चाहिए जितने से उसका निर्वाह बखूबी हो सकता हो, क्योंकि जो गृहस्थ थोड़े आरंभ और थोड़े परिग्रह में संतुष्ट रहता है वही अहिंसा अणुव्रत को पाल सकता है। जिसे रात-दिन की चिंता सताती रहती है। रात-दिन नए-नए कल-कारखाने खोलकर धन संग्रह करने में तत्पर रहता है और अपने कर्मचारियों और नौकरों को कम से कम वेतन देकर उनसे अधिक से अधिक काम कराता है, न्याय और अन्याय का कतई विचार नहीं करता, वह क्या खाक अहिंसा को पाल सकता है? अहिंसा संतोषी के लिए है। असंतोषी कभी अहिंसक हो नहीं सकता। गृहस्थ का यह कर्तव्य बताया है कि वह अपने आश्रितों और यथाशक्ति अनाश्रितों को भी पहले भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करे। जो संतोषी होगा वही ऐसा कर सकता है। असंतोषी तो पहले अपना पेट ही नहीं, किंतु अपने भंडार को भरने की चिंता करेगा, उसकी दृष्टि में तो आश्रितों की चिंता करना ही बेकार है। वह समझता है कि मैंने मोल-भाव करके उन्हें रखा है, हर महीने उन्हें उसके अनुसार वेतन दे दिया जाता है। उतने में उनका और उनके बाल-बच्चों का पेट भरे या न भरे। इतने में यदि वे काम नहीं करना चाहते हों तो न करें हम दूसरे आदमी रख लेंगे। बाज़ार में आदमियों की कमी नहीं है। ऐसे विचार वाला मनुष्य कोरा व्यापारी है। किंतु अहिंसक व्यापारी नहीं है। अहिंसक व्यापारी तो वह है जो अपनी ही तरह अपने आश्रितों की भी चिंता करता है और उनके ऊपर ज़ुल्म न करके उन्हें समय पर भर पेट भोजन देता है और उतना ही काम लेता है जितना वे कर सकते हों। यह बात अपने आश्रितों, मुनष्यों और पशुओं दोनों के संबंध में समान रूप से लागू होती है। जैन शास्त्रकारों ने अहिंसा अणुव्रत के पाँच दोष बताए हैं और उनसे बचते रहने की ताकीद की है। वे दोष इस प्रकार हैं–

1. बुरे इरादे से मनुष्य और पशुओं को रस्सी वगैरह से बाँधना। नौकर-चाकरों को तो गुस्से में आकर मालिक लोग बँधवा डालते हैं, किंतु पालतू पशु तो बिना बाँधे रह नहीं सकते। इसलिए उनको इस तरह से बाँधना चाहिए कि यदि कभी घर में आग लग जाए तो वे बंधन छुड़ाकर भाग सकें।

2. क्रूरतापूर्वक डंडे या कोड़े से पीटना।

3. निर्दय होकर हाथ, पैर, कान, नाक वगैरह का काट डालना किंतु यदि किसी पशु या मनुष्य के शरीर का कोई अवयव सड़ गया हो या शरीर में फोड़ा हो गया हो तो उसके काटने या चीरने में कोई दोष नहीं है।

4. गुस्से में आकर या लोभ से मनुष्य या पशु के ऊपर उसकी शक्ति से ज़्यादा बोझा लादना या शक्ति से अधिक काम लेना। श्रावक को चाहिए कि मनुष्य जितना बोझा स्वयं उठाकर ले जा सके और उतारकर नीचे रख सके उतना ही बोझा उससे उठवाये और रखवाये। इसी तरह चौपाया जितना बोझा लादकर अच्छी तरह चल सकें उतना ही उस पर लादें। उसमें भी समय का ध्यान अवश्य रखें। उचित समय तक ही उनसे काम लेना चाहिए। यदि श्रावक खेती करता हो तो हल और गाड़ी वगैरह में बैलों को समय से जोते और समय से खोल दे। शक्ति से अधिक काम लेना भी हिंसा ही है।

5. भूख-प्यास से पीड़ित प्राणी मर भी जाता है इसलिए खाना किसी का भी नहीं रोकना चाहिए। यदि किसी ने अपराध किया हो तो उसे डाँटने के लिए मुँह से यह चाहे कह दें कि आज तुझे भोजन नहीं मिलेगा, किंतु भोजन का समय आने पर तो नियत से दूसरों को खिलाकर ही स्वयं खाना चाहिए। हाँ, यदि कोई अपना आश्रित बीमार हो या उसने स्वयं ही उपवास किया हो तो बात दूसरी है। अतः श्रावक को इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि अहिंसाव्रत में दोष न आने पाए।

यदि अहिंसाव्रती श्रावक अपने आश्रितों के साथ ऐसा प्रेममय व्यवहार रखे तो उसे इससे आर्थिक दृष्टि से भी लाभ ही रहेगा, क्योंकि प्रेममय व्यवहार से कर्मचारीगण उसके काम को अपना समझकर दिल लगाकर काम करेंगे और उसके हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ गिनेंगे। इस तरह से अहिंसामूलक व्यवहार स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही दृष्टि से लाभदायक हैं। यदि जमींदार और मिल मालिक अपने आश्रित किसानों और मजदूरों के साथ ऐसा ही प्रेममय व्यवहार करते आते तो आज उन दिनों में जो खींचातानी चलती रहती है वह इतना कटु रूप धारण न करती और न जमींदारी और कल-कारखानों पर सरकारी नियंत्रण की बात ही पैदा होती।

रात्रिभोजन और जलगालन

अहिंसाव्रती श्रावक को रात में भोजन नहीं करना चाहिए और पानी भी कपड़े से छानकर काम में लेना चाहिए। रात में भोजन करने के दुष्परिणाम प्रायः समाचार-पत्रों में प्रकट होते रहते हैं। कहीं चाय की केटली में छिपकली के गिर जाने के कारण चाय पीने वाले मनुष्यों का मरण सुनने में आता है। कभी किसी दावत में पकते हुए बर्तन में साँप के रंध जाने के कारण मनुष्यों का मरण सुनने में आता है। प्रतिवर्ष इस तरह की दो-चार घटनाएँ घटती रहती हैं मगर फिर भी मनुष्यों की आँखें नहीं खुलतीं। भोजन हमेशा दिन के प्रकाश में ही देख-भाल कर करना चाहिए। रात्रि में तेज से तेज प्रकाश का प्रबंध होने पर भी इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता, जितना कि दिन में दिखाई देता है। दूसरे, सूर्य के प्रकाश में जो जीव जंतु इधर-उधर जा छिपते हैं, रात्रि

होते ही वे सब अपने-अपने खाद्य की खोज में निकल पड़ते हैं। कृत्रिम प्रकाश उन्हें रोक नहीं सकता। बल्कि अधिक तेज प्रकाश से पतंगे वगैरह टप-टप गिरते हैं। रात्रि को हलवाई की दुकान पर जाकर देखें। नीचे भट्टी पर दूध की कड़ाही चढ़ी होती है और ऊपर बिजली के बल्ब पर पतंगे मँडराते रहते हैं और कड़ाही में गिर-गिरकर पीने वालों के लिए मलाई का लच्छा बनाने का काम करते हैं। पास ही छिपकली उनके शिकार के लिए लपकती रहती है, जो कभी-कभी दूध में जा पड़ती है। एक बार इसी तरह के दूध को जमा दिया गया। सुबह को जिसने उस दूध की जमीं दही की लस्सी पी, उसी की हालत खराब हो गई। पीछे दही के कुंड में नीचे छिपकली मरी हुई पाई गई। यदि भोजन में जूँ खा ली जाए तो जलोदर रोग हो जाता है और मकड़ी खा ली जाए तो कुष्ठ रोग हो जाता है तथा वैद्यकशास्त्र के अनुसार भी भोजन करने के तीन घंटे के पश्चात् 'जब खाए हुए भोजन का परिपाक होने लगे तब शैय्या पर सोने का विधान है। जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं वे प्रायः भोजन करके लेट जाते हैं और विषयभोग में लग जाते हैं। इससे स्वास्थ्य को बड़ी हानि होती है। अतः नीरोगता की दृष्टि से भी दिन में ही भोजन करना हितकर है।

इसी तरह पानी भी हमेशा छानकर ही काम में लाना चाहिए। बिना छने पानी में यदि कीड़े हों तो पेट में जाकर अनेक संक्रामक रोग पैदा करते हैं। जब हैजा वगैरह फैला होता है तब पानी को पकाकर पीने की सलाह दी जाती है। वास्तव में पका हुआ पानी कभी भी विकार नहीं करता। जैन साधु पका पानी ही काम में लाते हैं। किंतु जैन गृहस्थों को पके पानी का तो नियम नहीं कराया जाता, किंतु छने पानी को नियम कराया जाता है। अनछने पानी से छना पानी साफ होता है और छने पानी से पका पानी शत्रु होता है। आजकल तो जगह-जगह नल लगे हुए हैं। किंतु नलों का पानी भी छानकर ही काम में लेना चाहिए, क्योंकि नलों के पानी में भी जंग, मिट्टी वगैरह मिली आती है, जो कपड़े पर जम जाती है। एक बार तो साँप का बच्चा कहीं से नल में आ गया था। अतः चाहे नल का पानी हो, कुएँ का या नदी का पानी हो या नदी का पानी हो सबको छानकर ही काम में लेना चाहिए। इससे हम अनेक रोगों और कष्टों से बच जाते हैं। एक बार समाचार-पत्र में मुरादाबाद जिले की एक घटना प्रकाशित हुई थी। एक लड़का रात को खाट के नीचे पानी रखकर सो गया। उसमें बिच्छु गिर गया। अचानक लड़के को रात में प्यास लगी और उसने बिना देखे ही गिलास उठाकर मुँह से लगा लिया। बिच्छू उसके मुँह में चला गया और हलक में चिपककर डंक मारने लगा। लड़का तिलमिला उठा। बहुत उपचार किया मगर बिच्छू छुड़ाया न जा सका। आखिर लड़के ने तड़प-तड़पकर जान दे दी। ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाओं

से शिक्षा लेनी चाहिए और रात्रिभोजन तथा बिना छने पानी से बचना चाहिए। धार्मिक विषयों में केवल धर्म की ही मर्यादा नहीं है, उनमें व्यक्ति और समाज का सामूहिक हित भी छिपा हुआ है।

सत्याणुव्रत

जो वस्तु जैसी देखी हो या सुनी हो, उसको वैसा ही न कहना लोक में असत्य कहलाता है। परंतु जैन धर्म में सत्य स्वयं कोई स्वतंत्र व्रत नहीं है, किंतु अहिंसाव्रत की रक्षा करना ही उसका लक्ष्य है। इसलिए जैन धर्म में तो वचन दूसरों को कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से बोला जाता है। वह सत्य होने पर भी असत्य कहलाता है। जैसे काने पुरुषों को काना कहना यद्यपि सत्य है, किंतु यदि उस मनुष्य के दिल को चोट पहुँचती है या यदि उसे चोट पहुँचाने के विचार से काना कहा जाता है तो वह असत्य ही गिना जाएगा। इसी दृष्टि से यदि सत्य बोलने से किसी के प्राणों पर संकट बन आता हो तो उस अवस्था में सत्य बोलना भी बुरा कहा जाएगा। किंतु ऐसे समय में असत्य बोलकर किसी के प्राणों की रक्षा करने से यदि उसके ज़ुल्म और अत्याचारों से दूसरे प्राणों पर संकट आने की संभावना हो तो उक्त नियम में अपवाद भी हो सकता है। क्योंकि यद्यपि व्यक्ति की जीवन की रक्षा इष्ट है, किंतु व्यक्ति के ज़ुल्म और अत्याचारों की रक्षा किसी भी अवस्था में इष्ट नहीं है और अत्याचारों के परिशोध के लिए व्यक्ति या व्यक्तियों की जान ले लेने की अपेक्षा उनका सुधार कर देना अति उत्तम है, किंतु यदि यह शक्य न हो तो अन्याय और अत्याचार को सहायता देना तो कभी भी उचित नहीं है। मगर व्यक्ति सुधर सकता है और इसलिए उसे अवसर अवश्य देना चाहिए। प्राणरक्षा के लिए असत्य बोलने के मूल में यही भाव है।

असत्य वचन के अनेक भेद हैं; जैसे–

1. मनुष्य के विषय में झूठ बोलना; शादी विवाह के अवसरों पर विरोधियों के द्वारा इस तरह से झूठ बोलने का प्रायः चलन है। विरोधी लोग विवाह न होने देने के लिए किसी की कन्या को दूषण लगा देते हैं, किसी के लड़के में बुराइयाँ बतला देते हैं।
2. चौपायों के विषय में झूठ बोलना; जैसे– थोड़ा दूध देने वाली गाय को बहुत दूध देने वाली बताना या बहुत दूध देने वाली गाय को थोड़ा दूध देने वाली बताना।
3. अचेतन वस्तुओं के विषय में झूठ बोलना; जैसे– दूसरे की ज़मीन को अपनी

बताना या टैक्स वगैरह से बचने के लिए अपनी ज़मीन को दूसरे की बताना।

4. घूस या लोभ से या ईर्ष्या से होने से किसी सच्ची घटना के विरुद्ध गवाही देना।

5. अपने पास रखी हुई किसी की धरोहर के संबंध में असत्य बोलना।

ये और इस तरह के अन्य झूठ वचन गृहस्थ को नहीं बोलना चाहिए। इनसे मनुष्य का विश्वास जाता रहता है और अनाचार को भी प्रोत्साहन मिलता है तथा जिनके विषय में झूठ बोला जाता है उन्हें दुःख पहुँचता है और वे जीवन के वैरी बन जाते हैं। जो लोग कारोबार, रोज़गार में अधिक झूठ बोलते हैं और सच्चा व्यवहार नहीं रखते, बाजार में भी उनकी साख जाती रहती है। लोग उन्हें झूठा समझने लगते हैं और उनसे लेन-देन तक बंद कर देते हैं।

बहुत-से लोग बोलने की आदत न होने पर भी कभी-कभी क्रोध में आकर झूठ बोलते जाते हैं और कुछ लोभ में फँसकर झूठ बोल जाते हैं, कुछ लोग पुलिस वगैरह के डर से झूठ बोल जाते हैं और कुछ लोग हँसी-मज़ाक में झूठ बोल जाते हैं। अतः सत्यवादी को क्रोध, लालच और भय से बचना चाहिए और हँसी-मज़ाक के समय एकदम सावधान रहना चाहिए; क्योंकि हँसी-मज़ाक में झूठ बोलने से लाभ तो कुछ भी नहीं होता, उल्टे झगड़ा टंटा बढ़ जाने का ही भय रहता है और आदत भी बिगड़ती है।

अचौर्याणुव्रत

जो मनुष्य चुराने के अभिप्राय से दूसरे की एक तृण मात्र वस्तु को भी लेता है या उठाकर दूसरे को दे देता है वह चोर है और जो इस तरह की चोरी का त्याग कर देता है वह श्रावक अचौर्याणुव्रती कहा जाता है। किंतु जो वस्तुएँ सर्वसाधारण के उपयोग के लिए हैं, जैसे पानी, मिट्टी वगैरह उनको वह बिना किसी के पूछे ले सकता है, इसी तरह जिस कुटुंबी के धन का उत्तराधिकारी उसे प्राप्त है, यदि वह मर जाए तो उसका धन भी ले सकता है। किंतु उसकी जीवित अवस्था में उसका धन छीन लेना चोरी ही कहा जाएगा। यदि कभी अपनी ही वस्तु में यह संदेह हो जाए कि यह मेरी है या नहीं? तो जब तक यह संदेह दूर न हो तब तक उस वस्तु को नहीं अपनाना चाहिए।

तथा चोरी को बुरा समझकर छोड़ देने वालों को नीचे लिखे कार्य भी नहीं करना चाहिए।

1. किसी चोर को स्वयं या दूसरे के द्वारा चोरी करने की प्रेरणा करना और कराना या उसकी प्रशंसा करना तथा कैंची वगैरह चोरी के औज़ारों को बेचना या चोरों को अपनी ओर से देना। जैसे, तुम बेकार क्यों बैठे हो? यदि तुम्हारे चुराए हुए माल

का कोई खरीददार नहीं है तो मैं उसे बेच दूँगा। इस प्रकार के वचनों से चोरों को चोरी में लगाना भी एक तरह से चोरी ही है।

2. चोरी का माल खरीदना। जो लोग ऐसा काम करते हैं वे समझते हैं कि हम तो व्यापार करते हैं, चोरी नहीं करते। किंतु चोरी का माल खरीदने वाला भी चोर ही समझा जाता है, तभी तो ऐसा लेन-देन छिपकर होता है।

3. बांट, तराजू, गज वगैरह कमती या बढ़ती रखना। कमती से तौलकर दूसरों को देना और बढ़ती से तोलकर स्वयं लेना।

4. किसी वस्तु में कम कीमत की समान वस्तु मिलाकर बेचना। जैसे, धान्य में मरा हुआ धान्य, घी में चर्बी, हींग में खर, तेल में मूत्र, खरे सोने-चाँदी में मिलावटी सोना-चाँदी आदि मिलाकर बेचना। व्यापारी समझता है कि ऐसा करके मैं चोरी नहीं कर रहा हूँ, यह तो व्यापार की एक कला है, किंतु उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह के व्यापार से वह दूसरों को ठगता है और ऐसा करना निंदनीय है।

5. राज्य में गड़बड़ उत्पन्न होने पर वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देना, जैसा युद्ध के ज़माने में किया गया था या एक राज्य के निवासी का छिपकर दूसरे राज्य में प्रवेश करना और यहाँ का माल वहाँ ले जाना या वहाँ का माल यहाँ लाना। इसी तरह बेटिकट यात्रा करना, चुंगी, महसूल, आयकर वगैरह छिपाना, इस तरह के कार्य चोरी ही समझे जाते हैं। अतः इनसे बचना चाहिए।

ऊपर जो बातें बताई गई हैं यद्यपि वे व्यापार को लेकर ही बताई गई हैं किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि चोरी के काम व्यापारी ही करते हैं और राजा या उसके कर्मचारी नहीं करते। यदि वे भी राज्य में चोरी करवाएँ, चोरी का माल खरीदें, चोरों से लांच घूस वसूल करें, राजा की ओर से वस्तुओं की खरीद होने पर कमती-बढ़ती दें या लें और अपने राज्य या देश के विरुद्ध काम करें तो वे चोरी के दोष के भागीदार कहे जाएँगे।

वास्तव में धन मनुष्य का प्राण है, अतः जो किसी का धन हरता है वह उसके प्राण हरता है। यह समझकर किसी को किसी की चोरी नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

कामवासना एक रोग है और उसका प्रतिकार भोग नहीं है। भोग से तो यह रोग और भी अधिक बढ़ता है। किंतु जिनके चित्त में यह बात नहीं जमती या जमने पर भी जो अपनी कामवासना को रोकने में असमर्थ हैं, उन्हें चाहिए कि वे अपनी विवाहिता पत्नी में ही संतोष रखें। इसका नाम ब्रह्मचर्याणुव्रत है। ब्रह्मचर्याणुव्रती अपनी पत्नी के

सिवा जितनी भी स्त्रियाँ हैं, चाहे वे विवाहिता हों, अविवाहिता हों अथवा वेश्या हों, उनसे रमण नहीं करता है और न दूसरों से ही ऐसा कराता है। ऐसा न करने का कारण इज्जत-आबरू का सवाल नहीं है, किंतु इस काम को वह अंतःकरण से पाप समझता है। जो केवल अपनी मान-प्रतिष्ठा के भय से ऐसे कार्यों से बचता है, वह ऐसे कार्यों को बुरा नहीं समझता और इसलिए जहाँ उसे अपनी मान-प्रतिष्ठा जाने का भय नहीं रहता, वहाँ ऐसे अनाचार कर बैठता है और कर बैठने पर कभी-कभी धोखे में मान-प्रतिष्ठा भी गँवा देता है। किंतु जो ऐसे कार्यों को पाप समझता है वह सदा उनसे बचा रहता है। इसलिए पाप समझकर ही उनसे बचे रहने में हित है। परस्त्रीगमन और वेश्यागमन की बुराइयाँ सब कोई जानते हैं, मगर फिर भी मनुष्य अपनी वासना पर काबू न रख सकने के कारण अनाचार कर बैठते हैं। अनेक युवक छोटे लड़कों के साथ कुत्सित काम कर बैठते हैं और अपने तथा दूसरों के जीवन को धूल में मिला देते हैं। कुछ हस्तमैथुन के द्वारा अपनी कामवासना को तृप्त करते हैं। ये काम तो परस्त्रीगमन और वेश्यागमन से भी अधिक निंदनीय है। आजकल की शिक्षा का लक्ष्य इस तरह के अनाचारों को रोकने की ओर कतई नहीं रहा है। शिक्षार्थी अपना जीवन कैसे बिताता है कोई शिक्षक या प्रबंधक इधर ध्यान नहीं देता। सब जगह शिक्षा की भी खानापूर्ति की जाने लगी है। जो ऐसे अनाचारों में पड़ जाते हैं वे अपने और दूसरों के आत्मा और शरीर दोनों का ही घात करते हैं और इसलिए वे किसी भी हिंसक से कम नहीं है। अतः जो अपनी आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति करना चाहते हैं और चाहते हैं कि समाज में इस तरह का अनाचार न फैले, उन्हें कामवासना का केंद्र केवल अपनी पत्नी को ही बनाना चाहिए और उसके सिवा संसार की समस्त स्त्रियों को माता, बहिन या पुत्री समझना चाहिए तथा छोटे लड़कों को अपना भाई समझकर उन्नत बनाना चाहिए।

पत्नी को कामवासना का केंद्र बनाने से कोई यह न समझे कि एक पत्नीव्रत या विवाह अनियंत्रित कामाचार का सर्टिफिकेट है। वह तो कामरोग को शांत करने की औषधि है। स्तंभक और उत्तेजक औषधियों के द्वारा रोग को बढ़ाकर स्त्री रूपी औषधि का सेवन करना तो औषधि के साथ अत्याचार करना है। ऐसे अत्याचार के फलस्वरूप ही आजकल विवाहिता लड़के और लड़कियाँ क्षय रोग से ग्रस्त होकर अकाल में ही काल के गाल में चले जाते हैं। अतः अनियंत्रित कामाचार भी आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्य को चौपट कर देता है, इसलिए उससे भी बचना ही चाहिए।

प्रत्येक सद्‌गृहस्थ को नीचे लिखी बातों से बचने की सलाह दी गई है–

1. दुराचारिणी स्त्रियों से बचते रहो।
2. मुँह से अश्लील बातें मत करो।

3. शक्ति से अधिक काम सेवन मत करो।

4. अप्राकृतिक मैथुन से बचो।

5. दूसरों के वैवाहिक संबंधों के झगड़ों में मत पड़ो।

जो बातें पुरुषों के लिए कही गई हैं वे ही स्त्रियों के लिए भी हैं। स्त्रियों को भी परपुरुष और अधिक कामाचार से बचना चाहिए और अपने को संयत रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

परिग्रह परिमाणव्रत

स्त्री, पुत्र, घर, सोना आदि वस्तुओं में 'ये मेरी हैं' इस तरह का जो ममत्व रहता है, उस ममत्व परिणाम को परिग्रह कहते हैं और ममत्व को घटाकर उन वस्तुओं के घटाने को परिग्रह परिमाणव्रत कहते हैं। लोक में रुपया-पैसा, ज़मीन-जायदाद ही परिग्रह कहलाता है। किंतु वास्तव में तो मनुष्य का ममत्व भाव परिग्रह है। इन बाहरी चीज़ों को तो उस ममत्व का कारण होने से परिग्रह कहा जाता है। यदि बाहरी चीज़ों को ही परिग्रह माना जाएगा तो जिन असंख्य लोगों के पास कुछ भी नहीं, किंतु उनके चित्त में बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ हैं वे सब अपरिग्रही कहलाएँगे। किंतु बात ऐसी नहीं है। सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके पास कुछ भी नहीं है और न जिसके चित्त में किसी चीज की चाह ही है; क्योंकि चाह होने पर मनुष्य परिग्रह का संचय किए बिना नहीं रह सकता और संचय की वृत्ति आने पर न्याय-अन्याय और युक्त-अयुक्त का विचार नहीं रहता। फिर तो मनुष्य धन का कीड़ा बन जाता है। वह धन का स्वामी न रह उसका दास हो जाता है। द्रव्य दान करके भी उससे उसका ममत्व नहीं छूटता। उसे वह अपने पास ही रखना चाहता है। उसे भय रहता है कि उसके दिए हुए द्रव्य को कोई हड़प न जाए। वह चाहता है कि उससे उसकी खूब कीर्ति हो, लोग उनका गुणगान करें, उसके दोषों पर पर्दा डाल दिया जाए, अखबारों में उसकी खूब बड़ाई छापी जाए। यह सब ममत्व भाव का ही फल है। उससे छुटकारा मिले बिना परिग्रह से छुटकारा नहीं मिल सकता। देखा जाता है कि जब तक हम किसी वस्तु को अपनी नहीं समझते तब तक उसके भले-बुरे से न हमें प्रसन्नता होती है और न रंज। किंतु ज्योंहि किसी वस्तु में 'यह हमारी है' ऐसी भावना हो जाती है त्योंहि मनुष्य उसकी चिंता में पड़ जाता है। इसलिए ममत्व ही परिग्रह है। उसको कम किए बिना परिग्रह रूपी पाप से छुटकारा नहीं मिल सकता।

जैसे रुपया वगैरह बाह्य परिग्रह है वैसे ही काम, क्रोध, मद, मोह आदि भाव अभ्यंतर परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रह के समान ही इन अंतरंग परिग्रहों को भी घटाना चाहिए। परिग्रह को घटाने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को

ध्यान में रखकर रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद वगैरह सभी वस्तुओं की एक मर्यादा नियत कर लें कि इससे ज़्यादा मैं अपने पास नहीं रखूँगा। ऐसा करने से उसके पास अनावश्यक संग्रह भी नहीं हो सकेगा और आवश्यकता के अनुसार द्रव्य उसके पास होने से स्वयं उसे भी कोई कष्ट न होगा। साथ ही साथ बहुत-सी व्यर्थ की हाय-हाय से भी बच जाएगा और अपना जीवन सुख और संतोष के साथ व्यतीत कर सकेगा। आज दुनिया में जो आर्थिक विषमता फैली हुई है उसका कारण मनुष्य की अनावश्यक संचयवृत्ति ही है। यदि सभी मनुष्य अपनी-अपनी आवश्कता के अनुसार ही वस्तुओं का संचय करें और अनावश्यक संग्रह को समाज के उन दूसरे व्यक्तियों को सौंप दें जिनको उनकी आवश्यकता है तो आज दुनिया में जितनी अशांति मची हुई है उतनी न रहे और संपत्ति के बँटवारे का जो प्रश्न आज दुनिया के सामने उपस्थित है, वह बिना किसी कानून के स्वयं ही बहुत कुछ अंशों में हल हो जाए।

दुनिया की अनियंत्रित इच्छा को लक्ष्य करके जैनाचार्य श्री गुणभद्र स्वामी ने संसार के प्राणियों को संबोधन करते हुए कहा है–

'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥36॥ –आत्मानु.

'प्रत्येक प्राणी में आशा का इतना बड़ा गढ़ा है जिसमें यह विश्व अणु के बराबर है। ऐसी स्थिति में यदि इस विश्व का बँटवारा किया जाए तो किसके हिस्से में कितना आएगा? अतः संसार के तृष्णालु प्राणियो! तुम्हारी विषयों की चाह व्यर्थ है।'

अतः प्रत्येक नागरिक को विश्व की संपत्ति और उसकी चाह में तड़पने वाले असंख्य प्राणियों का विचार करके धन की तृष्णा से विरत ही रहना चाहिए, क्योंकि न्याय की कमाई से मनुष्य जीवन निर्वाह कर सकता है किंतु धन का अटूट भंडार एकत्र नहीं कर सकता। अटूट भंडार तो पाप की कमाई से ही भरता है, जैसा कि उन्हीं गुण भद्राचार्य ने कहा है–

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः॥45॥ –आत्मानु.

'सज्जनों की भी संपत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धन से नहीं बढ़ती। क्या कभी नदियों को स्वच्छ जल से परिपूर्ण देखा गया है।'

नदियाँ जब भी भरती हैं तो वर्षा के गंदे पानी से भरती हैं। उसी तरह धन की वृद्धि भी न्याय की कमाई से नहीं होती। अतः आवश्यक धन परिमाण करके मनुष्य को अन्याय की कमाई से बचना चाहिए। इससे वह स्वयं सुखी रहेगा और दूसरे लोग भी उसके दुःख के कारण नहीं बनेंगे।

इस व्रत के भी पाँच दोष हैं, जिनसे बचना चाहिए–

1. लोभ में आकर मनुष्य और पशुओं से शक्ति से अधिक काम लेना चाहिए।

2. धान्य वगैरह आगे खूब मुनाफा देगा इस लोभ से अधिक संग्रह करना, जैसा युद्ध काल में किया गया था।

3. इस तरह के धान्यादि के संग्रह को थोड़े लाभ से बेच देने पर या इनका संग्रह ही न करने पर या दूसरों को धान्यादि संग्रह से अधिक लाभ होता हुआ देखकर खेद खिन्न होना।

4. पर्याप्त लाभ उठाने पर भी उससे अधिक लाभ की इच्छा करना।

5. अधिक लाभ होता हुआ देखकर धनादिक की हुई मर्यादा को बढ़ा देना।

श्रावक (नागरिक) के भेद

श्रावक के तीन भेद हैं– पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जो एक देश से हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म को स्वीकार करता है, उसे पाक्षिक श्रावक कहते हैं। जो निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं और जो देशचारित्र को पूर्ण करके अपनी आत्मा की साधना में लीन हो जाता है, उसे साधक श्रावक कहते हैं। अर्थात् प्रारंभिक दशा का नाम पाक्षिक है, मध्य दशा का नाम नैष्ठिक है और पूर्ण दशा का नाम साधक है। इस तरह अवस्था भेद से श्रावक के तीन भेद किए गए हैं। इसका विशेष परिचय नीचे दिया गया है।

पाक्षिक श्रावक

पाक्षिक श्रावक पहले कहे गए आठ मूल गुणों का पालन करता है। उत्तर काल में आठ मूल गुणों में पाँच अणुव्रतों के स्थान में पाँच क्षीरिफलों को लिया गया है। जिन वृक्षों में से दूध निकलता है, उन्हें क्षीरि वृक्ष व उदुंबर कहते हैं। उदुंबर के फलों में जंतु पाए जाते हैं। इसी से अमर कोष से उदुंबर एक नाम जंतु फल भी है और एक नाम हेमदुग्धक है, क्योंकि उसमें से निकलने वाले दूध का रंग पीलेपन को लिए हुए होता है, पीपल, वट, पिलखन, गूलर और काक उदुंबरी इन पाँच प्रकार के वृक्षों के फलों को नहीं खाना चाहिए, क्योंकि इनमें साक्षात् जंतु पाए जाते हैं। पेड़ से गिरते ही गूलर फूट जाने पर उनमें से उड़ते हुए जंतुओं को हमने स्वयं देखा है। अतः ऐसे फलों को नहीं खाना चाहिए तथा मद्य, मांस और मधु से बचना चाहिए। प्रत्येक पाक्षिक को इतना तो कम से कम करना ही चाहिए। लिखा है–

पिप्पलोदुम्बरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः॥13॥ –सागारधर्मा.

'पीपल, गूलर, पिलखन, वट और काक उदुंबरी के हरे फलों को जो खाता है वह त्रस अर्थात् चलते-फिरते हुए जंतुओं का घात करता है। क्योंकि उन फलों के अंदर

ऐसे जंतु पाए जाते हैं और जो उन्हें सुखाकर खाता है, वह उनमें अति आसक्ति होने के कारण अपनी आत्मा का घात करता है।'

अतः प्राथमिक श्रावक को इस तरह के फल नहीं खाना चाहिए तथा रात को भोजन नहीं करना चाहिए और सदा पानी को छानकर काम में लाना चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के छोड़ने का यथाशक्ति अभ्यास करना चाहिए तथा जुआ, वेश्या, शिकार, परस्त्री वगैरह व्यसनों से भी बचते रहने का ध्यान रखना चाहिए। प्रतिदिन जिन मंदिरों में जाकर अर्हंतदेव की पूजा करनी चाहिए, गुरुओं की सेवा करनी चाहिए, सुपात्रों को दान देना चाहिए तथा अन्य भी जो धार्मिक कृत्य हैं तथा लोक में ख्याति कराने वाले कार्य हैं, उन्हें करते रहना चाहिए; जैसे– दीन और अनाथों के लिए भोजनशाला और औषधालयों की व्यवस्था करनी चाहिए, अपने पुत्र और पुत्री को योग्य बनाकर सुपात्र के साथ उनका संबंध करना चाहिए आदि।

नैष्ठिक श्रावक

नैष्ठिक श्रावक के 11 दर्जे हैं। ये दर्जे क्रम से रखे गए हैं कि उन पर धीरे-धीरे चढ़कर के कोई भी श्रावक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इन 11 दर्जों का, जिन्हें जैन सिद्धांत में 11 प्रतिमाएँ कहते हैं, संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

1. दार्शनिक– पाक्षिक श्रावक का जो आचार पहले बताया है, उसके पालन करने से जिसका श्रद्धान-दृढ़ और विशुद्ध हो गया है, संसार के कारण भागों से जो विरक्त हो चला है अर्थात् इष्ट विषयों का सेवन करते हुए भी उनमें जिसकी आसक्ति नहीं है, जिसका चित्त सदा पाँच परमेष्ठियों के चरणों में लीन रहता है, जो आठ मूल गुणों में कोई भी दोष नहीं लगाता और आगे के गुणों को प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है तथा भरण-पोषण के लिए न्याय्य तरीकों से आजीविका करता है, उस श्रावक को दार्शनिक कहते हैं। दार्शनिक श्रावक मद्य, मांस वगैरह का न केवल सेवन नहीं करता, किंतु न उनका व्यापार वगैरह स्वयं करता है न दूसरों से कराता है और न ऐसे कामों में किसी को अपनी सम्मति ही देता। जो स्त्री-पुरुष शराब वगैरह पीते हैं उनके साथ खान-पान आदि व्यवहार भी नहीं रखता, क्योंकि ऐसा करने से मद्य वगैरह के सेवन का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। चमड़े के पात्र में रखा हुआ घी, तेल या पानी काम में नहीं लाता। जिस भोजन पर फुई आ जाती है या स्वाद बिगड़ जाता है उसे नहीं खाता। जिस फल या साग-सब्ज़ी से वह परिचित नहीं है उसे नहीं खाता। सूर्योदय होने के एक मुहूर्त बाद से सूर्यास्त होने के एक मुहूर्त पहले तक ही अपना खान-पान करता है। पानी को शुद्ध साफ वस्त्र से छानकर ही

काम में लाता है। जुआ नहीं खेलता और न सट्टेबाजी ही करता है। वेश्या का सेवन तो दूर रहा, उससे किसी भी तरह का संबंध नहीं रखता, न वेश्यावाटों की सैर ही करता है। मुकदमा वगैरह लड़ाकर किसी का द्रव्य या जायदाद हड़प लेने की कोशिश नहीं करता। शिकार खेलना तो दूर रहा, चित्र वगैरह में अंकित जीव-जंतुओं का भी छेदन-भेदन नहीं करता। परस्त्री से रमण करना तो दूर रहा, कन्या के माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी कन्या से विवाह भी नहीं करता। जिस काम को बुरा समझकर स्वयं छोड़ देता है, दूसरों से भी उसे नहीं कराता। संकल्पी हिंसा का त्याग कर देता है और उतना ही आरंभ-कृषि वगैरह करता है जितना स्वयं कर सकता है। क्योंकि दूसरों से कराने से व्यवहार में वह अहिंसकपना नहीं रह सकता, जिसका उसने व्रत लिया है। अपनी पत्नी से भी उतना ही भोग करता है, जितना करना शरीर और मन के संताप की शांति के लिए आवयश्क है तथा उसका उद्देश्य केवल संतानोत्पादन ही होता है। संतान होने पर उसे योग्य और सदाचारी बनाने का पूरा प्रयत्न करता है, क्योंकि योग्य संतान के होने पर अपनी वृद्धावस्था में उस पर घरबार का भार सौंपकर गृहस्थ आत्मोन्नति के मार्ग में लग सकता है। ये सब दार्शनिक श्रावक के कर्तव्य हैं।

2. व्रतिक– जिसके सम्यग्दर्शन और पहले कहे गए आठ मूलगुण परिपूर्ण होते हैं तथा जो मायाचार से या आगामी काल में विषय सुख के और भी अधिक प्राप्त होने की अभिलाषा से व्रतों का पालन नहीं करता, बल्कि राग और द्वेष पर विजय पाकर साम्यग्भाव प्राप्त करने की इच्छा से व्रतों का पालन करता है, उसे व्रतिक श्रावक कहते हैं। व्रतिक श्रावक पहले बतलाए पाँच अणुव्रतों का निर्दोष पालन करता है और उन्हें बढ़ाने के लिए नीचे लिखे सात शीलों का भी पालन करता है। वे सात शील इस प्रकार हैं–

1. दिग्व्रत, 2. देशव्रत, 3. अनर्थदण्डविरति, 4. सामायिक, 5. प्रोषधोपवास, 6. परिभोग-उपभोग परिमाण और 7. छह अतिथि संविधान।

1. उसे जीवन-भर के लिए अपने आने-जाने और लेन-देन करने की दिशाओं की मर्यादा कर लेनी चाहिए कि इस स्थान तक ही मैं अपना संबंध रखूँगा, उसके बाहर से खूब लाभ होने पर भी कोई प्रयत्न नहीं करूँगा। ऐसा नियम कर लेने से मनुष्य की तृष्णा का क्षेत्र सीमित हो जाता है और विदेशी उद्योग का नियमन होने से देश की संपत्ति का विदेश जाना भी रुक जाता है।

2. जीवन-भर के लिए ली हुई दिशा मर्यादा के भीतर भी अपनी आवश्यकता और यातायात को दृष्टि में रखकर कुछ समय के लिए भी क्षेत्र की मर्यादा लेते रहना

चाहिए कि मैं इतने समय तक अमुक-अमुक स्थान तक ही अपना आना-जाना रखूँगा व लेन-देन आदि करूँगा।

3. बिना प्रयोजन के दूसरे प्राणियों को पीड़ा देने वाला कोई भी काम नहीं करना चाहिए। ऐसे काम संक्षेप में पाँच भागों में बाँटे गए हैं– पापोपदेश, हिंसादान, दुश्रुति, अपध्यान और प्रमादचार्य। लोगों की हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार वगैरह से आजीविका करने का उपदेश नहीं देना चाहिए। जैसे, व्याध को यह नहीं बतलाना चाहिए कि अमुक स्थान पर मृग वगैरह बसते हैं। ठग और चोर को यह नहीं बतलाना चाहिए कि अमुक जगह ठगई और चोरी का अच्छा अवसर है तथा जहाँ चार जने बैठकर गपशप करते हों वहाँ भी इस तरह की चर्चा नहीं चलाना चाहिए।

1. जिन चीजों से दूसरों की जान जा सकती है, ऐसे विष, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसा के साधन दूसरों को नहीं देना चाहिए।

2. जिन पुस्तकों या शास्त्रों के सुनने या पढ़ने से मन कलुषित हो, जिनके सुनते ही चित्त में कामवासना जाग्रत हो, दूसरों को मार डालने के भाव पैदा हो, घमंड और अहंकार का भाव हृदय में उत्पन्न हो, ऐसे शास्त्रों और पुस्तकों को न स्वयं सुनना चाहिए और न दूसरों को सुनाना चाहिए।

3. अमुक का मरण हो जाए, अमुक को जेलखाना हो जाए, अमुक के घर चोरी हो जाए, अमुक की स्त्री हर ली जाए, अमुक की जमीन-जायदाद बिक जाए, इत्यादि विचार मन में नहीं लाना चाहिए।

4. बिना जरूरत के पृथ्वी का खोदना, पानी का बहाना, आग का जलाना, हवा का करना तथा वनस्पति का काटना आदि काम नहीं करना चाहिए।

5. इन कामों के करने से अपना कुछ लाभ नहीं होता, बल्कि उल्टी हानि ही होती है और दूसरों को व्यर्थ में कष्ट उठाना पड़ता है। अश्लील चर्चाएँ करना, शरीर से कुत्सित चेष्टाएँ करना, व्यर्थ की बकवाद करना, बिना सोचे-समझे ऐसे काम कर डालना जिससे अपना कोई लाभ न हो और दूसरों को व्यर्थ में कष्ट उठाना पड़े तथा भोग और उपभोग के साधनों की आवश्यकता से अधिक संचय कर लेना, ये सब काम एक सद्‌गृहस्थ को कभी भी नहीं करने चाहिए।

4. प्रातः और संध्या को एकांत स्थान में कुछ समय के लिए हिंसा वगैरह समस्त पापों से विरत होकर आत्मध्यान करने का अभ्यास करना चाहिए। उसमें मन, वचन और काय को स्थिर करके आत्मा और उसके अंतिम लाभ मोक्ष के बारे में चिंतन करना

चाहिए। यद्यपि मन, वचन और काय को एकाग्र करना बड़ा कठिन है किंतु अभ्यास से सब साध्य है। प्रारंभ में कुछ कष्ट अनुभव होता है, शरीर निश्चल रहना नहीं चाहता, मन विद्रोह करता है और मंत्रपाठ को जल्दी-जल्दी बोलकर समाप्त कर देना चाहता है, फिर भी इनको रोकना चाहिए। जब ये सध जाते हैं तो मनुष्य को बड़ी आध्यात्मिक शांति मिलती है।

5. प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशी के दिन मन, वचन और काय की स्थिरता को दृढ़ करने के लिए चारों प्रकार के आहार को त्यागकर उपवास करना चाहिए। उस दिन कुछ न खाना चाहिए और न कुछ पीना चाहिए। किंतु जो ऐसा करने में असमर्थ हों वे केवल जल ले सकते हैं और जो केवल जल पर भी नहीं रह सकते हों, उन्हें केवल एक बार हल्का सात्विक भोजन करना चाहिए। जो व्यक्ति उपवास करना चाहें, उन्हें चाहिए कि वे अष्टमी और चतुर्दशी के पहले दोपहर का भोजन करके उपवास की प्रतिज्ञा ले लें और घर-गृहस्थी के काम-धाम से अवकाश लेकर एकांत स्थान में चले जाएँ और अपना समय आत्मचिंतन और स्वाध्याय में बिताएँ। संध्या को दैनिक कृत्य से निबटकर पुनः अपने उसी काम में लग जाएँ। रात्रि को विश्राम करें और दिन को इसी तरह बिताएँ। इस तरह अष्टमी और चतुर्दशी का दिन तथा रात बिताकर दूसरे दिन दोपहर को अभ्यागत अतिथियों को भोजन कराकर एक बार अनासक्त होकर भोजन करें। उपवास से मतलब केवल पेट के उपवास से नहीं है, किंतु पाँचों इंद्रियों के उपवास से है। आहार वगैरह का त्याग करके भी यदि मनुष्य का चित्त पाँचों इंद्रियों के विषय में रमता है, अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजन, सुंदर कामिनी, सुगंधित द्रव्य और सुंदर संगीत की कल्पना में मस्त रहता है तो वह उपवास निष्फल है।

6. भोग और उपभोग के साधनों का कुछ समय या यावज्जीवन के लिए परिमाण कर लेना चाहिए कि मैं अमुक वस्तु इतने समय तक इतने परिमाण में भोगूँगा। ऐसा परिमाण करके उससे अधिक वस्तु की चाह नहीं करनी चाहिए। जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सकती है, उसे भोग कहते हैं; जैसे– फूलों की माला या भोजन। और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है, उसे उपभोग कहते हैं; जैसे– वस्त्र। इन दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का नियम कर लेना चाहिए। नियम कर लेने से एक तो गृहस्थी की चित्तवृत्ति का नियमन होता है, दूसरे इससे वस्तुओं का अनावश्यक संचय और अनावश्यक उपयोग रुक जाता है और वस्तुओं की यदि कमी हो तो दूसरों को भी उनकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

जो मनुष्य भोग और उपभोग के साधनों को कम करके अपनी आवश्यकताओं को घटा लेता है, आवश्कताओं के घट जाने से उस मनुष्य का खर्च भी कम हो जाता है और खर्च कम हो जाने से उसकी धन की आवश्यकता भी कम हो जाती है तथा धन की आवश्यकता कम हो जाने से उसे न्याय और अन्याय का विचार किए बिना धन कमाने की तृष्णा नहीं सताती। इसलिए लिखा है–

भोगोपभोगकृशनात् कृशीकृतधनस्पृहः।

धनाय कोट्टपालादि क्रियाः क्रूराः करोति कः॥–सागारधर्मा.

'भोग और उपभोग को कम कर देने से जिसकी धन की तृष्णा कम हो गई है, ऐसा कौन आदमी धन के लिए पुलिस वगैरह की निर्दयी नौकरी करेगा।'

अतः भोगोपभोग का परिमाण कर लेने वाला आजीविका के लिए ऐसा काम नहीं करता है, जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचता हो। उसका खान-पान भी बहुत सात्विक, सादा और शुद्ध होता है। मद्य, मांस और मधु तो वह खाता ही नहीं है, किंतु भोजन भी ऐसा करता है जो मादक और देर से हज़म हो सकने वाला न हो। उसके भोजन में शरीरपोषक तत्व रहते हैं किंतु स्वास्थ्य को चौपट कर डालने वाले और इंद्रियों की विषय-तृष्णा को भड़काने वाले उत्तेजक पदार्थ नहीं होते, वह प्रकृति-विरुद्ध और संयोग-विरुद्ध आहार से सदा बचता है। साग-सब्जी खाता है किंतु शोध बीनकर। जो चीजें जमीन के अंदर उगती हैं; जैसे– आलू, गाजर, मूली वगैरह उन्हें नहीं खाता। जैन धर्म की दृष्टि से इस प्रकार की सब्ज़ियों में बहुत जीव वास करते हैं तथा लौकिक दृष्टि से भी जो साग-सब्ज़ी सूर्य के प्रकाश में नहीं फूलती-फलती वह सब तामसिक होती हैं। बहुत-से रोगों में डॉक्टर[1] तक ऐसे पदार्थों के खाने का निषेध कर देते हैं। वर्षाकाल में पत्ते की शाक और बिना दला हुआ मूँग, उड़द वगैरह धान्य नहीं खाता हैं, क्योंकि उस समय उनमें प्रायः कीड़े वगैरह पड़ जाते हैं।

7. प्रतिदिन भोजन करने से पहले अपने द्वार पर खड़े होकर संसार से विरक्त सच्चे साधुओं की प्रतीक्षा करनी चाहिए और यदि कोई ऐसे साधु महात्मा उस ओर से

1. इन पंक्तियों के लेखक को इस बात का स्वयं अनुभव हो चुका है। एक बार खाँसी से पीड़ित होने पर मुरादाबाद के स्व० डॉ० बनर्जी ने चिकित्सा प्रारंभ करने से पूर्व जमीकंद खाना छोड़ देने का आदेश दिया। जब उनसे कहा गया कि इनका खाना तो हमारे धर्म में ही वर्जित है तो वे बड़े प्रभावित हुए।

निकलें, उन्हें आदर के साथ रोककर अपने निमित्त बनाये हुए भोजन में से भक्तिपूर्वक भोजन कराना चाहिए। पीछे स्वयं भोजन करना चाहिए।

इस तरह श्रावक के सात शीलव्रत कहलाते हैं। इनमें से पहले के तीन गुणव्रत कहे जाते हैं, क्योंकि उनके पालन करने से पहले कहे गए पाँच अणुव्रतों में विशेषता आती है और पीछे के चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं क्योंकि उनके करने से मुनिधर्म ग्रहण करने की शिक्षा मिलती है। शिक्षा अर्थात् अभ्यास के लिए जो व्रत किए जाते हैं वे शिक्षाव्रत कहे जाते हैं।

3. सामायिकी– व्रत प्रतिमा का अभ्यासी जो श्रावक तीनों संध्याओं में सामायिक करता है और कठिन से कठिन कष्ट आ पड़ने पर भी अपने ध्यान से विचलित नहीं होता–मन, वचन और काय की एकाग्रता को स्थिर रखता है, उसे सामायिकी या सामायिक प्रतिमा वाला श्रावक कहते हैं। यद्यपि श्रावक के लिए ऐसी एकाग्रता अति कष्टसाध्य है किंतु अभ्यास से सब संभव होता है। इसका उद्देश्य आत्मा की शक्ति को केंद्रीभूत करना है। यद्यपि पहले व्रतों में भी सामायिक करना बतलाया है किंतु वह अभ्यास रूप है और यह व्रत रूप है।

4. प्रोषधोपवासी– पहले प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करने की विधि बतलाई है, वही यहाँ भी जानना चाहिए अंतर केवल इतना ही है कि वहाँ अभ्यास रूप से उपवास का विधान है और यहाँ व्रत रूप से।

5. सचित्तविरत– पहले की चार प्रतिमाओं का पालन करने वाला जो दयालु श्रावक हरे साग-सब्ज़ी, फल-फूल वगैरह को नहीं खाता है, उसे सचित्त विरत कहते हैं। असल में त्याग का उद्देश्य संयम का पालन करना है और संयम के दो रूप हैं– एक प्राणि संयम और दूसरा इंद्रिय संयम। प्राणियों की रक्षा करने को प्राणि संयम कहते हैं और इंद्रियों को वश में करने को इंद्रिय संयम कहते हैं। उत्तम तो यही है कि प्रत्येक त्याग में दोनों संयमों का पालन हो, किंतु यदि दोनों का पालन न हो सकता हो तो एक का पालन होना भी अच्छा ही है। जैन सिद्धांत में हरी वनस्पति की दो दशाएँ बतलाई हैं एक सप्रतिष्ठित और दूसरी अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठित दशा में प्रत्येक वनस्पति में अगणित जीवों का वास रहता है और इसलिए उसे अनंतकाय कहते हैं और अप्रतिष्ठित दशा में उसमें एक ही जीव का वास रहता है। अतः जब तक कोई वनस्पति सप्रतिष्ठित या अनंतकाय है तब तक उसका भक्षण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके भक्षण करने से अनंत जीवों का घात होता है। किंतु जब वहीं वनस्पति अप्रतिष्ठित हो जाती है–अर्थात् उसमें अनंतकाय जीवों का वास नहीं रहता तब उसे अचित्त करके खाना चाहिए। सचित्त को अचित्त करने के कई प्रकार हैं–उसे सुखा लिया जाए ऐसा करने से सचित्त वनस्पति अचित्त हो जाती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि सचित्त को अचित्त

करके खाने से क्या लाभ है? जीवरक्षा तो उसमें भी नहीं होती। इसका समाधान यह है कि सचित्त को अचित्त करके खाने से यद्यपि जीवरक्षा नहीं होती और इसलिए प्राणि संयम नहीं पलता तथापि इंद्रिय संयम पलता है क्योंकि सचित्त वनस्पति पौष्टिक अतएव मादक होती है। उसे पका लेने या सुखा लेने या चाकू से काटने से उसका पोषकतत्व कम हो जाता है और इसलिए उसकी मादकता चली जाती है। अतएव खाने के बाद वह इंद्रियों में विकार पैदा नहीं करती किंतु शरीर की स्थिति को बनाए रखती है। धार्मिक दृष्टि से जो भोजन शरीर की स्थिति को बनाए रखकर इंद्रियों में विकार पैदा नहीं करता वही भोजन श्रेष्ठ समझा जाता है। इसी दृष्टि से पाँचवें दर्जे का जैन श्रावक लोलुपता या इंद्रिय मदकारक सचित्त वनस्पति के भक्षण का त्याग करता है।

जैन शास्त्रों में सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पति की अनेक पहचानें बतलाई हैं; जैसे– जो वनस्पति चाहे वह जड़ हो, छाल हो, कपाल हो, शाखा हो, पत्ता हो, फूल या फल हो– तोड़ने पर झट से समान रूप से दो टुकड़ों में टूट जाती है यह सप्रतिष्ठित है और जो तोड़ो कहीं से टूटती है कहीं से वह अप्रतिष्ठित है। जिस वनस्पति को छीलने पर मोटा छिलका उतरता है वह सप्रतिष्ठित है और जिसका छिलका पतला उतरता है वह अप्रतिष्ठित है। जिस वनस्पति के ऊपर की धारियाँ या शाखाएँ स्पष्ट रूप से नहीं निकली हैं या अंदर फाँके अलग-अलग नहीं हुई हैं वह सप्रतिष्ठित है जिसमें फाँकें अलग-अलग पड़ गई हैं या शिराएँ और धारियाँ स्पष्ट उभर आई हैं उसे अप्रतिष्ठित कहते हैं।

6. दिवामैथुनविरत– पहले पाँच प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब दिन में मन, वचन और काय से स्त्री मात्र के सेवन करने का त्याग कर देता है तब वह दिवामैथुनविरत कहलाता है। पहले पाँचवीं प्रतिमा में इंद्रिय मदकारक वस्तुओं के खान-पान का त्याग करके इंद्रियों को संयत करने की चेष्टा की गई है और छठी प्रतिमा में दिन में कामभोग का त्याग कराकर मनुष्य की कामभोग की लालसा को रात्रि के ही लिए सीमित कर दिया गया है। कहा जा सकता है कि दिन में मैथुन तो बहुत ही कम लोग करते हैं, अतः इसका त्याग कराने में क्या विशेषता है? किंतु मैथुन का मतलब केवल कायिक भोग से ही नहीं है, परंतु उस तरह की बातें करना और मन में उस तरह के विचारों का होना भी मैथुन में ही सम्मिलित है तथा दिन में मनुष्य बहुत-से स्त्री-पुरुषों की दृष्टि के संपर्क में आता है जिन्हें देखकर उसकी कामवासना जाग्रत होने की संभावना रहती है। अतः दिन में इस तरह की प्रवृत्तियों से बचाकर मनुष्य को पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर ले जाना ही इसका लक्ष्य है।

7. ब्रह्मचारी– ऊपर कहे गए संयम के अभ्यास से अपने मन को वश में करके जो मन, वचन और काय से कभी किसी स्त्री का सेवन नहीं करता, उसे

ब्रह्मचारी कहते हैं। पहले छठे दर्जे में दिन में मैथुन का त्याग कराया है, सातवें दर्जे में रात्रि में भी सदा के लिए मैथुन का त्याग करके ब्रह्मचारी बन जाता है। ब्रह्मचर्य के लाभ बतलाना सूर्य को दीप दिखाना है। आत्मिक शक्ति को केंद्रित करने के लिए ब्रह्मचर्य एक अपूर्व वस्तु है। किंतु होना चाहिए वह ऐच्छिक। बिना इच्छा के जबरदस्ती ब्रह्मचर्य पालने से न शारीरिक लाभ होता है और न मानसिक, क्योंकि ब्रह्मचर्य का मतलब केवल शारीरिक कामभोग से निवृत्ति ही नहीं है, बल्कि पाँचों इंद्रियों के विषयों से निवृत्ति का नाम ही ब्रह्मचर्य है। यदि केवल कामेंद्रिय का ही नियंत्रण किया और अन्य इंद्रियों को काबू में न रखा गया तो कामेंद्रिय का नियंत्रण भी टूट जाएगा।

8. आरंभविरत— पहले की सात प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब जीविका के साधन कृषि, नौकरी या व्यापार वगैरह के करने और कराने का त्याग कर देता है, तो वह आरंभविरत कहा जाता है। ब्रह्मचर्य धारण करके अपने कौटुबिंक जीवन को वह पहले ही मर्यादित कर देता है और जब देखता है कि अब मेरे लड़के कमाने लायक हो गए हैं तो उनको अपना काम-धंधा सौंपकर आप उससे विरत हो जाता है, किंतु उन्हें सम्मति वगैरह देता रहता है।

9. परिग्रहविरत— पहले की आठ प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब अपनी जमीन-जायदाद वगैरह से अपना स्वत्व छोड़ देता है, तो वह परिग्रहविरत कहा जाता है। आठवीं प्रतिमा में वह अपना उद्योग-धंधा पुत्रों के सुपुर्द कर देता है मगर संपत्ति अपने ही अधिकार में रखता है। जब वह देख लेता है कि लड़के ने उद्योग-धंधे को भली-भाँति समझ लिया है, अब यदि संपत्ति भी उसके सुपुर्द कर दी जाए तो वह उसका रक्षण कर सकता है, तब वह पंचों के सामने अपने पुत्र या दत्तक पुत्र को बुलाकर कहता है कि 'हे पुत्र! आज तक हमने इस गृहस्थाश्रम का पालन किया। अब विरक्त होकर हम इसे छोड़ना चाहते हैं। इसलिए तुम हमारा स्थान स्वीकार करो। अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिए इच्छुक पिता का भार सँभालकर जो उसकी सहायता करता है वही पुत्र है और जो ऐसा नहीं करता, वह पुत्र नहीं, शत्रु है। इसलिए मेरा यह धन, धार्मिक स्थान तथा कुटुंबीजन का भार सँभालकर मुझे इस भार से मुक्त करो, क्योंकि इससे मुक्त हुए बिना कोई भी कल्याणार्थी अपना कल्याण नहीं कर सकता। मुमुक्षुजनों के लिए सर्वस्व त्याग ही पथ्य है।'

इस प्रकार सब कुछ पुत्र को सौंपकर वह गार्हस्थिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। किंतु मुक्त होने पर भी वह सहसा घर नहीं छोड़ता और उदासीन होकर कुछ काल तक घर में ही रहता है। लड़का यदि किसी कार्य में उससे सलाह माँगता है तो उचित सम्मति दे देता है।

10. अनुमतिविरत— पहले की नौ प्रतिमाओं में अभ्यस्त हुआ श्रावक जब देख लेता है कि अब लड़का बिना मेरी सलाह के भी सब काम सँभाल सकता है, तो लेन-देन, खेती, खनिज और विवाह आदि लौकिक कार्यों में अनुमति देना बंद कर देता है, तब वह अनुमतिविरत कहा जाता है। अब वह घर में न रहकर मंदिर वगैरह में रहने लगता है और अपना समय स्वाध्याय में बिताता है तथा मध्याह्न काल की सामायिक करने के बाद आमंत्रण मिलने पर अपने या दूसरों के घर भोजन कर आता है। भोजन में वह अपनी कोई रुचि नहीं रखता है। अपने व्रत नियम के अनुसार जो मिलता है खा लेता है और यही विचारता है कि शरीर की स्थिति के लिए भोजन की आवश्यकता है और शरीर को बनाए रखना धर्म सेवन के लिए आवश्यक है।

कुछ दिन इसी तरह बिताकर जब वह देख लेता है कि अब मैं घर छोड़ सकता हूँ तो अपने गुरुजनों, बंधुओं और पुत्र वगैरह से पूछकर घर छोड़ देता है।

11. उद्दिष्टविरत— यह अंतिम उत्कृष्ट श्रावक अपने उद्देश्य से बनाए गए आहार को ग्रहण नहीं करता, इसलिए इसे उद्दिष्टविरत कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं। पहला भेद वाला उत्कृष्ट श्रावक सफेद लंगोटी लगाता है और एक सफेद चादर मात्र अपने पास रखता है तथा कैंची या छुरे से अपने केशों को बनवाता है और जब किसी स्थान पर बैठता है या लेटता है तो अत्यंत कोमल वस्त्र वगैरह से उस स्थान को साफ कर लेता है, जिससे उसके बैठने या लेटने से किसी जंतु को कोई पीड़ा न पहुँच सके।

इस पहले भेद वाले उत्कृष्ट श्रावक के भी दो विभाग हैं। एक वह जो अनेक घरों से भिक्षा लेता है और दूसरा वह जो एक घर से ही भिक्षा लेता है। जो अनेक घरों से भिक्षा लेता है वह भोजन के समय श्रावक के घर जाकर उसके आँगन में खड़ा होकर 'धर्मलाभ हो' ऐसा कहकर भिक्षा की प्रार्थना करता है अथवा मौनपूर्वक केवल अपने को दिखाकर चला आता है। यदि श्रावक कुछ देता है तो उसे अपने पात्र में ले लेता है। किंतु वहाँ देर नहीं लगाता और वहाँ से निकलकर दूसरे श्रावक के घर जाकर ऐसा ही करता है। यदि कोई श्रावक अपने घर पर ही भोजन करने की प्रार्थना करता है तो अन्य घरों से जो भोजन मिला है पहले उसे खाकर पीछे आवश्यकता के अनुसार भोजन उस श्रावक से ले लेता है। यदि कोई ऐसी प्रार्थना नहीं करता तो कई घरों में जाकर अपने उदर भरने लायक भोजन माँगता है और जहाँ प्रासुक पानी मिलता है वहाँ उसे देख-भालकर खा लेता है। खाते समय स्वाद पर ध्यान नहीं देता और गृहस्थ के घर से कुछ मिलने या न मिलने अथवा मिलने वाले द्रव्य की सरसता और विरसता पर ही ध्यान देता है। भोजन करने के पश्चात् अपना झूठा बर्तन स्वयं ही माँजता और धोता है। यदि

वह मान में आकर दूसरों से ऐसा काम कराता है तो यह महान् असंयम समझा जाता है। भोजन करने के पश्चात् अपने गुरु के पास जाकर दूसरे दिन तक के लिए वह आहार न करने का नियम ले लेता है और गुरु के पास से जाने के बाद से लेकर लौटने तक जो कुछ भी वह करता है वह सब सरलतापूर्वक गुरु से निवेदन कर देता है। जो उत्कृष्ट श्रावक एक घर से ही भिक्षा ग्रहण करता है वह किसी मुनि के पीछे-पीछे श्रावक के घर जाकर भोजन कर आता है और यदि भोजन नहीं मिलता तो उपवास कर लेता है।

यह 11वीं प्रतिमा वाला उत्कृष्ट श्रावक सदा मुनियों के साथ रहता है, उनकी सेवा सुश्रुषा करता है और अंतरंग और बहिरंग तप करता है। उन तपों में से भी वैयावृत्य तप खासतौर से करता है। मुनिजनों को कोई कष्ट होने पर उसका प्रतीकार करने को वैयावृत्य कहते हैं; जैसे– रोगियों की परिचर्या करना, असमर्थों की सहायता करना, वृद्धजनों के पैर वगैरह दबाना आदि। श्रावक के लिए वैयावृत्य करने का बड़ा महत्व बताया गया है। इससे घृणा का भाव दूर होता है, सेवा भाव को प्रोत्साहन मिलता है और वात्सल्य भाव की वृद्धि होती है तथा जिनकी परिचर्या की जाती है वे सनाथता अनुभव करते हैं, उनके चित्त में यह भाव नहीं होता कि कोई हमारी देखरेख करने वाला नहीं है।

दूसरे भेद वाले उत्कृष्ट श्रावक की भी सभी क्रियाएँ पहले के ही समान होती हैं। केवल इतना अंतर है कि यह सिर और दाढ़ी के बालों को अपने हाथ से पकड़कर उखाड़ डालता है। इस क्रिया को केशलोंच कहते हैं। केवल लंगोटी लगाता है और मुनियों के समान हाथ में मोर के पंखों की एक पीछी रखता है। उसी से वह अपने बैठने या लेटने के स्थान को साफ करके जंतुरहित कर लेता है तथा गृहस्थ के घर जाकर उसके प्रार्थना करने पर उसी के घर में अपने हाथ में ही भोजन करता है, पास में बर्तन नहीं रखता। दोनों हाथों को जोड़कर बाएँ हाथ की कनअंगुलि में दाहिने हाथ की कनअंगुलि को फँसाकर पात्र-सा बना लेता है। गृहस्थ बाएँ हाथ की हथेली पर भोजन रखता जाता है और यह दाहिने हाथ की शेष चार अंगुलियों से उठाकर कौर को मुँह में रखता जाता है। यह उत्कृष्ट श्रावक उत्तम-उत्तम ग्रंथों का स्वाध्याय करता है और खाली समय में संसार, शरीर और उसके साथ अपने संबंध के विषय में चिंतन करता है।

इस प्रकार नैष्ठिक श्रावक के ये 11 दर्जे हैं। इनको क्रमवार ही पाला जाता है। ऐसा नहीं है कि कोई प्रारंभ की क्रियाएँ न करके आगे के दर्जे में पहुँच जाएँ। यदि कोई ऐसा करता है तो आगे बढ़ जाने पर भी उसे उस दर्जे वाला नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म में शक्ति के अनुसार किए गए कार्य का ही महत्व है। 'आगे को दौड़ और पीछे को छोड़' वाली कहावत यहाँ चरितार्थ नहीं होती जो लोग उत्तरदायित्व से बचने के

लिए त्यागी बनना चाहते हैं, उनके लिए भी यहाँ स्थान नहीं है। किंतु जो अपने ग्राहस्थिक उत्तरदायित्व का यथोचित प्रबंध करके केवल आत्म-कल्याण की भावना से इस मार्ग का अवलंबन लेते हैं वे ही इस पथ के योग्य समझे जाते हैं।

साधक श्रावक– श्रावक का तीसरा भेद साधक है। मरणकाल उपस्थित होने पर शरीर से ममत्व हटाकर, भोजन वगैरह का त्याग करके, प्रेमपूर्वक ध्यान के द्वारा जो आत्मा का शोधन करता है, उसे साधक कहते हैं। साधक की इस क्रिया को समाधिमरण व्रत या सल्लेखना व्रत कहते हैं। जब कोई उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग ऐसी हालत में पहुँच जाए, जिसका प्रतीकार कर सकना शक्य न हो तो धर्म के लिए शरीर छोड़ देना सल्लेखना या समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण करने की विधि बतलाते हुए लिखा है कि शरीर धर्म का साधन है इसलिए यदि वह धर्म साधन में सहायक होता हो तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह विनष्ट होता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिए तथा धर्म का साधन समझकर ही शरीर को स्वस्थ रखना चाहिए और यदि कोई रोग हो जाए तो उसका प्रतीकार भी करना चाहिए। किंतु जब शरीर धर्म का बाधक बन जाए तो शरीर को छोड़कर धर्म की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि शरीर नष्ट होने पर पुनः मिल जाएगा किंतु धर्म की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

कोई-कोई भाई समाधिमरण व्रत के स्वरूप और महत्व को न समझकर इसे आत्मघात बताते हैं। किंतु धर्म पर आपत्ति आने पर धर्म की रक्षा के लिए शरीर की उपेक्षा कर देने का नाम आत्मघात नहीं है, परंतु क्रोध में आकर विष आदि के द्वारा प्राणी की घात करने का नाम ही आत्मघात है। धर्म की रक्षा के लिए अपने जीवन को बलिदान कर देने वाले वीरों की अनेक गाथाएँ भारत के इतिहास में निबद्ध हैं। लोग भौतिक जीवन को ही सब कुछ समझकर उसी की रक्षा में लगे रहते हैं, वे सचमुच में जीना नहीं जानते। इसलिए कहा गया है–

जिसे मरना नहीं आया, उसे जीना नहीं आया।

जो मरना नहीं जानता वह जीना भी नहीं जानता। अपने धर्म-कर्म और मान-मर्यादा को गवाँकर जीना भी कोई जीना है। जीवन क्षणिक है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह एक दिन अवश्य नष्ट होगा। अतः उसकी रक्षा के लिए कर्तव्य से विमुख होना उचित नहीं है। इसी बात को जैन शास्त्रों में एक दृष्टांत के द्वारा समझाया है। उसमें लिखा है–

'लेन-देन की अनेक वस्तुओं का संचय करने वाला व्यापारी अपने घर का नाश नहीं चाहता। अगर उसके घर में आग लग जाती है तो उसे बुझाने की चेष्टा करता है। किंतु जब देखता है कि इसको बुझाना कठिन है तो घर की परवाह न कर संचित धन की रक्षा करता है। इसी तरह व्रत और शील रूपी धन का संचय करने वाला व्रती शरीर का नाश नहीं चाहता और शरीर नाश के कारण उपस्थित होने पर 'अपने धर्म में बाधा

न आए' इस रीति से उनको दूर करने की चेष्टा करता है। परंतु जब यह निश्चित हो जाता है कि शरीर का नाश अवश्य होगा तो वह शरीर की परवाह न करके अपने धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। ऐसी स्थिति में समाधिमरण को आत्मघात कैसे कहा जा सकता है?'

समाधिमरण का उद्देश्य है अंतःक्रिया को सुधारना। जब मृत्यु सुनिश्चित हो तो राग-द्वेष और परिग्रह को छोड़कर, शुद्ध मन से सबसे क्षमा माँगे और जिसने अपना अपराध किया हो उसे क्षमा कर दे। फिर बिना किसी छल के अपने किए हुए पापों की आलोचना करे और मरण पर्यंत के लिए संपूर्ण महाव्रतों को धारण करे। उस समय समाधिमरण व्रत धारण करने वाले आचार्य और उनका सब संघ उस साधक की साधना को सफल बनाने में तत्पर रहते हैं। आचार्य साधक से पूछकर यदि उसकी इच्छा कुछ खाने की होती है तो खिलाकर आहार का त्याग करा देते हैं और केवल दूध वगैरह उसे देते हैं। फिर दूध का भी त्याग कराकर गर्म जल देते हैं फिर गर्म जल का भी त्याग करा देते हैं। फिर यदि उसे कोई ऐसी बीमारी हो जिसके कारण बार-बार प्यास लगती हो तो गर्म जल देते रहते हैं और जब मृत्यु का समय निकट देखते हैं तो गर्म जल का भी त्याग करा देते हैं।

उसके बाद आचार्य साधक के कान में अच्छे-अच्छे उपदेश सुनाते हैं और साधक पंच नमस्कार मंत्र का जप करता हुआ शांति के साथ प्राण विसर्जन करता है।

समाधिमरण व्रत के भी पाँच दोष बतालाए हैं। समाधिमरण करते हुए साधक को जीने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। न कष्ट के भय से मरने की ही इच्छा करनी चाहिए। इच्छा करने से न आयु बढ़ सकती है और न घट सकती है। अतः उसमें मन को लगाना बेकार है। इसी तरह मित्रों का प्रेम और जीवन में भोगे हुए सुखों का भी स्मरण नहीं करना चाहिए। ये सभी चीजें मनुष्य के चित्त को कमज़ोर बनाती हैं और साधक को उसकी साधना से च्युत करती हैं तथा यह भी नहीं सोचना चाहिए कि मैंने इस जन्म में जो धर्माराधन किया है उसके फल से दूसरे जन्म में इंद्र या चक्रवर्ती या और कुछ होऊँ, क्योंकि ऐसा करने से धर्माराधन का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। धर्म के लिए जो कुछ छोड़ा, धर्म करके उसी को माँगना मूर्खता है। यह धर्म के स्वरूप और उसके उद्देश्य की अनभिज्ञता को सूचित करता है, अतः इस मंगताई से बचना ही चाहिए।

इस तरह जैन श्रावक अपने विधि नियमों के साथ जीवन निर्वाह करता हुआ अंत में शांति और निर्भयता के साथ मृत्यु का आलिंगन करके अपने मानव जीवन को सफल बनाता है।

6. श्रावक धर्म और विश्व की समस्याएँ

आज सभी धर्मों के सामने यह प्रश्न रखा जाता है कि वर्तमान विश्व की समस्याओं को हल करने में कहाँ तक आगे आते हैं? यह प्रश्न न भी रखा जाए तो भी धर्मों के सामने यह प्रश्न तो है ही कि केवल व्यक्ति के अभ्युदय और निश्रेयस प्राप्ति के लिए ही धर्मों की सृष्टि की गई है या उनसे समाज और राष्ट्र का भी अभ्युदय हो सकता है? यहाँ हम ऊपर बतलाए गए जैन श्रावक के धर्म के प्रकाश में उक्त प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं।

यह सत्य है कि धर्म की सृष्टि व्यक्ति के अभ्युदय के लिए हुई किंतु व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। व्यक्तियों का समूह ही समाज, राष्ट्र और विश्व के नाम से पुकारा जाता है। आज जिन्हें विश्व की समस्याएँ कहा जाता है वस्तुतः वे उस विश्व में बसने वाले व्यक्तियों की ही समस्याएँ हैं। माना, व्यक्ति एक इकाई है, किंतु अनेक इकाइयाँ मिलकर ही दहाई, सैकड़ा आदि संख्याएँ बनती हैं, अतः व्यक्ति के अभ्युदय के लिए जन्मा हुआ धर्म जब किसी एक खास व्यक्ति के अभ्युदय का कारण न होकर व्यक्ति मात्र के अभ्युदय का कारण है तो चूँकि व्यक्ति मात्र में विश्व के सभी व्यक्ति आ जाते हैं। अतः वह विश्व के भी अभ्युदय का कारण हो सकता है। किंतु विश्व को अपनाना चाहिए। अस्तु, पहले हमें यह देखना चाहिए कि आज के युग की वे कौन-सी समस्याएँ हैं, जिन्हें हमें हल करना है और उनका मूल कारण क्या है?

पिछले दो सौ वर्षों में विज्ञान ने बड़ी उन्नति की है। उसने ऐसे-ऐसे यंत्र प्रदान किए हैं, जिनसे विश्व का संरक्षण और संहार दोनों ही संभव हैं, क्योंकि किसी वस्तु का अच्छा उपयोग भी किया जा सकता है और बुरा उपयोग भी किया जा सकता है। उपयोग करना तो मनुष्य के हाथ की बात है, उसमें बेचारी वस्तु का क्या अपराध? विद्या जैसी उत्तम वस्तु भी दुर्जन के हाथ में पड़कर ज्ञान के स्थान में विवाद को जन्म देती है। धन को पाकर दुर्जन को मद होता है किंतु सज्जन उससे परोपकार करता है। शक्ति पाकर एक दूसरों को सताता है तो दूसरा उसे ही पाकर आततादयों के हाथों से पीड़ितों की रक्षा करता है। विज्ञान ने दूरी का अंत कर दिया है और विश्व की विभिन्न जातियों और राष्ट्रों को इतने निकट ला दिया है कि वे यदि परस्पर में संबद्ध होकर रहना चाहें तो एकसूत्र में बद्ध होकर रह सकते हैं, क्योंकि विज्ञान ने संगठन के अनेक नए साधन प्रस्तुत कर दिए हैं तथा उत्पादन के भी ऐसे-ऐसे साधन दिए हैं जिनसे संसार के सभी स्त्री-पुरुष सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकते हैं। किंतु उन साधनों पर आज अमुक वर्गों और राष्ट्रों का अधिकार है वे उनका उपयोग दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और स्थापित किए हुए प्रभुत्व को बनाए रखने में करते हैं। जंगल

में शिकार की खोज में भटकने वाला व्याघ्र अपने नुकीले पंजों और पैने दाँतों का जैसा उपयोग अपने शिकार के साथ करता है, वैज्ञानिक साधनों से संपन्न राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रों की छाती पर आज अपने वैज्ञानिक साधनों का वैसा ही उपयोग करते दिखलाई देते हैं। फलतः युद्धों की सृष्टि होती है और राष्ट्रों का धन और जन उसकी भेंट चढ़ा दिया जाता है। मानों उनका इससे अच्छा कोई दूसरा उपयोग हो ही नहीं सकता। एक ओर नए साधनों के द्वारा खेतों से खूब अन्न उपजाया जाता है, मिलें रात-दिन कपड़े तैयार करने में लगी रहती हैं, दूसरी ओर असंख्य मनुष्य बिना अन्न और वस्त्र के जीवन बिता देते हैं। एक ओर जिन्हें अन्न और वस्त्र की आवश्यकता होती है वे दाने-दाने के लिए तरसते हैं और दूसरी ओर जिन्हें उनकी आवश्कता नहीं है वे अनावश्यक संचय के भार से दब जाते हैं। शांति और सुरक्षा के लिए कानूनों की सृष्टि की जाती है और उन्हें जबरदस्ती पलवाने के लिए पुलिस, सेना और जेलखानों की सृष्टि की जाती है। अन्याय के लिए न्याय का ढोंग रचा जाता है और सत्य को छिपाने के लिए असत्य प्रचार किया जाता है।

ये समस्याएँ सारे संसार के सामने उपस्थित हैं। युद्ध के महाविनाश ने युद्ध लड़ने वालों को भी भयभीत कर दिया है। सब चाहते हैं कि युद्ध न हो, किंतु युद्ध के जो कारण हैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। सर्वत्र राजनीतिक और आर्थिक संगठनों में पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसा की भावना छिपी हुई है। दूसरों को बेवकूफ बनाकर अपना कार्य साधना ही सबका मूलमंत्र बना हुआ है। फिर शांति हो तो कैसे हो और युद्ध रुके तो कैसे रुके?

आधुनिक समस्या के इस विहंगावलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न राष्ट्रों और जातियों के बीच में हिंसामूलक व्यवहार का प्राधान्य है। स्वार्थपरता, बेईमानी और धोखेबाजी ये सब हिंसा के प्रतिरूप हैं। इनके रहते हुए जैसे दो व्यक्तियों में प्रीति और मैत्री नहीं हो सकती वैसे ही राष्ट्रों और जातियों में भी मैत्री नहीं हो सकती। 'जिओ और जीने दो' का जो सिद्धांत व्यक्तियों के लिए है वही जातियों और राष्ट्रों के लिए भी है। जब तक विभिन्न राष्ट्र और जातियाँ इस सिद्धांत को नहीं अपनाते तब तक विश्व की समस्याएँ नहीं सुलझ सकतीं बल्कि और उलझती ही जाएँगी, जैसा कि प्रत्यक्ष में दिखलाई पड़ता है। अतः विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए राष्ट्रों की शासन प्रणाली में आमूल परिवर्तन होना चाहिए और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में संशोधन होना चाहिए तथा वह परिवर्तन और संशोधन अहिंसा के सिद्धांत को जीवन पथ के रूप में स्वीकार करके किया जाना चाहिए।

यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बल प्रयोग के आधार पर मानवीय संबंधों की भित्ति कभी खड़ी नहीं की जा सकती। कौटुंबिक और सामाजिक जीवन के निर्माण में बहुत

अंशों में सहानुभूति, दया, प्रेम, त्याग और सौहार्द का ही स्थान रहता है। एक बात यह भी स्मरण रखनी चाहिए कि व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक वातावरण का निकट संबंध है। व्यक्तिगत आचरण से सामाजिक वातावरण बनता है और सामाजिक वातावरण से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। किसी समाज के अंतर्गत व्यक्तियों का आचरण यदि दूषित हो तो सामाजिक वातावरण कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता और सामाजिक वातावरण के शुद्ध हुए बिना व्यक्तियों के आचरण में सुधार होना सरल नहीं। इसलिए व्यक्तिगत आचरण के सुधार के साथ-साथ सामाजिक वातावरण को भी स्वच्छ बनाने की चेष्टा होनी चाहिए। इसी से जैन धर्म प्रत्येक व्यक्ति के आचरण निर्माण पर जोर देते हुए उसके जीवन से हिंसामूलक व्यवहार को निकालकर पारस्परिक व्यवहार में मैत्री, प्रमोद और कारुण्य की भावना से बरतने की सलाह देता है। इतना ही नहीं, बल्कि वह तो यह भी चाहता है कि राजा भी ऐसा ही धार्मिक हो, क्योंकि राजनीति में अधार्मिकता के घुस जाने से राष्ट्र-भर का नैतिक जीवन गिर जाता है और फिर व्यक्ति यदि अनैतिकता से बचना भी चाहे तो बच नहीं पाता। अनेक बाहरी प्रलोभनों और आवश्यकताओं से दबकर वह भी अनर्थ करने के लिए तत्पर हो जाता है, जिसका उदाहरण युद्धकाल में प्रचलित चोर बाज़ार है। अतः राजनीति, समाजनीति और व्यक्तिगत जीवन का आधार यदि अहिंसा को बनाया जाए तो राजा और प्रजा दोनों सुख-शांति से रह सकते हैं।

आज जिन देशों में प्रजातंत्र है उन देशों में यद्यपि अपनी-अपनी जनता के सुख-दुःख का ध्यान पूरा-पूरा रखा जाता है, किंतु दूसरे देशों की जनता के साथ वैसा ही व्यवहार नहीं किया जाता। बातें अच्छी-अच्छी कही जाती हैं किंतु व्यवहार उनसे बिलकुल विपरीत किया जाता है। दूसरे देशों पर अपना स्वत्व बनाए रखने के लिए राजनैतिक गुटबंदियाँ की जाती हैं। उनके विरुद्ध झूठा प्रचार करने के लिए लाखों रुपया व्यय किया जाता है और यह कहा जाता है कि हम उनकी भलाई के लिए ही उन पर शासन कर रहे हैं। शासनतंत्र के द्वारा अपना अधिकार जमाकर उन देशों के धन और जन का मनमाना उपयोग किया जाता है। यह सब हिंसा, असत्य और चोरी नहीं है तो क्या है? यदि राष्ट्रों का निर्माण अहिंसा के आधार पर किया जाए और असत्य व्यवहार को स्थान न दिया जाए तो राष्ट्रों में पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसा की भावना देखने को भी न मिले। समस्त राष्ट्रों का एक विश्व संघ हो, जिसमें सब राष्ट्र समान भ्रातृभाव के आधार पर एक कुटुंब के रूप में सम्मिलित हों, न कोई किसी का शासक हो न शास्य हो। सब सबके दुःख और संकट का ध्यान रखें। सबके साथ सबका मैत्री-भाव हो। यदि सब राष्ट्र अपनी-अपनी नियतों की सफाई करके इस तरह से एकसूत्र में बँधे तो न तो युद्ध हों और न युद्ध के अभिशापों से जनता को असीम कष्ट ही भोगना पड़े।

आज उत्पादन के ऊपर एक राष्ट्र या जाति का एकाधिकार होने से उसे अपने लिए दूर-दूर से कच्चा माल माँगना पड़ता है और तैयार हुए माल को खपाने के लिए बाज़ारों की भी खोज करनी पड़ती है और उन पर अपना काबू रखना पड़ता है। फिर भले ही वे बाज़ार दुनिया के किसी भी भाग में क्यों न हों। आज इसी पद्धति के कारण दुनिया कराह रही है। दुनिया को इससे मुक्त करने के लिए भी हमें अहिंसा का ही मार्ग अपनाना होगा। राष्ट्रों और जातियों की भलाई का स्थान विश्व की भलाई को देना होगा। हमारा जीवन भौतिक दुनिया की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। हमें बनावटी तौर पर पहले अपनी जरूरतों को बढ़ाने और फिर उनको पूरा करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। जीवन का आनंद इस पर निर्भर नहीं करता कि हमारे पास कितनी ज्यादा चीजें हैं? जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र जीवन की बनावटी आवश्यकताओं को बढ़ाकर उसी की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है और बिना ज़रूरत के चीज़ों का संग्रह करता है, वह दुःखों और पापों का संग्रह करता है। इसी से जैन धर्म ने परिग्रहों को पाप बतलाया है और प्रत्येक गृहस्थ के लिए यह नियम रखा है कि वह अपनी इच्छाओं को सीमित करके अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सभी आवश्यक वस्तुओं की एक सीमा निर्धारित कर ले और उससे अधिक त्याग कर दे। आज उत्पादन और वितरण के प्रश्न ने दुनिया में विराट रूप धारण कर लिया जिसके कारण दुनिया की आर्थिक विषमता का संतुलन करना कठिन हो रहा है। जैन धर्म के प्रवर्तक श्री ऋषभदेव ने युग के आदि में मनुष्यों की इसी संचयवृत्ति पर लक्ष्य करके प्रत्येक गृहस्थ के लिए परिग्रह-परिमाणव्रत का निर्देश किया था। उस व्यवस्था में भोग-विलास जीवन का ध्येय न था। भोग पर ज़ोर देने से ही व्यवस्था का आधार मौज, मजा और अधिकार हो गया है, जिसका आखिरी नतीजा संघर्ष और युद्धों का ताँता है। इसके विरुद्ध यदि हम अनावश्यक इच्छाओं के नियमन पर जोर दें तो जीवन पर नियंत्रण कायम होता है और हमारी ज़रूरतें सीमित हो जाती हैं। ज़रूरतों को सीमित किए बिना यदि कानूनों के आधार पर उत्पादन और वितरण का प्रबंध किया भी गया तो उसमें सफलता नहीं मिल सकती। यह स्मरण रखना चाहिए कि कानून की भाषा और उसका पालन करने के आधार पर इतने लाचार होते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि के उपयोग के द्वारा कानून को भंग करके भी बचा रहता है।

वास्तव में नैतिक आचरण का पालन बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। वह भीतरी प्रेरणा से ही हो सकता है। अतः कानून से अधिक शक्तिशाली और लाभदायक मार्ग आत्मसंयम है। जब मनुष्य अपना और समाज का लाभ समझकर उसका अनुसरण करने लगता है तो वह स्वयं संयमी बनने की कोशिश करने लगता है। इस तरह जब संयमी पुरुष ऊँचे स्तर पर पहुँच जाता है तो वह स्वयं उदाहरण बनकर दूसरों

को भी संयमी बनने की सतत् प्रेरणा देता है और इस तरह समाज के नैतिक जीवन को उन्नत बनाने में निरंतर योगदान करता रहता है।

संयम की इसी शिक्षा का परिणाम ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहव्रत हैं। यदि मनुष्य समाज की वासनाओं और लालसाओं का नियंत्रण न किया जाएगा तो उसका शारीरिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाएगा और उसका विकास रुक जाएगा।

इस विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जैन धर्म में प्रत्येक गृहस्थ के लिए पाँच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक बतलाया है, यदि उन्हें सामाजिक और राजनीतिक जीवन का भी आधार बनाकर चला जाए तो विश्व की अनेक मौलिक समस्याएँ सरलता से सुलझ सकती हैं।

अब रह जाता है मद्य, मांस और मधु का त्याग तथा गृहस्थ के अन्य व्रत नियम। सबसे यह आशा नहीं की जा सकती कि सब उनका पालन करेंगे। फिर भी जो उनका पालन करेगा उसे शारीरिक और आध्यात्मिक दृष्टि से लाभ ही होगा। मद्य और मांस ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें मनुष्य के आम भोजन में स्थान देना आवश्यक नहीं है। दोनों ही तामसिक हैं और तामसिक आहार-विहार के होते हुए सात्विक भावों का विकास नहीं हो सकता और सात्विक भावों का विकास हुए बिना अहिंसक वातावरण नहीं बन सकता और अहिंसक वातावरण बनाए बिना दुनिया को सुख-शांति नसीब नहीं हो सकती। अतः उनकी ओर से मनुष्यों का मन यदि हट सके तो उससे उन मनुष्यों का तथा संसार का लाभ ही होगा। मनुष्य स्वभाव न तो अच्छा होता है और न बुरा। वह तो कच्ची गीली मिट्टी के समान है। चाहे जिस रूप में उसका निर्माण किया जा सकता है। जिन घरानों में मद्य व मांस से परहेज किया जाता है उनमें जन्म लेने वाले बच्चे उन चीज़ों से परहेज करते हैं और जिन घरानों में उनका चलन है उनमें जन्म लेने वाले बच्चे उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि इस प्रकार की वस्तुओं से मनुष्यों को बचाया जा सकता है। वे उनका प्राकृतिक आहार नहीं।

किंतु जिन देशों में अन्न की कमी या जलवायु के प्रभाव के कारण मद्य और मांस से एकदम परहेज करना शक्य नहीं है उन देशों में भी उन पर अमुक प्रकार के प्रतिबंध लगाकर कम से कम यह भाव तो पैदा किया जा सकता है कि ये चीजें मनुष्य के लिए ग्राह्य नहीं हैं किंतु परिस्थितिवश उन्हें खाना पड़ता है। अपनी शक्ति, परिस्थिति और व्यवसाय के अनुसार हिंसा का त्याग करके भी मनुष्य अहिंसकों की श्रेणी में सम्मिलित हो सकता है। उदारहण के लिए, कोई कसाई अपनी आजीविका का साधन होने से यदि पशु हत्या का त्याग नहीं कर सकता तो उसके लिए सप्ताह में एक दिन उसका त्याग कर देना या अमुक प्रकार के पशुओं की अमुक संख्या में ही हत्या करने का नियम ले लेना भी अहिंसाणुव्रत की जघन्य श्रेणी में गिना जाता है। जैन पुराणों में

ऐसे अनेक उदाहरण पाए जाते हैं। यथा– एक मुनि ने एक मांसाहारी भील को कौवे का मांस खाना छुड़वा दिया था। इसी प्रकार एक मछुवे को यह नियम दिला दिया था कि उसके जाल में जो पहली मछली आएगी उसे वह नहीं मारेगा। एक चांडाल को, जो फाँसी लगाने का काम करता था, यह नियम दिला दिया था कि वह चतुर्दशी के दिन किसी को फाँसी नहीं देगा। इन छोटी प्रतिज्ञाओं ने ही उन्हें कुछ का कुछ बना दिया।

अतः थोड़ा-सा भी प्रतिबंध लगाकर यदि मांस और मद्य सेवन पर अंकुश रखा जाए तो उनका सेवन करने के अभ्यस्त मनुष्य भी उनकी बुराइयों से बच सकते हैं और उससे समाज में फैलने वाली बहुत-सी बुराइयों से समाज का छुटकारा हो सकता है।

जैन धर्म के नियम कड़े दिखाई देते हैं किंतु उनके पालने में मनुष्यों की शक्ति और परिस्थिति का ध्यान रखा जाता है इसलिए उनकी कठोरता खलती नहीं। उसका तो एक ही ध्येय है कि स्वयं अपनी अनियंत्रित स्वेच्छाचारिता पर रोक (ब्रेक) लगाना सीखें और बुराई को करते हुए भी कम से कम इतना तो न भूले कि मैं बुरा करता हूँ। यह ऐसी चीज़ है जिसे हर कोई कर सकता है।

इसी तरह वृद्धावस्था में अपने सांसारिक उत्तरदायित्वों से अवकाश लेकर और उनका भार अपने उत्तराधिकारी को सौंपकर यदि मनुष्य आत्मसाधना का मार्ग स्वीकार कर लिया करें तो उससे एक ओर तो कार्यक्षेत्र में आने के लिए उत्सुक नए व्यक्तियों को स्थान मिलने में सहूलियत होगी, दूसरी ओर कौटुंबिक कटुता घटेगी। साथ ही साथ आध्यात्मिक विकास का मार्ग भी चालू रहेगा और उससे संसार को बहुत लाभ पहुँचेगा।

7. मुनि का चारित्र

मुनि या साधु के 28 मूलगुण होते हैं–

1-5. पाँच महाव्रत– अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। श्रावक जिन पाँच व्रतों का एक देश से पालन करता है साधु उन्हें ही पूरी तरह से पालते हैं। अर्थात् वे छहों काय के जीवों का घात नहीं करते और राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भावों को उत्पन्न नहीं होने देते। अपने प्राणों पर संकट आने पर भी झूठ नहीं बोलते। बिना दी हुई कोई भी वस्तु नहीं लेते। पूर्ण शील का पालन करते हैं और अंतरंग तथा बहिरंग, सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते हैं केवल शौच आदि के लिए पानी आवश्यक होने से एक कमंडलु और जीवरक्षा के लिए मोर के स्वयं गिरे हुए पंखों की एक पीछी अपने पास रखते हैं।

6-10. पाँच समिति– दिन में सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित जमीन को अच्छी तरह से देखकर चलते हैं। जब बोलते हैं तो हित और मित वचन बोलते हैं। दिन में एक बार श्रावक के घर जाकर, यदि वह श्रद्धा और भक्ति के साथ भोजन के लिए निवेदन करे तो छियालीस दोष टालकर भोजन करते हैं। अपने कमंडलु और पीछी वगैरह को देख-भालकर हाथ में लेते हैं और देख-भालकर रखते हैं। मल-मूत्र वगैरह ऐसे स्थान पर करते हैं जहाँ किसी को भी उससे कोई कष्ट पहुँचने की संभावना न हो।

11-15. पाँचों इंद्रियों को वश में रखते हैं– जो विषय इंद्रियों को अच्छे लगते हैं उनसे राग नहीं करते और जो विषय इंद्रियों को बुरे लगते हैं उनसे द्वेष नहीं करते।

16-21. छः आवश्यक– प्रतिदिन सामायिक करते हैं, तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, प्रमाद से लगे हुए दोषों का शोधन करते हैं, भविष्य में लग सकने वाले दोषों से बचने के लिए अयोग्य वस्तुओं का मन, वचन और काय से त्याग करते हैं और लगे हुए दोषों का शोधन करने के लिए अथवा तप की वृद्धि के लिए अथवा कर्मों की निर्जरा के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। खड़े होकर, दोनों भुजाओं को नीचे की ओर लटकाकर, पैर के दोनों पंजों को एक सीध में चार अंगुल के अंतर से रखकर साधु के निश्चल आत्मध्यान में लीन होने को कायोत्सर्ग कहते हैं।

22. स्नान नहीं करते– गृहस्थ के घर जब आहार के लिए जाते हैं तो गृहस्थ ही उनका शरीर पौंछ देते हैं।

23. दंतधावन नहीं करते– भोजन करने के समय गृहस्थ के घर पर ही मुख शुद्धि कर लेते हैं।

24. पृथ्वी पर सोते हैं।

25. खड़े होकर भोजन करते हैं।

26. दिन में एक बार ही भोजन करते हैं।

27. नग्न रहते हैं।

28. केशलोंच करते हैं।

इन 28 मूलगुणों का पालन प्रत्येक जैन साधु करता है। उसके ऊपर यदि कोई कष्ट आता है तो वह उससे विचलित नहीं होता। भूख-प्यास की वेदना से पीड़ित होने पर भी किसी के आगे हाथ नहीं पसारता और न मुख पर दीनता के भाव ही लाता है। जैसे विदेशी सरकार से असहयोग करने वाले सत्याग्रही देश की आज़ादी के लिए जेल में डाल दिया जाने पर भी न किसी से फरियाद करते थे और न कष्टों से ऊबकर माफी माँगते थे किंतु अपने लक्ष्य की पूर्ति में ही तत्पर रहते थे उसी प्रकार जैन साधु सांसारिक बंधुओं के कारणों से असहयोग करके कष्टों से न घबराकर आत्मा की

मुक्ति के लिए सदा उद्योगशील रहता है। जो लोग उसे सताते हैं, दुःख देते हैं, अपशब्द कहते हैं, उन पर वह क्रोध नहीं करता है। उसे किसी से लड़ाई-झगड़ा करने का प्रयोजन नहीं है वह तो अपने कर्तव्य में मस्त रहता है। उसके लिए शत्रु-मित्र, महल-श्मशान, कचंन-काँच, निंदा-स्तुति सब समान हैं। यदि कोई उसकी पूजा करता है तो उसे भी वह आशीर्वाद देता है और यदि कोई उस पर तलवार से वार करता है तो उसकी भी हितकामना करता है। उसे न किसी से राग होता है और न किसी पर द्वेष। राग और द्वेष को दूर करने के लिए ही तो वह साधु का आचरण पालता है। जैसा कि लिखा है–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥47॥
रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृतिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्॥48॥ –रत्नकर. श्रा.

अर्थात्– 'मोहरूपी अंधकार के दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने के साथ ही साथ जिसे सच्चा ज्ञान भी प्राप्त हो गया है, वह साधु राग और द्वेष को दूर करने के लिए चारित्र का पालन करता है। (इस पर यह शंका होती है कि चारित्र तो हिंसा वगैरह पापों से बचने के लिए पाला जाता है न कि राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए, क्योंकि जैन धर्म में अहिंसा ही आराध्य है तो उसका समाधान करते हैं) राग और द्वेष के दूर हो जाने पर हिंसा वगैरह पाप तो स्वयं ही दूर हो जाते हैं। क्योंकि जिस मनुष्य को आजीविका की चिंता नहीं है वह राजाओं की सेवा करने क्यों जाएगा? अतः जिसे किसी से राग और द्वेष ही नहीं रहा वह हिंसा वगैरह के कार्य करेगा ही क्यों?

अतः साधु बाहरी समस्त बातों से इतना उदासीन हो जाता है कि वह किसी की ओर अपेक्षावृत्ति से ध्यान ही नहीं देता। जैन धर्म में साधु को अत्यंत निरीह वृत्ति वाला और अत्यंत संयत बतलाया है तथा इसलिए उनकी आवश्यकताएँ अत्यंत परिमित रखी गई हैं। साधु होने के लिए उसे सब वस्त्र उतारकर नग्न होना पड़ता है। इससे एक ओर तो उसकी निर्विकारता स्पष्ट हो जाती है और दूसरी ओर उसे अपनी नग्नता को ढाँकने के लिए किसी से याचना नहीं करनी पड़ती। जो निर्विकार नहीं है वह बुद्धिपूर्वक कभी नग्न हो नहीं सकता। विकार को छिपाने के लिए ही मनुष्य लंगोटी लगाता है और यदि लंगोटी फट जाए या खो जाए तो उसे चलना-फिरना कठिन हो जाता है। किंतु बचपन में वही मनुष्य नंगा घूमता है। उसे देखकर किसी को लज्जा नहीं आती, क्योंकि वह स्वयं निर्विकार है जब उसमें विकार आने लगता है तभी वह नग्नता से सकुचाने लगता है और उसे छिपाने के लिए आवरण लगाता है प्रकृति तो सबको दिगंबर ही पैदा करती है पीछे से मनुष्य कृत्रिमता के आडंबरों में फँस जाता है। अतः जो साधु होता है वह कृत्रिमता को

हटाकर प्राकृतिक स्थिति में आ जाता है। उसे फिर कृत्रिम उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए सिर और दाढ़ी, मूछों के केशों को दूसरे, चौथे अथवा छठे महीने में वह अपने हाथ से उतार डालता है। साधुत्व की दीक्षा लेते समय भी उसे केशों का लुंचन करना होता है। ऐसा करने के कई कारण हैं– प्रथम तो ऐसा करने से जो सुखशील व्यक्ति है और किसी घरेलू कठिनाई या अन्य किसी कारण से साधु बनना चाहते हैं वे जल्दी इस ओर अग्रसर नहीं होते और इस तरह पाखंडियों से साधु संघ का बचाव हो जाता है। दूसरे, साधु होने पर यदि केश रखते हैं तो उनमें जूँ वगैरह पड़ने से वे हिंसा के कारण बन जाते हैं और यदि क्षौर कर्म कराते हैं तो उसके लिए दूसरों से पैसा वगैरह माँगना पड़ता है। अतः वैराग्य वगैरह की वृद्धि के लिए यतिजनों को केशलोंच करना आवश्यक बताया है।

लिंग चिह्न को कहते हैं। जिन लिंगों या चिह्नों से मुनि की पहचान होती है वे मुनि के लिंग कहलाते हैं। लिंग दो प्रकार के होते हैं– द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्यचिह्न और भावलिंग अर्थात् अभ्यंतरचिह्न। जैनमुनि के दोनों चिह्न इस प्रकार बताए हैं–

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥
मुच्छारम्भविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥6॥–प्रवचनसार 3

'मनुष्य जैसा उत्पन्न होता है वैसा ही उसका रूप हो अर्थात् नग्न हो, सिर और दाढ़ी मूछों के बाल उखाड़े हुए हों, समस्त बुरे कामों से बचा हुआ हो, हिंसा आदि पापों से रहित हो और अपने शरीर का संस्कार वगैरह न करता हो। यह सब तो जैन साधु के बाह्य चिह्न हैं तथा ममत्व और आरंभ से मुक्त हो, उपयोग और मन, वचन और काय की शुद्धि से युक्त हो, दूसरों की रंचमात्र कभी अपेक्षा न रखता हो। ये सब आभ्यंतर चिह्न हैं जो मोक्ष के कारण हैं।'

इस युग में यह प्रश्न किया जाता है कि बाहरी चिह्न की क्या आवश्यकता है? मगर बाहरी चिह्नों से ही आभ्यंतर की पहचान होती है। आँखों से तो बाहरी चिह्न ही देखे जाते हैं। उन्हीं को देखकर लोग उनके आभ्यंतर को पहचानने का प्रयत्न करते हैं तथा लोक में भी मुद्रा की ही मान्यता है। राजमुद्रा के होने से ज़रा-सा कागज हज़ारों रुपयों में बिक जाता है। अतः द्रव्यलिंग भी आवश्यक है।

इस तरह जैन धर्म में साधु को बिलकुल निरपेक्ष रखने का ही प्रयत्न किया जाता है। फिर भी उसे शरीर बनाए रखने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और उसके लिए उसे गृहस्थों के घर जाना पड़ता है, वहाँ जाकर भी वह किसी के घर में नहीं जाता और न किसी से कुछ माँगता ही है। केवल भोजन के समय वह गृहस्थों के

द्वार पर से निकल जाता है। गृहस्थों के लिए यह आवश्यक होता है कि वे भोजन तैयार होने पर अपने-अपने द्वार पर खड़े होकर साधु की प्रतीक्षा करें।' यदि कोई साधु उधर से निकलता है तो उसे देखते ही वे कहते हैं– 'स्वामिन् ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए।' यदि साधु ठहर जाते हैं तो वह उन्हें अपने घरों में ले जाकर ऊँचे आसन पर बैठा देता है। फिर उन्हें नमस्कार करता है। फिर कहता है– मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध, अन्न शुद्ध। इन सब कार्यों को नवधा-भक्ति कहते हैं। नवधा-भक्ति के करने पर ही साधु भोजनशाला में पधारते हैं। इन नवधा-भक्ति से एक तो साधु को सद्गृहस्थ की पहचान हो जाती है। वे जान जाते हैं कि यह गृहस्थ प्रमादी है या अप्रमादी? इसके यहाँ भोजन सावधानी से बनाया गया है या असावधानी से? दूसरे, इससे गृहस्थ के मन में अवज्ञा का भाव नहीं रहता और इसलिए वह जो कुछ देता है वह भार समझकर नहीं देता किंतु अपना कर्तव्य समझकर प्रसन्नता से देता है। जहाँ साधु माँगते हैं और गृहस्थ उन्हें दुरदुराते हैं वहाँ साधु न आत्मकल्याण कर पाता है और न परकल्याण ही कर पाता है। इसलिए जैन साधु विधिपूर्वक दिए जाने पर ही भोजन ग्रहण करते हैं अन्यथा लौट जाते हैं।

भोजनशाला में जाकर वे खड़े हो जाते हैं और दोनों हाथों को धोकर अंजुलि बना लेते हैं। गृहस्थ उनके बाएँ हाथ की हथेली पर ग्रास बनाकर रखता जाता है और वे उसे अच्छी तरह से देख-भालकर दाएँ हाथ ही अंगुलियों से उठा-उठाकर मुँह में रखते जाते हैं। यदि ग्रास में कोई जीव-जंतु या बाल भी दिखाई दे जाता है तो भोजन छोड़ देते हैं। भोजन के बहुत-से अंतराय जैन शास्त्र में बताए गए हैं।

पहले लिख आए हैं कि भोजन केवल जीवन के लिए किया जाता है और जीवन रक्षण का उद्देश्य केवल धर्म साधना है। अतः जहाँ थोड़ी-सी भी धर्म में बाधा आती है भोजन को तुरंत छोड़ देते हैं। हाथ में भोजन करना भी इसलिए बतलाया है कि यदि अंतराय हो जाए तो बहुत-सा झूठा अन्न छोड़ना न पड़े, क्योंकि थाली में भोजन करने से अंतराय हो जाने पर भरी हुई थाली भी छोड़नी पड़ सकती है। दूसरे, पात्र हाथ में लेकर भोजन के लिए निकलने से दीनता भी मालूम होती है। गृहस्थ के पात्र में खाने से पात्र को माँजने-धोने का झगड़ा रहता है तथा पात्र में खाने से बैठकर खाना होगा जो साधु के लिए उचित नहीं है, क्योंकि बैठकर खाने से साधु आराम से अमर्यादित आहार कर सकता है तथा सुखशील बन सकता है। अतः खड़े होकर आहार करना ही उसके लिए विधेय रखा गया है।

साधु को अपना अधिकांश समय स्वाध्याय में ही बिताना होता है। स्वाध्याय के चार काल बताए हैं– प्रातः दो घड़ी दिन बीतने पर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिए और मध्याह्न होने से दो घड़ी पहले समाप्त कर देना चाहिए। फिर मध्याह्न के बाद दो घड़ी

बीतने पर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिए और जब दिन अस्त होने में दो घड़ी काल बाकी रहे तो समाप्त कर देना चाहिए। फिर दो घड़ी रात बीत जाने पर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिए और आधी रात का अंत होने से दो घड़ी पहले समाप्त कर देना चाहिए फिर आधी रात होने के दो घड़ी बाद से स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिए और रात का अंत होने में दो घड़ी बाकी रहने पर समाप्त कर देना चाहिए।

साधु की दिनचर्या

साधु को चाहिए कि मध्य रात्रि में 4 घड़ी तक निद्रा लेकर, थकान दूर करके, स्वाध्याय प्रारंभ करे और जब रात बीतने में दो घड़ी काल शेष रह जाए तो स्वाध्याय समाप्त करके प्रतिक्रमण करे। खूब अभ्यस्त योगी भी क्षण-भर के प्रमाद से समाधिच्युत हो जाता है। अतः साधु को सदा अप्रमादी रहना चाहिए। तीनों संध्याओं में जिनदेव की वंदना करनी चाहिए और चित्त को स्थिर करने के लिए उनके गुणों का चिंतन करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय हृदयकमल में प्राणवायु के साथ मन का नियमन करके 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं' का ध्यान करना चाहिए। फिर धीरे-धीरे वायु को निकाल देना चाहिए। फिर प्राणवायु को अदंर ले जाकर 'णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं' का ध्यान करना चाहिए और वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिए। फिर प्राणवायु को अंदर ले जाकर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान करना चाहिए और वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार नौ बार करने से चिरसंचित पाप नष्ट होते हैं। जो साधु प्राणवायु को नियमन कर सकने में समर्थ न हों वे वचन के द्वारा ही ऊपर लिखे गए पंच-नमस्कार मंत्रों का जाप कर सकते हैं और यह पंच-नमस्कार मंत्र समस्त विघ्नों को नष्ट करने वाला और सब मंगलों में मुख्य मंगल माना गया है। कायोत्कर्ष के पश्चात् स्तुति वंदना आदि करके आत्मा का ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आत्मध्यान के बिना मुमुक्षु साधु की कोई भी क्रिया मोक्ष साधक नहीं होती।

इस प्रकार प्रातःकालीन देव वंदना को करके फिर सिद्धों की, शास्त्र की और अपने गुरु आचार्य वगैरह की भक्ति करनी चाहिए। इस प्रकार प्रभात में दो घड़ी तक प्रातःकालीन कृत्य करके फिर साधु को स्वाध्याय करना चाहिए। उसके बाद भोजन करने की इच्छा होने पर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार भोजन ग्रहण करना चाहिए और भोजन समाप्त होने पर अगले दिन तक के लिए भोजन का त्याग कर देना चाहिए। फिर लगे हुए दोषों का शोधन करके मध्याह्न के बाद दो घड़ी बीतने पर स्वाध्याय करना चाहिए। जब दिन दो घड़ी बाकी रहे तो स्वाध्याय समाप्त करके और दिन-भर के दोषों का परिमार्जन करके आचार्य की वंदना करनी चाहिए। फिर देव वंदना करके दो घड़ी रात जाने पर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिए और आधी रात होने में दो घड़ी

बाकी रह जाने पर समाप्त कर देना चाहिए फिर चार घड़ी तक भूमि में एक करवट से शयन करना चाहिए। यह साधु का नित्य कृत्य है। नैमित्तिक कृत्य मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों से यह जाना जा सकता है।

साधु के संबंध में और जो बातें जैन शास्त्रों में लिखी हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

साधु जब धूप से छाया में या छाया से धूप में जाते हैं तो मोरपंखी पीछी से अपने शरीर को साफ करके जाते हैं। इसी तरह जब बैठते हैं तो उस स्थान को पीछी से साफ करके बैठते हैं जिससे कोई जीव-जंतु उनके नीचे दबकर मर न जाएँ। जिस घर में पशु बँधे हों या कोई बुरा कार्य करता हो उस घर में साधु को भोजन के लिए नहीं जाना चाहिए तथा घर के अंदर जाकर बार-बार दाता की ओर नहीं देखना चाहिए। यदि संघ में कोई साधु बीमार हो जाए तो उसकी कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अकेले साधु को कहीं नहीं जाना चाहिए, जब कहीं जाए तो दूसरे साधु के साथ ही जाना चाहिए। गुरु को देखते ही उठ खड़े होना चाहिए और उन्हें नमस्कार करना चाहिए। गुरु जो वस्तु दे उसे अत्यंत आदर के साथ दोनों हाथों से लेना चाहिए और लेकर पुनः नमस्कार करना चाहिए। जिन्होंने दीक्षा दी हो, जो पढ़ाते हों, प्रायश्चित देते हों और समाधिमरण कराते हों वे सब गुरु होते हैं।

प्राण चले जाने पर भी साधु को दीनता नहीं दिखलानी चाहिए। भूख से शरीर का कृश और मलिन होना साधु के लिए भूषण है, पवित्र मन वाला साधु उससे लजाता नहीं है। जिसका मन शुद्ध है उसे ही शुद्ध कहा जाता है। मन शुद्धि के बिना स्नान करने पर भी शुद्धि नहीं होती। साधु को चित्र में अंकित भी स्त्री का स्पर्श नहीं करना चाहिए। जिनका स्मरण भी खतरनाक है उनको स्पर्श करना तो दूर की बात है। साधु को रात्रि में ऐसे स्थान पर नहीं सोना चाहिए जहाँ स्त्रियाँ रहती हों। न साध्वियों के साथ मार्ग में चलना चाहिए तथा एकाकी साधु को किसी एकाकी स्त्री के साथ न गपशप करनी चाहिए, न भोजन करना चाहिए और न ही बैठना चाहिए। जहाँ वास करने से साधु का मन चंचल हो उस देश को छोड़ देना चाहिए। जो पाँचों प्रकार के वस्त्र से रहित हैं वे ही निर्ग्रंथ कहलाते हैं, अन्यथा सोना, चाँदी वगैरह कौन साधु रखता है?

परिग्रह की बुराइयाँ बतलाते हुए एक जैनाचार्य ने ठीक ही लिखा है–

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते।
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृदी।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता।
कुतोहि कुलषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता॥42॥ पात्रके. स्तो.

'परिग्रह वालों को चोर आदि का भय अवश्य सताता है। चोरी हो जाने पर गुस्सा और मार डालने के भाव होते हैं, कठोर और असत्य बोलता है। ममत्व होने से मन

भ्रांत हो जाता है। ऐसी स्थिति में कलुषित आत्मा वाले साधुओं को उत्कृष्ट शुक्लध्यान कैसे हो सकता है।' अतः साधु को बिलकुल अपरिग्रही होना चाहिए।

ऊपर साधु की जो चर्या बतलाई है उससे स्पष्ट है कि जैन धर्म में साधु जीवन बड़ा कठोर है। जो संसार, शरीर और भोगों की असारता को हृदयगम कर चुके हैं, वे ही उसे अपना सकते हैं। सुखशील मनुष्यों की गुजर उसमें नहीं हो सकती। जैन साधु का जीवन बिताना सचमुच 'तलवार की धार पै धावनो' है। आजकल के सुख-शील लोगों को साधु जीवन की यह कठोरता संभवतः सह्य न हो और वे इसे व्यर्थ समझें। किंतु उन्हें यह भूल जाना चाहिए कि आजादी प्राप्त करना कितना कठिन है? जिस देश पर विदेशी शक्ति प्रभुता जमा बैठी है, वहाँ से उसे निकालना कितना कठिन होता है यह हम भुक्तभोगी भारतीयों से छिपा नहीं। फिर अगणित भावों से जो कर्मबंधन आत्मा से बँधे हुए हैं उनसे मुक्ति सरलता से कैसे हो सकती है? शरीर और इंद्रियाँ आत्मा के साथी नहीं हैं किंतु उसको परतंत्र बनाए रखने वाले कर्मों के साथी हैं। जो उन्हें अपना समझकर उनके लालन-पालन की चिंता करता है वह कर्मों की जंजीरों को और दृढ़ करता है। इनकी उपमा अंग्रेजी शासन के उन प्रबंधकों से की जा सकती है जिन्हें जनता की जान-माल का रक्षक कहा जाता था किंतु जो अवसर मिलते ही आँखें बदलकर भक्षक बन जाते थे। अतः अपना काम निकालने-भर के लिए ही इनकी अपेक्षा करनी चाहिए और काम निकल जाने पर उन्हें मुँह नहीं लगाना चाहिए। यही दृष्टिकोण साधु की चर्या में रखा गया है। जैन सिद्धांत का यह भी आशय नहीं है कि दुःख उठाने से ही मुक्ति मिलती है। गुस्से में आकर स्वयं कष्ट उठाना या दूसरों को कष्ट देना बुरा है। किंतु संसार की वास्तविक स्थिति को जानकर उससे अपने को मुक्त करने के लिए मुक्ति के मार्ग में पैर रखने पर दुःखों की परवाह नहीं की जाती। जैसा कि लिखा है–

न दुःखं न सुखं यद्वद् हेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥
न दुःखं न सुखं तद्वत् हेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥– सवार्थ.

अर्थात्– 'जैसे रोग से छुटकारा पाने में न दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है किंतु चिकित्सा में लगने पर दुःख हो या अथवा सुख हो। उसी तरह मोक्ष का साधन करने में न दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है। किंतु मुक्ति का उपाय करने पर चाहे दुःख हो या सुख हो, उसकी परवाह नहीं की जाती।'

अतः साधु की चर्या की कठोरता साधु को जान-बूझकर दुःखी करने के उद्देश्य से निर्धारित नहीं की गई है किंतु उसे सावधान, कष्टसहिष्णु, स्वावलंबी और सदा जागरूक रखने के लिए की गई है।

कुछ लोग साधु के स्नान और दंतधावन न करने को बुरी निगाह से देखते हैं, किंतु उनके न करने पर भी जैन साधु की शारीरिक स्वच्छता दर्शनीय होती है। कुछ लोग कहते हैं कि जैन साधुओं के दाँतों पर मल जमा रहता है और उस पर यदि पैसा चिपक जाए तो उसे उत्कृष्ट साधु कहा जाता है। किंतु यह सब दंतकथा मात्र है, दाँतों पर मैल तभी जमता है जब आँतों में मल भरा रहता है। जैन साधु एक बार में परिमित और हल्का आहार लेते हैं। अतः न आँतों में मल रहता है और न दाँतों पर वह जमता है। एक बार किसी ने लिखा था कि जैन साधु अपने पास एक झाड़ू रखते हैं उससे वे चलते समय आगे झाड़कर चलते हैं यह भी कोरी गप्प ही है। मोरपंख की पीछी शरीर और बैठने का स्थान वगैरह शोधन में काम आती है, वह झाड़ू नहीं है। ये सब द्वेषी अथवा नासमझ लोगों की कल्पनाएँ हैं। जैन साधु का शरीर असंस्कृत हो सकता है, किंतु उसकी आत्मा अतिस्वच्छ होती है।

8. गुणस्थान

जैन सिद्धांतों में संसार के सब जीवों को भावों की अपेक्षा से चौदह स्थानों में विभाजित किया है। उन स्थानों को गुणस्थान कहते हैं। गुण या स्वभाव पाँच प्रकार के होते हैं– औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। जो गुण कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है, उसे औदयिक कहते हैं। जो गुण कर्मों के गुण उपशम-अनुदय से होता है, उसे औपशमिक कहते हैं। जो गुण कर्मों के क्षय-विनाश से प्रकट होता है, उसे क्षायिक कहते हैं। जो गुण कर्मों के क्षय और उपशम से होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जो गुण कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभाव से ही होता है, उसे पारिणामिक कहते हैं। चूँकि जीव इन गुण वाला होता है। इसलिए आत्मा को भी गुणनाम से कहा जाता है और उसके स्थान गुणस्थान कहे जाते हैं। वे चौदह हैं–

मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्दृष्टि, सम्यगमिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृतिबादरसांपराय, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोग केवली और अयोग केवली।

चूँकि ये गुणस्थान आत्मा के गुणों के विकास को लेकर माने गए हैं। इसलिए एक दृष्टि से ये आध्यात्मिक उत्थान और पतन के चार्ट जैसे हैं। इन्हें हम आत्मा की भूमिकाएँ भी कह सकते हैं।

पहले कहे गए आठ कर्मों में से सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है। यह कर्म ही आत्मा की समस्त शक्तियों को विकृत करके न तो उसे सच्चे मार्ग का, आत्मास्वरूप का भान होने देता है और न उस मार्ग पर चलने देता है। किंतु ज्योहिं आत्मा के ऊपर से मोह

का पर्दा हटने लगता है त्योंही उसके गुण विकसित होने लगते हैं। अतः इन गुणस्थानों की रचना में मोह के चढ़ाव और उतार का ही ज्यादा हाथ है। इनका स्वरूप संक्षेप में क्रमशः इस प्रकार है–

1. मिथ्यादृष्टि– मोहनीय कर्म के एक भेद मिथ्यात्व के उदय से जो जीव अपने हिताहित का विचार नहीं कर सकते, अथवा विचार कर सकने पर भी ठीक विचार नहीं कर सकते वे जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। जैसे ज्वर वाले को मधुर रस भी अच्छा मालूम नहीं होता वैसे ही उन्हें भी धर्म अच्छा नहीं मालूम होता। संसार के अधिकतर जीव इसी श्रेणी के होते हैं।

2. सासादनसम्यग्दृष्टि– जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय को हटाकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है वह जब सम्यकत्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाता है तो दोनों के बीच का यह दर्जा होता है। जैसे पहाड़ की चोटी से यदि कोई आदमी लुढ़के तो जब तक वह जमीन में नहीं आ जाता तब तक उसे न पहाड़ी की चोटी पर ही कहा जा सकता है और न जमीन पर ही, वैसे ही इसे भी जानना चाहिए। सम्यकत्व चोटी के समान है, मिथ्यात्व ज़मीन के समान है और यह गुणस्थान बीच के ढालू मार्ग के समान है। अतः जब कोई जीव आगे कहे जाने वाले चौथे गुणस्थान से गिरता है तभी यह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में आने के बाद जीव नियम से पहले गुणस्थान में पहुँच जाता है।

3. सम्यगमिथ्यादृष्टि– जैसे दही और गुड़ को मिला देने पर दोनों का मिला हुआ स्वाद होता है उसी प्रकार एक ही काल में सम्यकत्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए परिणामों को सम्यगमिथ्यादृष्टि कहते हैं।

4. असंयतसम्यग्दृष्टि– जिस जीव की दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और जो जीव सम्यग्दृष्टि तो होता है किंतु संयम नहीं पालता वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कहा भी है–

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा वि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अबिरदो सो॥29॥– गो० जीव०

'जो न तो इंद्रियों के विषयों से विरक्त है और न त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का ही त्यागी है, किंतु जिनेंद्रदेव द्वारा कहे गए मार्ग का श्रद्धान करता है तथा जिसे उस पर दृढ़ आस्था है, वह जीव असंयत सम्यग्दृष्टि है।'

आगे के सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं।

5. संयतासंयत– जो संयत भी हो और असंयत भी हो, उसे संयतासंयत कहते हैं अर्थात् जो त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है और यथाशक्ति अपनी इंद्रियों पर भी नियंत्रण रखता है, उसे संयतासंयत कहते हैं। पहले जो गृहस्थ का चारित्र बताया है वह संयतासंयत का ही चरित्र है। व्रती गृहस्थों को ही संयतासंयत कहते हैं। इस गुणस्थान से आगे के जितने गुणस्थान हैं वे सब संयम की ही मुख्यता से होते हैं।

6. प्रमत्तसंयत– जो पूर्ण संयम को पालते हुए भी प्रमाद के कारण उसमें कभी-कभी कुछ असावधान हो जाते हैं उन मुनियों को प्रमत्तसंयम कहते हैं।

7. अप्रमत्तसंयत– जो प्रमाद के न होने से अस्खलित संयम का पालन करते हैं, ध्यान में मग्न उन मुनियों को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

सातवें गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारंभ होती हैं एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी। श्रेणी का मतलब है पंक्ति या मार्ग। जिस श्रेणी पर यह जीव कर्मों का उपशम करता हुआ– उन्हें दबाता हुआ चढ़ता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं और जिस श्रेणी पर कर्मों को नष्ट करता चढ़ता है, उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। प्रत्येक श्रेणी में चार-चार गुणस्थान होते हैं। आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान उपशम श्रेणी में भी शामिल और क्षपक श्रेणी में भी शामिल हैं। ग्यारहवाँ गुणस्थान केवल उपशम श्रेणी का ही है और बारहवाँ गुणस्थान केवल क्षपक श्रेणी का है। ये सभी गुणस्थान क्रमशः होते हैं और ध्यान में मग्न मुनियों के ही होते हैं।

8. अपूर्वकरण– करण शब्द का अर्थ परिमाण है और जो पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। ध्यान में मग्न जिन मुनियों के प्रत्येक समय में अपूर्व परिणाम यानि भाव होते हैं उन्हें अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहा जाता है। इस गुणस्थान में न तो किसी कर्म का उपशम होता है और न क्षय होता है। किंतु उसके लिए तैयारी होती है, जीव के भाव प्रति समय उन्नत, उन्नतर होते चले जाते हैं।

9. अनिवृत्ति बादर सांपराय– समान समयवर्त्ती जीवों के परिणामों में कोई भेद न होने को अनिवृत्ति कहते हैं। अपूर्वकरण की तरह यद्यपि यहाँ भी प्रति समय अपूर्व-अपूर्व परिणाम ही होते हैं। किंतु अपूर्वकरण में तो एक समय में अनेक परिणाम होने से समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं। परंतु इस गुणस्थान में एक समय में एक ही परिणाम होने के कारण समान में रहने वाले सभी जीवों के परिणाम समान ही होते हैं। उन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं और बादर सांपराय का अर्थ 'स्थूलकषाय' होता है। इस अनिवृत्तिकरण के होने पर ध्यानस्थ मुनि या तो कर्मों को दबा देता है या उन्हें नष्ट कर डालता है। यहाँ तक के सब गुणस्थानों में स्थूलकषाय पाई जाती है। यह बतलाने के लिए इस गुणस्थान के नाम के साथ 'बादर सांपराय' पद जोड़ा गया है। कहा भी है–

होंति अणियट्टिणो तो पडिसमयं जैसिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा॥57॥

'वे जीव अनिवृत्तिकरण परिणाम वाले कहलाते हैं, जिनके प्रति समय एक ही परिणाम होता है और जो अत्यंत निर्मल ध्यान रूपी अग्नि की शाखाओं से कर्मरूपी वन को जला डालते हैं।'

10. सूक्ष्म सांपराय— उक्त प्रकार के परिणामों के द्वारा जो ध्यानस्थ मुनि कषाय को सूक्ष्म कर डालते हैं, उन्हें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान वाला कहा जाता है।

11. उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ— उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले ध्यानस्थ मुनि जब उस सूक्ष्मकषाय को भी दबा देते हैं, तो उन्हें उपशांतकषाय कहते हैं।

इसमें कषाय को बिलकुल दबा दिया जाता है। अतएव कषाय का उदय न होने से इनका नाम उपशांतकषाय वीतराग है। किंतु इसमें पूर्ण ज्ञान और दर्शन को रोकने वाले कर्म मौजूद रहते हैं, इसलिए इसे छद्मस्थ भी कहते हैं। पहले लिख आए हैं कि आगे बढ़ने वाले ध्यानी-मुनि आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियों में बँट जाते हैं। उनमें से उपशम श्रेणी वाले मोह को धीरे-धीरे सर्वथा दबा देते हैं पर उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अतः जैसे किसी बर्तन में भरी हुई भाप अपने वेग से ढक्कन को नीचे गिरा देती है, वैसे ही इस गुणस्थान में आने पर दबा हुआ मोह उपशम श्रेणी वाले आत्माओं को अपने वेग से नीचे की ओर गिरा देता है।

12. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ— क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले मुनि मोह को धीरे-धीरे नष्ट करते-करते जब सर्वथा निर्मूल कर डालते हैं, तो उन्हें क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं।

इस प्रकार सातवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले ध्यानी साधु चाहे पहली श्रेणी पर चढ़ें, चाहे दूसरी श्रेणी पर चढ़ें। वे सब आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणी चढ़ने वालों में इतना ही अंतर होता है कि प्रथम श्रेणी वालों से दूसरी श्रेणी वालों में आत्मविशुद्धि और आत्मबल विशिष्ट प्रकार का होता है। जिसके कारण पहली श्रेणी वाले मुनि तो दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर दबे हुए मोह के उद्भूत हो जाने से नीचे गिर जाते हैं और दूसरी श्रेणी वाले मोह को सर्वथा नष्ट करके दसवें बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। यह सब जीव के भावों का खेल है। उसी के कारण ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचने वाले साधु का अवश्य पतन होता है और बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाने वाला कभी नहीं गिरता, बल्कि ऊपर को ही चढ़ता है।

13. संयोगकेवली— समस्त मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर बारहवाँ गुणस्थान होता है। मोहनीय कर्म के चले जाने से शेष कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः बारहवें के अंत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मों का नाश करके क्षीणकषाय मुनि संयोगकेवली हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म के नष्ट हो जाने से उसको केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। वह ज्ञान पदार्थों के जानने में इंद्रिय, प्रकाश और मन वगैरह की सहायता नहीं लेता इसलिए उसे केवल ज्ञान कहते हैं और उसके होने के कारण इस गुणस्थान वाले केवली कहलाते हैं। ये केवली आत्मा

के शत्रु घातिया कर्मों को जीत लेने के कारण जिन, परमात्मा जीवन्मुक्त, अरहंत आदि नामों से पुकारे जाते हैं। जैन तीर्थंकर इसी अवस्था को प्राप्त करके जैन धर्म का प्रवर्तन करते हैं– जगह-जगह घूमकर प्राणिमात्र को उसके हित का मार्ग बताते हैं और इसी कार्य में अपने जीवन के शेष दिन बिताते हैं। जब आयु अंतःमुहूर्त–एक मुहूर्त से कम रह जाती है तो सब व्यापार बंद करके ध्यानस्थ हो जाते हैं। जब तक केवली के मन, वचन और काय का व्यापार रहता है तब तक वे संयोग केवली कहलाते हैं।

14. अयोगकेवली– जब केवली ध्यानस्थ होकर मन, वचन और काय का सब व्यापार बंद कर देते हैं, तब उन्हें अयोगकेवली कहते हैं। ये अयोगकेवली बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मों को भी ध्यान रूपी अग्नि द्वारा भस्म करके समस्त कर्म और शरीर के बंधन से छूटकर मोक्ष लाभ करते हैं।

इस तरह संसार में सब जीव अपने-अपने आध्यात्मिक विकास के तारतम्य के कारण गुणस्थान में बँटे हुए हैं। इनमें से शुरू के चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव सभी के होते हैं। पाँचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्यों को होता है। पाँचवें से आगे के सब गुणस्थान साधुजनों के ही होते हैं। उनमें भी सातवें से बारहवें तक के गुणस्थान आत्मध्यान में लीन साधु के ही होते हैं और उनमें से प्रत्येक गुणस्थान का काल अंतःमुर्हूत (एक मुर्हूत से कम) होता है।

9. मोक्ष या सिद्धि

'मुक्ति' या 'मोक्ष' शब्द का अर्थ 'छुटकारा' होता है। अतः आत्मा के समस्त कर्मबंधनों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष का दूसरा नाम सिद्धि भी है। 'सिद्धि' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' होता है। जैसे धातु को गलाने-तपाने वगैरह से उनमें से मल आदि दूर होकर शुद्ध सोना प्राप्त हो जाता है वैसे ही आत्मा के गुणों को कलुषित करने वाले दोषों को दूर करके शुद्ध आत्मा की प्राप्ति को सिद्धि या मोक्ष कहते हैं। कर्म मल से छुटकारा पाए बिना आत्मा शुद्ध नहीं होती, अतः मुक्ति और सिद्धि ये दोनों एक ही अवस्था के दो नाम हैं जो दो बातों को सूचित करते हैं। मुक्ति नाम कर्मबंधन से छुटकारे को बतलाता है और सिद्धि नाम उस छुटकारे के होने से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति को बतलाता है। अतः जैन धर्म में न तो आत्मा के अभाव को ही मोक्ष कहा जाता है जैसा बौद्ध लोग मानते हैं और न आत्मा के गुणों के विनाश को ही मोक्ष कहा जाता है जैसा वैशेषिक दर्शन मानता है। जैन धर्म में आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है जो ज्ञाता और दृष्टा है किंतु अनादि काल से कर्मबंधन से बँधा हुआ होने के कारण अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता रहता है जब वह उस कर्मबंधन का क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है।

मुक्त अवस्था में उसके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते हैं। जैसे स्वर्ण में से मल निकल जाने पर उसके स्वाभाविक गुण पीतता वगैरह ज़्यादा विकसित हो जाते हैं इसी से शुद्ध सोना ज़्यादा चमकदार और पीला होता है, वैसे ही आत्मा में से कर्म मल के निकल जाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण निखर उठते हैं। मुक्त होने के बाद यह जीव ऊपर को जाता है। चूँकि जीव का स्वभाव ऊपर को जाने का है जैसा कि आग की लपटें स्वभाव से ऊपर को ही जाती हैं। अतः अपने उस स्वभाव के कारण ही मुक्त जीव ऊपर को जाता है। लोक के ऊपर अग्रभाग में मोक्ष स्थान है जिसे जैन सिद्धांत में सिद्धशीला भी कहते हैं। सब मुक्त जीव मुक्त होने के बाद ऊर्ध्वगमन करके इस मोक्ष स्थान में विराजमान हो जाते हैं। जैन सिद्धांत में मोक्ष स्थान की मान्यता भी अन्य सब दर्शनों से निराली है। इसका कारण यह है कि वैदिक दर्शनों में आत्मा को व्यापक माना गया है। अतः उन्हें मोक्ष स्थान के संबंध में विचार करने की आवश्यकता नहीं थी। बौद्ध दर्शन में आत्मा कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है। अतः उनके लिए मोक्ष स्थान की चिंता व्यर्थ थी। किंतु जैन दर्शन आत्मा को एक स्वतंत्र तत्व मानने के साथ व्यापक न मानकर प्राप्त शरीर के बराबर मानता है, इसलिए उसे मोक्ष स्थान के संबंध में विचार करना पड़ा। वह कहता है कि मुक्त जीवन बंधन से छूटकर ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग में पहुँचकर स्थिर हो जाता है, फिर वहाँ से लौटकर नहीं आता।

जैन शास्त्र में मंडली मत का उल्लेख पाया जाता है, जो मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन करता है। किंतु उसने मोक्ष स्थान के संबंध में कोई विचार प्रकट नहीं किया। वह कहता है कि मुक्त जीव अनंत काल तक ऊपर को चला जाता है, उसका कभी भी अवस्थान नहीं होता। ऊर्ध्वगमन मानने पर भी क्या मंडली को मोक्ष स्थान की चिंता न हुई होगी? किंतु जब उसके तार्किक मस्तिष्क में यह तर्क उत्पन्न हुआ होगा कि मुक्त जीव ऊपर को जाकर के भी एक निश्चित स्थान पर ही क्यों रुक जाता है, आगे क्यों नहीं जाता? तो संभवतः उसे इसका कोई समुचित उत्तर न सूझा होगा और फलतः उसने सदा ऊर्ध्वगमन मान लिया होगा, किंतु जैन धर्म में गति और स्थिति में तटस्थ सहायक धर्म और अधर्म नाम के द्रव्यों को स्वीकार करके इस शंका का ही मूलोच्छेद कर दिया गया। यह दोनों द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त हैं और लोक के ऊपर उस अग्रभाग में ही मोक्ष स्थान है। गति में सहायक धर्म द्रव्य वहीं तक व्याप्त है, आगे नहीं। अतः मुक्त जीव वहीं पर रुक जाता है, आगे नहीं जाता।

मुक्त अवस्था में बिना शरीर के केवल शुद्ध आत्मा मात्र रहता है। उसका आकार उसी शरीर के समान होता है जिससे आत्मा ने मुक्त लाभ किया है। जैसे धूप में खड़े होने पर शरीर की छाया पड़ जाती है। वैसे ही शरीराकार आत्मा मुक्तावस्था में होता है

जो अमूर्त होने के कारण दिखाई नहीं देता। मुक्त हो जाने के बाद यह आत्मा जीना, मरना, बुढ़ापा, रोग, शोक, दुःख, भय वगैरह से रहित हो जाता है। क्योंकि ये चीजें शरीर के साथ संबंध रखती हैं और शरीर वहाँ होता नहीं है तथा मुक्तपना आत्मा की शुद्ध अवस्था का ही नामांतर है, अतः जब तक आत्मा शुद्ध है तब तक वहाँ से च्युत नहीं हो सकता और पुनः अशुद्ध होने का कोई कारण वहाँ मौजूद नहीं रहता। अतः वहाँ से कभी नहीं लौटता, सदा निराकुलता रूप आत्मसुख में मग्न रहता है।

10. क्या जैन धर्म नास्तिक है?

जो धर्म ईश्वर को सृष्टि का कर्ता और वेदों को ही प्रमाण मानते हैं, वे जैन धर्म की गणना नास्तिक धर्मों में करते हैं, क्योंकि जैन धर्म न तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता है और न वेदों के प्रामाण्य को ही स्वीकार करता है, किंतु 'जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानता और न वेदों को प्रमाण मानता है वह नास्तिक है' 'नास्तिक' शब्द का यह अर्थ किसी भी विचारशील शास्त्रज्ञ ने नहीं किया। बल्कि जो परलोक नहीं मानता, पुण्य-पाप नहीं मानता, नरक-स्वर्ग नहीं मानता, परमात्मा को नहीं मानता, वह नास्तिक है। 'नास्तिक' शब्द का यही अर्थ पाया जाता है। इस अर्थ की दृष्टि से जैन धर्म घोर आस्तिक ही ठहरता है, क्योंकि वह परलोक मानता है, आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य मानता है, पुण्य-पाप और स्वर्ग-नरक मानता है तथा प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति मानता है। इन सब बातों का विवेचन पहले किया गया है। इन सब मान्यताओं के होते हुए जैन धर्म को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। जो वैदिक धर्म वाले जैन धर्म को नास्तिक कहते हैं, वे वैदिक धर्म को न मानने के कारण ही ऐसा कहते हैं। किंतु ऐसी स्थिति में तो सभी धर्म परस्पर में एक-दूसरे की दृष्टि में नास्तिक ही ठहरेंगे। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जैन धर्म परम आस्तिक है।

जैन साहित्य

जैन साहित्य बड़ा विशाल है। भारतीय साहित्य में उसका एक विशिष्ट स्थान है। लोकोपकारी अनेक जैनाचार्यों ने अपने जीवन का बहुभाग उसकी रचना में व्यतीत किया है। जैन धर्म में बड़े-बड़े प्रकांड जैनाचार्य हो गए हैं जो प्रबल तार्किक वैयाकरण, कवि और दार्शनिक थे। उन्होंने जैन धर्म के साथ-साथ भारतीय साहित्य के इतर क्षेत्रों में भी अपनी लेखनी के जौहर दिखाए हैं। दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, कथा, शिल्प, मंत्र-तंत्र, वास्तु, वैद्यक आदि-आदि अनेक विषयों पर प्रचुर प्राचीन जैन साहित्य आज भी उपलब्ध है जबकि बहुत-सा धार्मिक द्वेष, लापरवाही तथा अज्ञानता के कारण नष्ट हो चुका है।

भारत की अनेक भाषाओं में जैन साहित्य लिखा हुआ है, जिनमें प्राकृत, संस्कृत और द्रवेड़ियन भाषाओं का नाम उल्लेखनीय है। जैन धर्म ने प्रारंभ से ही अपने प्रचार के लिए लोक भाषाओं को अपनाया। अतः अपने-अपने समय की लोक भाषा में भी जैन साहित्य की रचनाएँ पाई जाती हैं। इसी से जर्मन विद्वान् डॉक्टर विंटरनीट्ज ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास में लिखा[1] है– भारतीय भाषाओं की दृष्टि से जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैन सदा इस बात की बेहद परवाह करते थे कि उनका साहित्य अधिक से अधिक जनता के परिचय में आए। इसी से आगमिक साहित्य तथा प्राचीनतम टीकाएँ प्राकृत में लिखी गईं हैं। श्वेतांबरों ने 8वीं शती से और दिगंबरों ने उससे कुछ पहले संस्कृत में रचनाएँ करना आरंभ किया। बाद को 10वीं से 12वीं शती तक अपभ्रंश भाषा में, जो उस समय की जनभाषा थी, रचनाएँ की गईं और आजकल के जैन बहुत-सी आधुनिक भाषाओं का उपयोग करते हैं तथा उन्होंने हिंदी, गुजराती साहित्य को तथा दक्षिण में तमिल और कन्नड़ साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध किया है।

आज जो जैन साहित्य उपलब्ध है, वह सब भगवान् महावीर की उपदेश परंपरा से संबंध है। भगवान् महावीर के प्रधान गणधर गौतम इंद्रभूति थे। इन्होंने भगवान् महावीर के उपदेशों को अवधारण करके बारह अंग और चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया। जो इन अंगों और पूर्वों का परगामी होता था, उसे श्रुतकेवली कहा जाता था।

---

1. A History of Indian Literature, Ve. II, P. 427-428

जैन परंपरा में ज्ञानियों में दो ही पद सबसे महान गिने जाते हैं– प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवलज्ञानी का और परोक्षज्ञानियों में श्रुतकेवली का। जैसे केवलज्ञानी समस्त चराचर जगत् को प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं, वैसे ही श्रुतकेवली शास्त्र में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्ट जानते हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन केवलज्ञानी हुए और उनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए जिनमें से अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके समय में मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब ये अपने संघ के साथ दक्षिण की ओर चले गए और फिर लौटकर नहीं आए। अतः दुर्भिक्ष के पश्चात् पाटलीपुत्र में भद्रबाहु स्वामी की अनुपस्थिति में जो अंग साहित्य संकलित किया गया, वह एक पक्षीय था। मूल या दूसरे पक्ष ने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दुर्भिक्ष के समय में जो साधु मगध में ही रहे थे, सामयिक कठिनाइयों के कारण वे अपने आचार में शिथिल हो गए थे। यहीं से जैन संघ में श्वेतांबर संप्रदाय का जन्म हुआ और जिन धर्म (दिगंबर) को भी संप्रदाय कहा गया और साहित्य भी जुदा-जुदा हो गया।

जैन (दिगंबर) साहित्य

श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ। चौदह पूर्वों में से 4 पूर्व उनके साथ ही लुप्त हो गए। उनके पश्चात् ग्यारह अंग और 10 पूर्वों के ज्ञाता हुए। फिर 5 आचार्य ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। पूर्वों का ज्ञान एक तरह से नष्ट ही हो गया और छुट-पुट ज्ञान ही बाकी रह गया। फिर 4 आचार्य केवल प्रथम आचारांग के ही ज्ञाता हुए और अंग ज्ञान भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इस तरह कालक्रम से विच्छिन्न होते-होते वीर निर्वाण से 683 वर्ष बीतने पर जब अंगों और पूर्वों के बचे-खुचे ज्ञान के भी लुप्त होने का प्रसंग उपस्थित हुआ तब गिरनार पर्वत पर स्थित आचार्य धरसेन ने भूतबलि और पुष्पदंत नाम के दो सर्वोत्तम साधुओं को अपना शिष्य बनाया जिन्होंने षट्खंडागम नाम के सूत्र ग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में की। इसी समय के लगभग गुणधर नाम के आचार्य हुए। उन्होंने 233 गाथाओं में कसायपाहुड़ या कषायप्राभृत की रचना की। कषायप्राभृत आचार्य परंपरा से आर्यमंक्ष और नागहस्ति नाम के आचार्यों को प्राप्त हुआ। उनसे सीखकर यतिवृषभ नामक आचार्य ने उन पर वृत्तिसूत्र रचे, जो प्राकृत में हैं और 6,000 श्लोक प्रमाण हैं। इन दोनों महान ग्रंथों पर अनेक आचार्यों ने टीकाएँ रचीं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इनके अंतिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए। ये बड़े समर्थ विद्वान् थे। इन्होंने षट्खंडागम पर सुप्रसिद्ध टीका धवला शंक संवत् 738 में पूरी की। यह टीका 72 हजार श्लोक प्रमाण हैं। दूसरे महान् ग्रंथ कसायपाहुड़ पर भी इन्होंने टीका लिखी। किंतु वे उसे 20 हजार प्रमाण

और लिखकर ही स्वर्गवासी हो गए। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने 40 हजार प्रमाण और लिखकर शक संवत् 759 में उसे पूरा किया। इस टीका का नाम जयधवला है और यह 60 हजार श्लोक प्रमाण हैं। इन दोनों टीकाओं की रचना संस्कृत और प्राकृत के सम्मिश्रण से की गई है। बहुभाग प्राकृत में है। बीच-बीच में संस्कृत भी आ जाती है। जैसा कि टीकाकार ने उसकी प्रशस्ति में लिखा है–

प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः॥

षट्खंडागम का ही अंतिम खंड महाबंध है जिसकी रचना भूतबलि आचार्य ने की थी यह भी प्राकृत में है और इसका प्रमाण 41 हजार है। इन सभी ग्रंथों में जैन कर्म सिद्धांत का बहुत सूक्ष्म और गहन वर्णन है।

चिरकाल से ये तीनों महान् ग्रंथ मूड़विद्री (दक्षिण कनारा) के जैन भंडार में ताड़पत्र पर सुरक्षित थे। वहाँ के भट्टारक महोदय तथा पंचों की उदात्त भावना के फलस्वरूप अब इन तीनों का प्रकाशन हिंदी टीका के साथ हो रहा है।

ईसा की दसवीं शताब्दी में दक्षिण में नेमिचंद सिद्धांत चक्रवर्ती नामक एक जैनाचार्य हुए। वे उक्त तीनों आगम ग्रंथों के महान् विद्वान् थे। उन्होंने उनसे संकलन करके गोमट्टसार तथा लब्धिसार क्षपणसासार नाम के दो संग्रह ग्रंथ रचे, जो प्राकृत गाथाबद्ध महान् ग्रंथ हैं। उनमें भी जीव, कर्म और कर्मों के क्षपण यानी विनाश का सुंदर किंतु गहन वर्णन है। दोनों ग्रंथों पर संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध हैं और जयपुर के स्व० पं० टोडरमलजी की जयपुरी भाषा में रची हुई भाषा-टीका भी उपलब्ध है। इन टीकाओं के साथ यह महान् ग्रंथ कई खंडों में छपकर प्रकाशित हो चुका है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में कुंदकुंद नाम के एक महान् आचार्य हो गए हैं। इनके तीन ग्रंथ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय अतिप्रसिद्ध हैं जो कुंदकुंदत्रयी के नाम से भी विख्यात हैं। तीनों ग्रंथ प्राकृत में हैं। समयसार में विविध दृष्टियों से आत्मतत्व का सुंदर विवेचन है, जैन अध्यात्म का यह अपूर्व ग्रंथ है। नवीं शती के अध्यात्म प्रेमी आचार्य अमृतचंद्र सूरी ने इस ग्रंथ पर संस्कृत पद्यों में कलश की रचना की है जो बड़ी हृदयहारिणी है। सत्रहवीं शताब्दी के कविवर बनारसीदास ने कलशों का हिंदी में अत्यंत रोचक पद्यानुवाद किया है।

प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में जैनाभिमत तत्वों का युक्तिपूर्ण विवेचन है। कहा जाता है कि आचार्य कुंदकुंद ने बहुत-से प्राभृतों की रचना की थी, किंतु उनमें से आज केवल आठ प्राभृत उपलब्ध हैं। तमिल भाषा के तिरुकुरुल काव्य के रचयिता भी इन्हीं को कहा जाता है। इनके शिष्य उमास्वामी या उमास्वाति नाम के जैनाचार्य थे, जिन्होंने सर्वप्रथम जैनावाङ्मय को संस्कृतसूत्रों में निबद्ध करके तत्वार्थसूत्र नाम के

सूत्रग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ के दस अध्यायों में जीव आदि सात तत्वों का सुंदर विवेचन किया गया है। अपने-अपने धर्मों में गीता, कुरान और बाइबिल को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैन धर्म में इस ग्रंथ को प्राप्त है। दिगंबर और श्वेतांबर भी इसे समान रूप से मानते हैं। दोनों ही परंपराओं के आचार्यों ने इसके ऊपर अनके टीकाएँ रची हैं जिनमें पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि एवं अकलंकदेव का तत्वार्थराजवार्तिक और विद्यानंदि का तत्वार्थश्लोकवार्तिक उल्लेखनीय है। दोनों ही वार्तिकग्रंथ संस्कृत में बड़ी ही प्रौढ़ शैली में रचे गए हैं और जैन दर्शन के अपूर्व ग्रंथ हैं।

दर्शन और न्यायशास्त्र में स्वामी समंतभद्र और सिद्धसेन की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। स्वामी समंतभद्र ने आप्तमीमांसा नामक एक प्रकरण ग्रंथ रचा है, जिसमें स्याद्वाद का सुंदर विवेचन करते हुए इतर दर्शनों की विचारपूर्ण आलोचना की गई है। इस आप्तमीमांसा पर स्वामी अकलंकदेव ने 'अष्टशती' नामक प्रकरण रचा है और अष्टशती पर स्वामी विद्यानंद जी ने अष्टसहस्त्री नाम की टीका रची है। अष्टसहस्त्री इतनी गहन है कि इसको समझने में कष्टसहस्त्री का अनुभव होता है। इन्हीं विद्यानंद की आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा भी भाषा, विषय विवेचन की दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

अकलंकदेव को जैनन्याय का सर्जक कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इन्होंने टीका ग्रंथों के सिवासिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि अनेक प्रकरण ग्रंथ रचे हैं जो बहुत ही प्रौढ़ और गहन हैं। इन प्रकरणों पर आचार्य अनंतवीर्य वादिराज और प्रभाचंद्र नाम के प्रकांड जैन नैयायिकों ने विस्तृत व्याख्या ग्रंथ रचे हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। माणिक्यनंदि आचार्य का परीक्षामुख नामक सूत्रग्रंथ जैनन्याय के अभ्यासियों के लिए बड़े ही काम का है। इस पर आचार्य प्रभाचंद्र ने प्रमेयकमलमार्तंड नाम का महान् व्याख्या ग्रंथ रचा है। उसे अति संक्षिप्त करके अनंतवीर्य नाम के आचार्य ने प्रमेयरत्नमाला नाम की टीका बनाई है। पात्रकेसरी का त्रिलक्षणकदर्शन, श्रीदत्त का जल्पनिर्णय आदि कुछ ऐसे भी महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं जो आज अनुपलब्ध हैं, केवल अन्य ग्रंथों में उनका उल्लेख मिलता है।

पुराण साहित्य में हरिवंशपुराण, महापुराण, पद्मचरित आदि ग्रंथों का नाम उल्लेखनीय है। जैन पुराणों का मूल प्रतिपाद्य विषय 63 शलाका-पुरुषों के चरित्र हैं। इनमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 8 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव हैं। जिनमें पुराण पुरुषों का पुण्यचरित्र वर्णन किया गया हो उसे पुराण कहते हैं। हरिवंशपुराण में कौरवों और पांडवों का वर्णन है और पद्मचरित में श्री रामचंद्र का वर्णन है। इस तरह से ये दोनों ग्रंथ क्रमशः जैन महाभारत और जैन रामायण कहे जा सकते हैं। इनके सिवा चरितग्रंथों का तो जैन साहित्य में भंडार भरा है। सकलकीर्ति आदि आचार्यों ने अनेक चरित ग्रंथ रचे हैं। आचार्य जटासिंह नंदि का वरांगचरित एक

सुंदर पौराणिक काव्य है। काव्य साहित्य भी कम नहीं है। वीरनंदि का चंद्रप्रभचरित, हरिचंद्र का धर्मशर्माभ्युदय, धनंजय का द्विसंधान और वाग्भट्ट का नेमिनिर्वाण काव्य उच्चकोटि के संस्कृत महाकाव्य हैं।

अपभ्रंश भाषा में तो इन पुराण और चरित ग्रंथों का संस्कृत की अपेक्षा भी बाहुल्य है। अपभ्रंश भाषा में जैन कवियों ने खूब रचनाएँ की हैं। इस भाषा का साहित्य जैन भंडारों में भरा पड़ा है। अपभ्रंश बहुत समय तक यहाँ की लोक भाषा रही है और इसका साहित्य भी बहुत ही लोकप्रिय रहा है। पिछले कुछ दशकों से इस भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है, अब तो वर्तमान प्रांतीय भाषाओं की जननी होने के कारण भाषाशास्त्रियों और विभिन्न भाषाओं का इतिहास लिखने वालों के लिए इसके साहित्य का अध्ययन आवश्यक हो गया है। पुष्पदंत इस भाषा के महान् कवि थे। इनका 'त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार' एक महान् ग्रंथ है। पुष्पदंत ने महाकवि स्वयंभू का स्मरण किया है। स्वयंभू, पुष्पदंत, कनकामर, रइधु आदि अनेक कवियों ने अपभ्रंश भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है।

कथा साहित्य भी विशाल है। आचार्य हरिषेण का कथाकोश बहुत प्राचीन (ई० सं० 932) है। आराधना कथाकोश, पुण्याश्रव कथाकोश आदि अन्य भी बहुत-से कथाकोश हैं जिनमें कथाओं के द्वारा धर्माचरण का शुभ फल और अधर्माचरण का अशुभ फल दिखलाया गया है। चंपू काव्य भी जैन-साहित्य में बहुत हैं। सोमदेव का यशस्तिलक चंपू, हरिश्चंद्र का जीवंधर चंपू और अर्हद्दास का पुरुदेवचंपू उत्कृष्ट चंपू काव्य हैं। गद्यग्रंथों में वादीभसिंह की गद्यचिंतामणि उल्लेखनीय हैं। नाटकों में हस्तिमल्ल के विक्रांतकौरव, मैथिलीकल्याण, अंजनापवनंजय आदि दर्शनीय हैं। स्तोत्र साहित्य भी कम नहीं है। महाकवि धनंजय का विषापहार, कुमुदचंद्र का कल्याण मंदिर आदि स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं। स्वामी समंतभद्र के स्वयंभू स्तोत्र में तो जैन दर्शन के उच्चकोटि के सिद्धांतों को कूट-कूटकर भर दिया गया है। वह एक दार्शनिक स्तवन है। नीति ग्रंथों की भी कमी नहीं है। वादीभसिंह का क्षत्र-चूड़ामणि काव्य का एक नीतिपूर्ण काव्य ग्रंथ है। आचार्य अमितगतिका सुभाषितरत्नसंदोह, पद्मनंदि आचार्य की पद्मनंदि पंचविंशति का और महाराज अमोघवर्ष की प्रश्नोत्तर रत्नमाला भी सुंदर नीतिग्रंथ हैं।

इसके सिवा ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोश, छंद, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी जैनाचार्यों की अनेक रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। ज्योतिष और आयुर्वेद विषयक साहित्य अभी प्रकाश में कम आया है। व्याकरण में पूज्यपाद देवनंदि का जैनेंद्र व्याकरण और शाकटायन का शाकटायन व्याकरण उल्लेखनीय है। कोष में धनंजय नाममाला और विश्वलोचन कोश, अलंकार में अलंकार

चिंतामणि, गणित में महावीर गणितसार संग्रह और राजनीति में सोमदेव का नीतिवाक्यामृत आदि स्मरणीय है।

यह तो हुआ संस्कृत और प्राकृत साहित्य का विहंगावलोकन।

द्रवेड़ियन भाषाओं में भी जैनाचार्यों ने खूब रचनाएँ की हैं, जिनके कारण एक तरह से उन भाषाओं को महत्व मिला है। कन्नड़ी भाषा में रचना करने वाले अति प्राचीन कवि जैन थे। कन्नड़ साहित्य को उन्नत, प्रौढ़ और परिपूर्ण बनाने का श्रेय जैनाचार्यों और जैन कवियों को ही प्राप्त है। तेरहवीं शताब्दी तक कन्नड़ भाषा के जितने प्रौढ़ ग्रंथकार हुए वे सब जैन ही थे। 'पंप भारत' सदृश महाप्रबंध और 'शब्दमणिदर्पण' सदृश शास्त्रीय ग्रंथों को देखकर जैन कवियों के प्रति किसे श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। कर्नाटक गद्यग्रंथों में प्राचीन 'चामुंडरायपुराण' के लेखक वीरमार्तंड चामुंडराय जैन ही थे। आदि पंप, कवि चक्रवर्ती रन्न, अभिनव पंप, कत्तिदेवी आदि कवि जैन ही थे।

'कर्नाटक कवि चरिते' के मूल लेखक आर० नरसिंहाचार्य ने जैन कवियों के संबंध में अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा है, जैनी कन्नड़ भाषा के आदिकवि हैं। आज तक उपलब्ध सभी प्राचीन और उत्तम कृतियाँ जैन कवियों की ही हैं। विशेषतया जैन प्राचीन कवियों के कारण ही कन्नड़ भाषा का सौंदर्य एवं कांति है। पंप, रत्न और पोन्न को कवियों में रत्न मानना उचित है। अन्य कवियों ने भी 14वीं शताब्दी के अंत तक सर्वश्लाघ्य चंपूकाव्यों की रचना की है। कन्नड़ भाषा के सहायक छंद, अलंकार, व्याकरण कोष आदि ग्रंथ अधिकतया जैनियों के द्वारा ही रचित हैं।'

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि दक्षिण और कर्नाटक का जितना जैन साहित्य है वह सब ही जैन (दिगंबर) विद्वानों की रचना है तथा जिन धर्म (दिगंबर) संप्रदाय के जितने प्रधान-प्रधान आचार्य हैं वे प्रायः सब ही कर्नाटक देश के निवासी थे और वे न केवल संस्कृत और प्राकृत के ही ग्रंथकर्ता थे, किंतु कन्नड़ी के भी प्रसिद्ध ग्रंथकार थे।

तमिल भाषा का साहित्य भी प्रारंभ काल से ही जैन धर्म और जैन संस्कृति से प्रभावित है। 'कुरल' और 'नालदियार' नाम के दो महान् ग्रंथ उन जैनाचार्यों की कृति हैं जो तमिल देश में बस गए थे। इन ग्रंथों के अवतरण उत्तरवर्ती साहित्य में बहुतायत से पाए जाते हैं। तमिल का नीतिविषयक साहित्य काव्यसाहित्य की अपेक्षा प्राचीन है और उस पर जैनाचार्यों का विशेष प्रभाव है। 'पलमोलि' के रचयिता भी जैन थे। इसमें बहुमूल्य पुरातन सूक्तियाँ हैं। कुरल और नालदियार के बाद इसका तीसरा नंबर है। 'तिनै मालै नू रैम्बतु' के लेखक भी जैन थे। यह ग्रंथ शृंगार तथा युद्धक सिद्धांतों का वर्णन करता है। पश्चात्‌वर्ती टीकाकरों के द्वारा इस ग्रंथ से अवतरण खूब लिए गए हैं। इसी समुदाय का एक ग्रंथ 'नान् मणिक्कडिगे' है जो वेणवा छंद में है।

तमिल भाषा के पाँच महाकाव्यों में से चिंतामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैत्तापति जैन लेखों की कृति हैं। सिलप्पडिकारम् अत्यंत महत्वपूर्ण तमिल ग्रंथ है। यह ग्रंथ साहित्यिक रीतियों के विषय में प्रमाणभूत गिना जाता है। इसके तीन महाखंड हैं और कुल अध्याय तीस हैं।

पाँच लघु काव्य हैं– यशोधरकाव्य, चूड़ामणि, उदयन कवै, नागकुमार काव्य और नीलकेशी। इन पाँचों काव्यों के कर्ता जैन आचार्य थे। जैन लेखकों ने तमिल भाषा का व्याकरण भी रचा है। 'नन्नोल' तमिल भाषा का बहुप्रचलित व्याकरण है। यह स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ाया जाता है। निघंटु ग्रंथों में दिवाकर निघंटु, पिंगल निघंटु और गुणमणि निघंटु का नाम उल्लेखनीय है। जैनों ने गणित और ज्योतिष संबंधी रचनाएँ भी की हैं। इस तरह तमिल भाषा जैन साहित्य से भरपूर है।

गुजराती भाषा में भी दि० जैन कवियों ने अनेक रचनाएँ की हैं, जिनका विवरण 'जैनगुर्जर कवियों' से प्राप्त होता है।

दिगंबर साहित्य में हिंदी ग्रंथों की संख्या भी बहुत है। इधर 300 वर्षों में अधिकांश ग्रंथ हिंदी में ही रचे गए हैं। जैन श्रावक के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना आवश्यक है। अतः जन-साधारण की भाषा में जिन वाणी को निबद्ध करने की चेष्टा प्रारंभ से ही होती आई है। इसी से हिंदी जैन साहित्य में गद्यग्रंथ बहुतायत से पाए जाते हैं। लगभग सोलहवीं शताब्दी से लेकर हिंदी गद्यग्रंथ जैन साहित्य उपलब्ध हैं और इसलिए हिंदी भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वालों के लिए वे बड़े काम के हैं। सैद्धांतिक ग्रंथों–में ऊपर गिनाए गए तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमट्टसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, षट्खंडागम, कषायप्राभृत आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों की हिंदी टीकाएँ मौजूद हैं। न्याय ग्रंथों में भी परीक्षामुख, आप्तमीमांसा प्रमेयरत्नमाला, न्यायदीपिका और तत्वार्थश्लोकवर्तिक जैसे महान् ग्रंथों की हिंदी टीकाएँ उपलब्ध हैं। इन टीका ग्रंथों का अध्ययन केवल हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में ही प्रचलित नहीं है किंतु गुजरात, महाराष्ट्र और सुदूर दक्षिण प्रांत के जैनी भी उनसे लाभ उठाते हैं। इस तरह जैन धर्म का साहित्य हिंदी भाषा के प्रचार में भी सहायक रहा है। प्रायः सभी पुराण ग्रंथों और अनेक कथा ग्रंथों का अनुवाद हिंदी भाषा में हो चुका है। अनुवाद का यह कार्य सर्वप्रथम जयपुर के विद्वानों के द्वारा ढुढ़ारी भाषा में प्रारंभ किया गया था। आज भी उनके अनुवाद उसी रूप में पाए जाते हैं।

यह तो हुई अनुवादित साहित्य की चर्चा। स्वतंत्र रूप से भी हिंदी गद्य और हिंदी पद्य दोनों में जैन सिद्धांत को निबद्ध किया गया है। गद्य-साहित्य में पं० टोडरमल जी का मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ और पद्य-साहित्य में पं० दौलतराम जी का छहढाला जैन सिद्धांत के अमूल्य रत्न है। पं० टोडरमल जी, पं० दौलतराम जी, पं० सदासुख,

पं० बुधजन, पं० द्यानतराय, भैया भगवतीदास, पं० जयचंद आदि अनेक विद्वानों ने अपने समय की हिंदी भाषा में गद्य अथवा पद्य अथवा दोनों में अपनी रचनाएँ की हैं। विनती, पूजापाठ, धार्मिक भजन आदि भी पर्याप्त हैं। पद्य साहित्य में भी अनेक पुराण और चरित रचे गए हैं।

हिंदी जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें शांतरस की सरिता ही सर्वत्र प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत और प्राकृत के जैन ग्रंथकारों के समान हिंदी जैन ग्रंथकारों का भी एक ही लक्ष्य रहा है कि मनुष्य किसी तरह सांसारिक विषयों के फंदे से निकलकर अपने को पहचाने और अपने उत्थान का प्रयत्न करे। इसी लक्ष्य को सामने रखकर सबने अपनी-अपनी रचनाएँ की हैं। हिंदी जैन साहित्य में ही नहीं, अपितु हिंदी साहित्य में कविवर बनारसीदास जी की आत्मकथा तो प्रथम और अपूर्व ही वस्तु है। उनका नाटक समयसार भी अध्यात्म का एक अपूर्व ग्रंथ है।

श्वेतांबर साहित्य

पाटलीपुत्र में जो अंग संकलित किए गए थे, कालक्रम से वे भी अव्यवस्थित हो गए तब महावीर निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में मथुरा में फिर एक सभा हुई और उसमें फिर से शेष बचे अंग साहित्य को सुव्यवस्थित किया गया। इसे माथुरी वाचना कहते हैं। इसके बाद महावीर निर्वाण की दसवीं शती में वल्लभीनगरी (काठियावाड़) में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के सभापतित्व में फिर एक सभा हुई। इसमें फिर से ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। बारहवाँ अंग तो पहले ही लुप्त हो चुका था। अब तक स्मृति के आधार पर ही अंगसाहित्य का पठन-पाठन चलता था, किंतु अब वीर नि० सं० 980 (ई० सं० 453) के लगभग उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। विद्यमान जैन आगमों की व्यवस्था अपने संपादक देवर्द्धिगणिकी मुख्य रूप से आभारी है। उन्होंने इन्हें अध्यायों में विभक्त किया। जो भाग त्रुटित हो गए थे उन्हें अपनी बुद्धि के अनुसार संबद्ध[1] किया। डॉ० जैकोवी के कथनानुसार देवर्द्धिगणि के पश्चात् भी जैन आगमों में बहुत फेरफार हुआ है।

1. समयसुंदरगणिने अपने समाचारी शतक में लिखा है–
'श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिक नवशत-(९८०) वर्षे जातेन द्वादश-वर्षीयदुर्भिक्षवशात् बहुतरसाधु व्यात्तौबहुश्रुतविच्छिंतौ च जातायां... भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् बलभ्यामाकार्य तन्मखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः।'***

जैन संप्रदाय श्वेतांबर संपूर्ण जैनागम छह भागों में विभक्त है–

1. ग्यारह अंग– आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग भगवती, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र।

2. बारह उपांग– औपपातिक, राजप्रश्न, जीवाधिगम, प्रज्ञापना, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावली, कल्पावतंस, पुष्पिक, पुष्पचूलिक और वह्निदशा।

3. दस प्रकीर्णक– चतुःशरणं, आतुर प्रत्याख्यान, भक्त, संस्तार, तंदुलवचारिक, चंद्रवेधक, देवेंद्रस्तव, गणि-विद्या, महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव।

4. छह छेदसूत्र– निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, पंचकल्प।

5. दो सूत्र– नंदीसूत्र और अनुयोगद्वार।

6. चार मूलसूत्र– उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिंडनिर्युक्ति।

ये पैंतालिस ग्रंथ आगम कहे जाते हैं। इनकी भाषा आर्षप्राकृत कहलाती है। इनमें आचार, व्रत, जैनतत्व, ज्योतिष, भूगोल आदि विविध विषयों का वर्णन है। दिगंबर धर्म के साहित्य में अंग और अंगबाह्य ग्रंथों के नामों तथा उनमें वर्णित विषयों का उल्लेख मिलता है, किंतु उसमें उपांग आदि भेद नहीं है। श्वेतांबर संप्रदाय में चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति को उपांग माना है किंतु दिगंबर साहित्य में इनकी गणना दृष्टिवाद के एक भेद परिकर्म की है। इसी तरह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नाम के ग्रंथों को अंगबाह्य बतलाया है। दिगंबर धर्म में अंगों के अतिरिक्त जो साहित्य है वह सब अंगबाह्य माना गया है।

श्वेतांबर संप्रदाय में देवर्द्धिगणि के पश्चात् जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण नाम के एक विशिष्ट आचार्य हुए। इनका विशेषावश्यक भाष्य एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसमें तर्कपूर्ण शैली से ज्ञान की सुंदर चर्चा की गई है। जिस तत्वार्थसूत्र का उल्लेख हम दिगंबर साहित्य में कर आए हैं उस पर एक भाष्य भी है, जिसे कुछ विद्वान् स्योपज्ञ मानते हैं। इस पर आचार्य सिद्धसेनगणि का तत्वार्थ भाष्य एक विस्तृत टीका है।

*** **अर्थात्–** 'श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने वीर नि० सं० ९८० ने बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के कारण बहुत-से साधुओं के मर जाने से बहुत-से श्रुत के नष्ट हो जाने पर, भव्यजीवों के उपकार के लिए शास्त्र की भक्ति से प्रेरित होकर संघ के आग्रह से बाकी बचे सब साधुओं को बलभी नगरी में बुलाकर, उनके मुख से बाकी बचे, कमती-बढ़ती; त्रुटित आगम के वाक्यों का अपनी बुद्धि के अनुसार संकलन करके उन्हें पुस्तक में लिखवाया। इसलिए मूल में गणधर प्रतिपादित होने पर भी संकलन करने के कारण सभी आगमों के कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण कहलाये।'

आगमिक साहित्य के ऊपर भी अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। नवांग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि ने नौ आगमों पर संस्कृत भाषा में सुंदर टीकाएँ रची हैं। इस दृष्टि से मल्लधारी हेमचंद्र का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने भी आगमिक साहित्य पर विद्वतापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। विशेषावश्यक भाष्य पर रची इनकी टीका बहुत ही सुंदर है।

श्वेतांबर संप्रदाय में कर्म विषयक साहित्य भी पर्याप्त है जिसमें कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन और नवीन कर्मग्रंथ उल्लेखनीय है। 13वीं शती में श्री देवेंद्रसूरि ने नवीन कर्मग्रंथों की रचना स्वोपज्ञ टीका के साथ की थी। उनकी टीकाओं में कर्म साहित्य की विपुल सामग्री संकलित है। न्याय विषयक साहित्य में सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार जैन न्याय का आद्य ग्रंथ माना जाता है। इनका ही 'सन्मति तर्क प्रकरण' भी बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इनमें आगमिक मान्यताओं को भी तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकरण ग्रंथ पर अभयदेवसूरि की महत्वपूर्ण टीका है। इस संप्रदाय में हरिभद्रसूरि नाम के एक प्रख्यात विद्वान् हो गए हैं। किंवदंती है कि इन्होंने 1,400 प्रकरण ग्रंथ रचे थे। इनके उपलब्ध दार्शनिक ग्रंथों में अनेकांतवाद प्रवेश, अनेकांत जयपताका तथा शास्त्रवार्ता समुच्चय का नाम उल्लेखनीय है। तत्वार्थसूत्र पर भी इन्होंने एक टीका लिखी है। वादिदेव सूरि का प्रमाणनयतत्वालोकालकार तथा उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति स्याद्वादरत्नाकर व आचार्य हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा और मल्लिषेणसूरि की स्याद्वादमंजरी भी न्यायशास्त्र के सुंदर ग्रंथ रत्न हैं। सत्रहवीं शती में आचार्य यशोविजय भी एक कुशल नैयायिक हुए हैं। इन्होंने विद्यानंदि की अष्टसहस्री पर एक टिप्पण रचा है तथा नयोपदेश, नयामृततरंगिणी, तर्क परिभाषा आदि अनेक ग्रंथ रचे हैं। जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों पर इन्होंने नए दृष्टिकोण से विचार किया है तथा नव्यन्याय की शैली में भी ग्रंथ रचे हैं।

पुराण साहित्य में विमलसूरि का पउमचरिय (पद्मचरित) एक प्राकृत काव्य है। यह प्राचीन समझा जाता है। इसमें रामचंद्र की कथा है। 'वसुदेव हिंडी' भी प्राकृत भाषा का पुराण है। इसमें महाभारत की कथा है। यह भी प्राचीन है। आचार्य हेमचंद्र का त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित भी उल्लेखनीय है। अन्य भी अनेक ग्रंथ हैं।

काव्यों में हेमचंद्र का द्वयाश्रय महाकाव्य, अभयदेव का जयंतविजय, मुनिचंद्र का शांतिनाथ चरित अच्छे काव्य समझे जाते हैं। गद्य काव्य में धनपाल कवि की तिलकमंजरी एक सुंदर आख्यायिका ग्रंथ है। नाटकों में रामचंद्रसूरि का, नल-विलास, सत्य हरिश्चंद्र राघवाभ्युदय, निर्भयव्यायोग आदि का नाम उल्लेखनीय है। जयसिंह का हम्मीरमदमर्दन एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें चौलुक्यराज वीरधवल के द्वारा हम्मीर नाम के यवन राजा को भगाने का वर्णन है।

लाक्षणिक ग्रंथ में आचार्य हेमचंद्र का काव्यानुशासन द्रष्टव्य है। कथा साहित्य का तो संप्रदाय में भंडार भरा है। उसमें उद्योतनसूरि की कुवलयमाला, हरिभद्र की समराइच्च कथा और पादलिप्त की तरंगवती कथा अति प्रसिद्ध है। कुवलयमाला तो प्राकृत साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। यह प्राकृत भाषा के अभ्यासियों के लिए बहुत उपयोगी है। इसी तरह आचार्य सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंच कथा भारतीय साहित्य का प्रथम रूपक ग्रंथ माना जाता है।

व्याकरण में आचार्य हेमचंद्र का 'सिद्ध हेम व्याकरण' अतिप्रसिद्ध है। इसी का आठवाँ अध्याय प्राकृत व्याकरण है, जिससे अच्छा दूसरा प्राकृत व्याकरण आज उपलब्ध नहीं है। कोषों में भी हेमचंद्र का अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला, निघंटुशेष, अभिधानराजेंद्र तथा 'पाइअसद्दमहण्णव' अपूर्व कोषग्रंथ हैं।

प्रबंधों में चंद्रप्रभसूरि का प्रभावकचरित, मेरुतुंग का प्रबंधचिंतामणि, राजशेखर का प्रबंधकोष तथा जिनप्रभसूरि का विविधतीर्थकल्प महत्वपूर्ण हैं। अन्य भी अनेक विषयों पर साहित्य पाया जाता है। अपभ्रंश भाषा का साहित्य भी पर्याप्त है, जिसमें धनपाल की 'भविसयत्तकहा' अतिप्रसिद्ध है। स्तोत्र साहित्य भी विपुल है।

श्वेतांबर संप्रदाय का अधिकतर आवास गुजरात प्रांत में है। अतः गुजराती भाषा में भी काफी साहित्य मिलता है, जिसका परिचय 'जैन गुर्जर कवियों' नामक ग्रंथ में विस्तार के साथ है।

विदेशी भाषाओं में भी जैन साहित्य पाया जाने लगा है। जर्मन विद्वान् स्व० हर्मन याकोबी ने कई ग्रंथों का संपादन किया था। उनमें उनकी कल्पसूत्र की प्रस्तावना तथा 'Sacred Books of East' नाम की ग्रंथमाला में प्रकाशित जैनसूत्रों की प्रस्तावना पढ़ने योग्य है। जर्मन विद्वान प्रो० ग्लेजन का 'जैनिज्म' भी अच्छा ग्रंथ है। स्व० वीरचंद्र गाँधी ने अमेरिका के चिकागो नगर में हुए सर्व धर्म सम्मेलन में जो भाषण जैन धर्म के संबंध में दिए थे, वे 'कर्म फिलोसोफी' के नाम से छप चुके हैं। न्यायावतार, सम्मतितर्क वगैरह का अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है और भी अनेक ग्रंथ हैं। दिगंबर साहित्य भी अंग्रेजी में पर्याप्त है। स्व० जे० एल० जैनी और बैरिस्टर चंपतराय ने इस दिशा में उल्लेखनीय सेवा की है।

उपसंहार

बहुत-सा जैन साहित्य अब प्रकाश में आ रहा है और नई शैली से उसका संपादन भी होने लगा है। प्राचीन जैन साहित्य का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन करने की भी परंपरा चल पड़ी है, जिसका श्रेय सर्वश्री नाथूराम प्रेमी, जुगलकिशोर मुख्तार, पं० सुखलाल और मुनि जिनविजय आदि जैन विद्वानों को है। इस दृष्टि से प्रेमीजी का

'जैन साहित्य और इतिहास' मुख्तार सा० की 'पुरातन वाक्यसूची' की प्रस्तावना तथा 'समंतभद्र' नामक पुस्तक दृष्टव्य है। सन्मतितर्क षट्खंडागम, कषायपाहुड और न्यायकुमुदचंद्र की प्रस्तावनाएँ भी तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण में अध्ययन करने वालों के लिए बहुत काम की है। जिज्ञासुओं को उनका अध्ययन करना चाहिए। अन्वेषकों के लिए जैन साहित्य में प्रचुर सामग्री मौजूद है।

कुछ प्रसिद्ध जैनाचार्य

भगवान् महावीर के पश्चात् कितने ही प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्य और ग्रंथाकार हुए हैं जिन्होंने अपने सदाचार और सद्विचारों से न केवल जैन धर्म को अनुप्राणित किया किंतु अपनी अमर लेखनी के द्वारा भारतीय वांगमय को भी समृद्ध बनाया। नीचे कुछ ऐसे प्रसिद्ध आचार्यों और ग्रंथकारों का परिचय संक्षेप में कराया जाता है।

गौतम गणधर (557 ई० पूर्व)

यह भगवान् महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) थे। मूलनाम इंद्रभूति था, बुद्धयुपजीवि या ब्राह्मण थे। वेद वेदांग में पारंगत थे। जब केवलज्ञान हो जाने पर भी भगवान् महावीर की वाणी नहीं खिरी तो इंद्र को चिंता हुई। इसका कारण जानकर वह इंद्रभूति के पास गया और युक्ति से उन्हें भगवान् महावीर के समवसरण में ले आया। संशय दूर होते ही इंद्रभूति ने प्रव्रज्या ले ली और भगवान् के प्रधान गणधर हुए। भगवान् का उपदेश सुनकर अवधारण करके इन्होंने द्वादशांग श्रुत की रचना की। जब कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातः भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी समय गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके 12 वर्ष पश्चात् इन्हें भी निर्वाणपद प्राप्त हुआ।

भद्रबाहु (325 ई० पूर्व)

यह भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली थे। इनके समय में मगध में 12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब यह साधुओं के बहुत बड़े संघ के साथ दक्षिण देश को चले गए। प्रसिद्ध मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त भी राज्यभार पुत्र को सौंपकर इनके साथ ही दक्षिण को चला गया। वहाँ मैसूर प्रांत के श्रवणबेलगोला स्थान पर भद्रबाहु स्वामी अपना अंतिम समय जानकर ठहर गए और शेष संघ को आगे रवाना कर दिया। सेवा के लिए चंद्रगुप्त अपने गुरु के पास ही ठहर गए। वहाँ के चंद्रगिरि पर्वत की एक गुफा में भद्रबाहु स्वामी ने देहोत्सर्ग किया। यह गुफा भद्रबाहु की गुफा कहलाती है और इसमें उनके चरण अंकित

है जो पूजे जाते हैं। भद्रबाहु के समय में ही संघभेद का बीजारोपण हुआ। अतः उनके बाद से ही जैन (दिगंबर) आचार्यों की परंपरा से श्वेतांबर आचार्य परंपरा भी जुदी हो गई। दिगंबर परंपरा के कुछ प्रमुख आचार्यों का नीचे परिचय दिया जाता है।

धरसेन (वि० सं० की दूसरी शती)

आचार्य धरसेन अंगों और पूर्वों के एक देश के ज्ञाता थे और सौराष्ट्र देश के गिरनार पर्वत की गुफा में ध्यान करते थे। उन्हें इस बात की चिंता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञान का लोप हो जाएगा। अतः उन्होंने महिमानगरी के मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा। वहाँ से दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हें सिद्धांत की शिक्षा दी।

पुष्पदंत और भूतबलि

ये दोनों मुनि पुष्पदंत और भूतबलि थे। आषाढ़ शुक्ला एकादशी को अध्ययन पूरा होते ही धरसेनाचार्य ने उन्हें विदा कर दिया। दोनों शिष्य वहाँ से चलकर अंकुलेश्वर में आए और वहीं चतुर्मास किया। पुष्पदंत मुनि अंकुलेश्वर से चलकर बनवास देश में आए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने जिन पालित को दीक्षा दी और 'वीसदि सूत्रों' की रचना करके उन्हें पढ़ाया। फिर उन्हें भूतबलि के पास भेज दिया। इस तरह पुष्पदंत को अल्पायु जानकर आगे की ग्रंथ रचना की। इस तरह पुष्पदंत और भूतबलि ने षट्खंडागम नाम के सिद्धांत ग्रंथ की रचना की। फिर भूतबलि ने षट्खंडागम को लिपिबद्ध करके ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन उसकी पूजा की। इसी से यह तिथि जैनों में श्रुतपंचमी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

गुणधर (वि० सं० की दूसरी शती)

आचार्य गुणधर भी लगभग इसी समय में हुए। वे ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के अंतर्गत कसायपाहुड़ रूपी श्रुत समुद्र के पारगामी थे। उन्होंने भी श्रुत का विनाश हो जाने के भय से कसायपाहुड़ नाम का महत्वपूर्ण सिद्धांत ग्रंथ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध किया।

कुंदकुंद (वि० सं० की दूसरी शती)

आचार्य कुंदकुंद जैन धर्म के महान् प्रभावक आचार्य थे। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि विदेह क्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। इनका प्रथम नाम पद्मनंदि था। कोंडकुंदपुर के रहने वाले होने से बाद में वे कोंडकुंदाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। उसी का श्रुतिमधुर रूप 'कुंदकुंदाचार्य' बन गया। इनके प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाम के ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं जो

नाटकत्रयी कहलाते हैं। इनके सिवाय इन्होंने अनेक प्राभृतों की रचना की है जिनमें से आठ प्राभृत उपलब्ध हैं। बोधप्राभृत के अंत की एक गाथा में इन्होंने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य बताया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में इनकी बड़ी कीर्ति बताई गई है।

उमास्वामी (वि० सं० की तीसरी शती)

यह आचार्य कुंदकुंद के शिष्य थे। इन्होंने जैन सिद्धांत को संस्कृत सूत्रों में निबद्ध करके तत्वार्थसूत्र नामक सूत्रग्रंथ की रचना की। इनको गृद्धपिच्छाचार्य भी कहते थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० 108 में लिखा है कि श्री कुंदकुंदाचार्य के पवित्र वंश में उमास्वामी मुनि हुए जो संपूर्ण पदार्थों के जानने वाले थे, मुनियों में श्रेष्ठ थे। उन्होंने जिनदेव प्रणीत समस्त शास्त्रों के अर्थ को सूत्र रूप से निबद्ध किया। वे प्राणियों की रक्षा में बड़े सावधान थे। एक बार उन्होंने पीछी न होने पर गृद्ध के परों की पीछी के रूप में धारण किया था। तभी से विद्वान् उनको गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे। साधारणतया दि० जैन मुनि जीवरक्षा के लिए मयूर के पंखों की पीछी रखते हैं।

समंतभद्र (वि० सं० की तीसरी-चौथी शती)

जैन संस्कृति के प्रभावक आचार्यों में स्वामी समंतभद्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्हें जैन शासन का प्रणेता और भावी तीर्थंकर तक बतलाया है। अकलंकदेव ने अष्टशती में, विद्यानंद ने अष्टसहस्री में, आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में, जिनसेन सूरि ने हरिवंशपुराण में, वादिराजसूरि ने न्यायविनिश्चय विवरण और पार्श्वनाथचरित में, वीरनंदि ने चंद्रप्रभूचरित में, हस्तिमल्ल ने विक्रांतकौरव नाटक में तथा अन्य अनेक ग्रंथकारों ने भी अपने-अपने ग्रंथ के प्रारंभ में इनका बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। मुनि जीवन में इन्हें भस्मक व्याधि हो गई थी, जो खाते थे वह तत्काल जीर्ण हो जाता था। उसे दूर करने के लिए इन्हें कांची या काशी के राजकीय शिवालय में पुजारी बनना पड़ा और वहाँ देवार्पित नैवेद्य का भक्षण करके अपना रोग दूर किया। जब कलई खुली तो स्वयंभू-स्तोत्र रचकर जैन शासन का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकट किया।

इनके रचे हुए आप्तमीमांसा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुतिशतक तथा रत्नकरंड श्रावकचार नामक ग्रंथ उपलब्ध हैं तथा गंधहस्ति भाष्य जीवसिद्धि आदि कुछ ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। ये प्रखर तार्किक और कुशलवादी थे। अनेक देशों में घूम-घूमकर इन्होंने विपक्षियों को शास्त्रार्थ में परास्त किया।

सिद्धसेन (वि० सं० की पाँचावीं शती)

आचार्य उमास्वामी (ति) की तरह सिद्धसेन की मान्यता भी दोनों संप्रदायों में पाई जाती है। दोनों ही संप्रदाय उन्हें अपना गुरु मानते हैं। दिगंबर संप्रदाय के आचार्य जिनसेन प्रथम व द्वितीय ने बहुत ही आदर के साथ उनका स्मरण किया है। उनकी सूक्तियों को भगवान् ऋषभदेव की सूक्तियों के समकक्ष बतलाया है और प्रतिवादी रूपी हाथियों के समूह के लिए उन्हें विकल्प रूपी नखोंयुक्त सिंह बताया है। श्वेतांबर संप्रदाय में 'दिवाकर' विशेषण के साथ इनकी प्रसिद्धि है। इनका सन्मतितर्कग्रंथ अति प्रसिद्ध और बहुमान्य है। यह प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। दूसरे ग्रंथ न्यायावतार तथा द्वात्रिंशतिकाएँ संस्कृत में हैं। सभी ग्रंथ गहन दार्शनिक चर्चाओं से परिपूर्ण हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जुगलकिशोर[1] मुख्तार ने गहरे अध्ययन और खोज के बाद यह सिद्ध किया है कि उक्त सब कृतियाँ एक ही सिद्धसेन की नहीं हैं सिद्धसेन नाम के कोई दूसरे विद्वान् भी हुए हैं।

देवनंदि (ईसा की पाँचवीं शती)

श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० 40 (64) में लिखा है कि इनका पहला नाम देवनंदि था। बुद्धि की महत्ता के कारण वे जिनेंद्रबुद्धि कहलाए और देवों ने उनके चरणों की पूजा की, इसलिए उनका नाम पूज्यपाद हुआ। इनका संक्षिप्त नाम 'देव' भी था। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में और वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित्र में इन्हें इसी संक्षिप्त नाम से स्मरण किया है। महाकवि धनंजय ने अपनी नाममाला में पूज्यपाद के व्याकरण को 'पश्चिम रत्नत्रय' में गिनाया है। इनका जैनेंद्र व्याकरण जैनों का पहला संस्कृत व्याकरण है। इसके सूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं। संज्ञाएँ भी संक्षिप्त हैं। श्रुतबोध के कर्ता पं० बोपदेव ने आठ व्याकरणों में जैनेंद्र का भी उल्लेख किया है। जैनेंद्र के सिवाय इनके चार ग्रंथ और उपलब्ध हैं– सर्वार्थसिद्धि, समाधितंत्र, इष्टोपदेश और देवभक्ति (संस्कृत) इन्होंने अपने जैनेंद्र पर न्याय भी बनाया था जो अप्राप्य है। इसी तरह वैद्यक ग्रंथ भी इन्होंने बनाए थे। गंगवंशीय राजा दुर्विनीत इनका शिष्य था, जिसका राज्यकाल ई० सन् 482 से 512 तक माना जाता है।

पात्रकेसरी (ईसा की छठवीं शती)

इन्हें पात्रस्वामी भी कहते हैं। इन्होंने बौद्धों के त्रैरूप्य हेतुवाद का खंडन करने के लिए 'त्रिलक्षण कदर्थन' नाम का शास्त्र रचा था जो अनुपलब्ध है। शांतरक्षित ने अपने

1.अनेकांत, वर्ष 9, कि० 11 (सन्मति सिद्धसेनांक)

तत्वसंग्रह में पात्र स्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ कारिकाएँ पूर्व-पक्ष के रूप में दी हैं। इनका निम्न श्लोक बहुत प्रसिद्ध है।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

वादिराजसूरि और अनंतवीर्य ने लिखा है कि बौद्ध के त्रिलक्षण का खंडन करने के लिए पद्मावतीदेवी ने भगवान् सीमंधर स्वामी के समवसरण में जाकर उनके गणधर के प्रसाद से इस श्लोक को प्राप्त करके पात्र केसरी को दिया था। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० 54 में भी उल्लेख है।

अकलंक[1] (ई० 620 से 680)

यह जैन न्याय के प्रतिष्ठाता थे। प्राकंड पंडित, धुरंधर शास्त्रार्थी और उत्कृष्ट विचारक थे। जैन न्याय को इन्होंने जो रूप दिया उसे ही उत्तरकालीन जैन ग्रंथकारों ने अपनाया। बौद्धों के साथ इनका खूब संघर्ष रहा। स्वामी समंतभद्र के यह सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। इन्होंने उनके आप्तमीमांसा ग्रंथ पर 'अष्टशती' नामक भाष्य की रचना की। इनकी रचनाएँ दुरूह और गंभीर हैं। अब तक इनके अष्टशती, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय और तत्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं।

विद्यानंदि (ई० नौवीं शती)

विद्यानंदि अपने समय के बहुत ही समर्थ विद्वान् थे। इन्होंने अकलंकदेव की अष्टशती पर 'अष्टसहस्त्री' नाम का महान् ग्रंथ लिखा है जिसे समझने में अच्छे-अच्छे विद्वानों को कष्ट सहस्त्री का अनुभव होता है। ये सभी दर्शनों के पारगामी विद्वान् थे। इन्होंने आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्वार्थश्लोकवार्तिक और युक्त्यनुशासन-टीका नाम के ग्रंथ रचे हैं। सभी बहुत प्रौढ़ दार्शनिक ग्रंथ हैं।

माणिक्यनंदि (ई० नौवीं शती)

इन्होंने अकलंकदेव के वचनों का अवगाहन करके परीक्षामुख नाम के सूत्रग्रंथ की रचना की है जिसमें प्रमाण और प्रमाणाभास का सूत्रबद्ध विवेचन किया है। सूत्र संक्षिप्त, स्पष्ट और सरस हैं।

अनंतवीर्य (ई० की नौवीं शती)

यह अकलंक न्याय के प्रकांड पंडित थे। इन्होंने उनके सिद्धि विनिश्चय ग्रंथ पर बहुत ही विद्वतापूर्ण टीका लिखी है। वादिराज ने अपने न्याय विनिश्चय विवरण में

1. इनकी जीवनी व परिचय जानने के लिए न्यायकुमुदचंद्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना पढ़िए।

इनकी बहुत प्रशंसा की है, और लिखा है कि इनके वचनामृत की वृष्टि से जगत् को खा जाने वाली शून्यवाद रूपी अग्नि शांत हो गई।

वीरसेन (ई० 790-825)

आचार्य वीरसेन प्रसिद्ध सिद्धांतग्रंथ षट्खंडागम और कसायपाहुड़ के मर्मज्ञ थे। उन्होंने प्रथम ग्रंथ पर 62 हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत संस्कृत मिश्रित धवला नाम की टीका लिखी है और कसायपाहुड़ पर 20 हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखकर ही स्वर्गवासी हो गए। ये टीकाएँ जैन सिद्धांत की गहन चर्चाओं से परिपूर्ण हैं। धवला की प्रशस्ति में उन्हें वैयाकरणों का अधिपति, तार्किक चक्रवर्ती और 'प्रवादी रूपी गजों के लिए सिंह' समान बतलाया है।

जिनसेन (ई० 800-880)

यह वीरसेन के शिष्य थे। इन्होंने गुरु के स्वर्गवासी हो जाने पर जयधवला टीका को पूरा किया। इन्होंने अपने को 'अविद्धकर्ण' बतलाया है, जिससे प्रतीत होता है कि यह बालवय में ही दीक्षित हो गए थे। यह बड़े कवि थे। इन्होंने अपने नवयौवन काल में ही कालिदास के मेघदूत को लेकर पार्श्वाभ्युदय नाम का सुंदर काव्य रचा था। मेघदूत में जितने भी पद्य हैं, उनके अंतिम चरण तथा अन्य चरणों में से भी एक-एक, दो-दो करके इसके प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिए गए हैं। इनका एक दूसरा ग्रंथ महापुराण है। इन्होंने तिरेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र लिखने की इच्छा से महापुराण लिखना प्रारंभ किया। किंतु इनका भी बीच में ही स्वर्गवास हो गया। अतः उसे इनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूर्ण किया। राजा अमोघवर्ष इनका शिष्य था और इन्हें बहुत मानता था।

प्रभाचंद्र (ई० सन् की ग्यारहवीं शती)

आचार्य प्रभाचंद्र एक बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान् थे। सभी दर्शनों के प्रायः सभी मौलिक ग्रंथों का उन्होंने अभ्यास किया था। यह बात उनके रचे हुए न्यायकुमुदचंद्र और प्रमेय-कमल-मार्तंड नामक दार्शनिक ग्रंथों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाती है। इनमें से पहला ग्रंथ अकलंकदेव के लघीयस्त्रय का व्याख्यान है और दूसरा आचार्य माणिक्यनंदि के परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रंथ का। श्रवणबेलगोला शिलालेख नं० 40 (64) में इन्हें शब्दांभोरुहभास्कर और प्रथित तर्क ग्रंथकार बतलाया है। इन्होंने शाकटायन व्याकरण पर एक विस्तृत न्यास ग्रंथ भी रचा था जिसका कुछ भाग उपलब्ध है। इनके गुरु का नाम पद्मनंदि सैद्धांतिक था।

वादिराज (ई० सं० ग्यारहवीं शती)

वादिराज तार्किक होकर उच्चकोटि के कवि थे। षट्तर्कषण्मुख स्याद्वाद विद्यापति और जगदेकमल्लवादी उनकी उपाधियाँ थीं। नगर ताल्लुका के शिलालेख नं० 39 में बताया है कि वे सभा में अकलंक थे, प्रतिपादन करने में धर्मकीर्ति थे, बोलने में बृहस्पति थे और न्यायशास्त्र में अक्षपाद थे। उन्होंने अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय पर विद्वत्तापूर्ण विवरण लिखा है जो लगभग बीस हजार श्लोक प्रमाण है तथा शक सं० 947 (ई० सं० 1025) में पार्श्वनाथ चरित रचा जो बहुत ही सरस प्रौढ़ रचना है। अन्य भी कई ग्रंथ और स्तोत्र इन्होंने बनाए हैं। इनके गुरु का नाम मतिसागर था। यह तो हुआ कुछ प्रसिद्ध जैन (दिगंबर) धर्माचार्यों का परिचय। अब कुछ श्वेतांबर जैनाचार्यों का परिचय दिया जाता है। इन आचार्यों में उमास्वामी की उमास्वाति नाम से तथा सिद्धसेन की सिद्धसेन दिवाकर नाम से श्वेतांबर संप्रदाय में भी बहुत प्रतिष्ठा है और वह इनको जैन संप्रदाय (आचार्य) रूप से ही मानता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु

भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो गए हैं। यह दूसरे भद्रबाहु विक्रम की छठी शती में हुए थे। वे जाति से ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था। इन्होंने आगमों पर निर्युक्तियों की रचना की तथा अन्य भी अनेक ग्रंथ बनाए।

मल्लवादी

यह प्रबल तार्किक थे। आचार्य हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में लिखा है कि सब तार्किक मल्लवादी से पीछे हैं। इनका बनाया हुआ नयचक्र ग्रंथ बहुत महत्वपूर्ण है जिसका पूरा नाम 'द्वादशांग नयचक्र' है। मूल ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं है किंतु उसकी सिंह क्षमाश्रमण कृत टीका मिलती है। आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकांत जयपताका' ग्रंथ में इनका वादिमुख्य करके उल्लेख किया है। अतः इतना निश्चित है कि ये विक्रम की आठवीं शती से पहले हुए हैं।

जिनभद्रगणि (ई० छठी-सातवीं शती)

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगमकुशल विद्वान् थे। इनका विशेषावश्यक भाष्य नाम का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उसी के कारण भाष्यकार नाम से इनकी ख्याति है। इस ग्रंथ में उन्होंने सिद्धसेन के विचारों का खंडन भी किया है। विशेषणवती आदि अन्य भी अनेक ग्रंथ इनके रचे हुए हैं। आचार्य हेमचंद ने उन्हें उत्कृष्ट व्याख्याता बतलाया है।

हरिभद्र (ई० 700-750)

हरिभद्रसूरि श्वेतांबर संप्रदाय के बहुमान्य विद्वान् हुए हैं। इन्होंने संस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रंथों की रचना की है। इनके रचे हुए ग्रंथों में अनेकांत प्रवेश, अनेकांत-जयपताका, ललितविस्तरा, षड्दर्शन समुच्चय और समराइच्च कथा अति प्रसिद्ध हैं। अपने प्रकरण ग्रंथों में इन्होंने तत्कालीन साधुओं की खरी आलोचना भी की है।

अभयदेव (ई० ग्यारहवीं शती)

यह प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इन्होंने सिद्धसेन के सन्मति तर्क पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका में सैकड़ों दार्शनिक ग्रंथों का निचोड़ भरा हुआ है। संक्षेप में दिगंबर परंपरा में अकलंकदेव, विद्यानंदि और प्रभाचंद्र का जो स्थान है वही स्थान श्वेतांबर परंपरा में मल्लवादी, हरिभद्र और अभयदेव सूरि का है। छहों विद्वान् दार्शनिक क्षेत्र के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे।

हेमचंद्र (ई० तेरहवीं शती)

विद्वानों में आचार्य हेमचंद्र को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह उनका पूर्ण भक्त था। उसके नाम पर ही उन्होंने अपना सिद्धहैम व्याकरण बनाया। उसी का एक अध्याय प्राकृत व्याकरण है जो अति प्रसिद्ध है। आचार्य का जन्म सं० 1145 में हुआ। नौ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली और सं० 1162 में आचार्य पद प्राप्त किया। सं० 1229 में उनका स्वर्गवास हो गया। न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष आदि सभी विषयों पर उन्होंने अद्भुत ग्रंथ लिखे। जयसिंह का उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल तो उनका शिष्य ही था।

यशोविजय (ई० अठारहवीं शती)

श्वेतांबर परंपरा में हेमचंद्रचार्य के पश्चात् यशोविजय जैसा सर्वशास्त्र पारंगत दूसरा विद्वान् नहीं हुआ। इन्होंने काशी में विद्याध्ययन किया था और नव्यन्याय के न केवल विद्वान् ही थे किंतु उसी शैली में कई ग्रंथ भी रचे। उनकी जैन तर्कभाषा, ज्ञानबिंदु, नयरहस्य, नयप्रदीप आदि ग्रंथ अध्ययन करने योग्य हैं। इनकी विचारसरणि बहुत ही परिष्कृत और संतुलित थी।

जैन कला और पुरातत्व

जैन परंपरा के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में ह्रास होते-होते जब भोगभूमि का स्थान कर्मभूमि ने ले लिया तो भगवान् ऋषभदेव ने जनता के योगक्षेम के लिए पुरुषों की बहत्तर कलाओं और स्त्रियों के चौसठ गुणों को बतलाया। जैन अंग साहित्य के तेरहवें पूर्व में उनका विस्तृत वर्णन था, वह अब नष्ट हो चुका है। इससे पता लगता है कि पहले कला का अर्थ बहुत व्यापक था। उसमें जीवन-यापन से लेकर जीव-उद्धार तक के सब सत्प्रयत्न सम्मिलित थे। कहा भी है–

कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

जैन धर्म का तो प्रधान लक्ष्य ही जीव उद्धार है। बल्कि यदि कहा जाए कि जीव उद्धार के लिए किए जाने वाले सत्प्रयत्नों का नाम ही जैन धर्म है तो अनुचित न होगा। इसी से आज कला की परिभाषा जो 'सत्यं शिवं सुंदरं' की जाती है अर्थात् जो सत्य है, कल्याणकर है और सुंदर है वही कला है, वह जैन कला में सुघटित है, क्योंकि जैन धर्म से संबद्ध चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्यकला सुंदर होने के साथ ही साथ कल्याणकर भी है और सत्य का दर्शन कराती है। नीचे उनका परिचय संक्षेप में दिया जाता है।

चित्रकला

संरगुजा राज्य के अंतर्गत लक्ष्मणपुर से 12 मील रामगिरि नामक पहाड़ है। वहाँ पर जोगीमारा गुफा है। गुफा की चौखट पर बड़े ही सुंदर चित्र अंकित हैं। ये चित्र ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन हैं तथा जैन धर्म से संबंधित हैं। परंतु संरक्षण के अभाव में चित्रों की हालत खराब हो गई है।

पुद्दुकोटै राज्य में राजधानी से 9 मील उत्तर एक जैन गुफा मंदिर है, उसे सितन्नवासल कहते हैं। सितन्नवासल का प्राकृत रूप है सिद्धण्णवास-सिद्धों का निवास। इसकी भीतों पर पूर्वपल्लव राजाओं की शैली के चित्र हैं जो तमिल संस्कृति और साहित्य के महान् संरक्षक प्रसिद्ध कलाकार राजा महेंद्र वर्मा प्रथम (600-625 ई०) के बनवाए हुए हैं और अत्यंत सुंदर होने के साथ ही साथ सबसे प्राचीन जैन चित्र

हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि अजंता के सर्वोत्कृष्ट चित्रों के साथ सितन्नवासल के चित्रों की तुलना करना अन्याय होगा। किंतु ये चित्र भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी रचना शैली अजंता के भित्ति चित्रों से बहुत मिलती-जुलती है।

यहाँ अब दीवारों और छतों पर सिर्फ दो चार चित्र ही कुछ अच्छी हालत में बचे हैं। इनकी विशेषता यह है कि बहुत थोड़ी किंतु स्थिर और दृढ़ रेखाओं में अत्यंत सुंदर आकृतियाँ बड़ी होशियारी के साथ लिख दी गई हैं, जो सजीव-सी जान पड़ती हैं। गुफा में समवसरण की सुंदर रचना चित्रित है। सारी गुफा कमलों से अलंकृत है, खंभों पर नर्तकियों के चित्र हैं। बरामदे की छत के मध्यभाग में पुष्करिणी का चित्र है। जल में पशु-पक्षी जल विहार कर रहे हैं। चित्र के दाहिनी ओर तीन मनुष्याकृतियाँ आकर्षक और सुंदर हैं। गुफा में पर्यंकमुद्रा में स्थित पुरुष प्रमाण अत्यंत सुंदर पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं जो मूर्तिविधान कला की अपेक्षा से भी उल्लेखनीय हैं। वास्तव में पल्लवकालीन चित्र भारतीय विद्वानों के लिए अध्ययन की वस्तु हैं।

सितन्नवासल के बाद जैन धर्म से संबद्ध चित्रकला के उदाहरण दसवीं शती से लगाकर पंद्रहवीं शताब्दी तक मिलते हैं। विद्वानों का कहना है कि इस मध्यकालीन चित्रकला के अवशेषों के लिए भारत जैन भंडारों का आभारी है; क्योंकि प्रथम तो इस काल में प्रायः एक हजार वर्ष तक जैन धर्म का प्रभाव भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भाग में फैला हुआ था। दूसरे जैनों ने बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक ग्रंथ ताड़पत्रों पर लिखवाए और चित्रित करवाए थे। वि० सं० 1157 की चित्रित निशीथचूर्णि की प्रति आज उपलब्ध है जो देवनागरी कला में अति प्राचीन है। 15वीं शती के पूर्व की जितनी भी कलात्मक चित्रकृतियाँ मिलती हैं, वे केवल जैन ग्रंथों में ही प्राप्त हैं।

आज तक जो प्राचीन जैन साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसका बहुभाग ताड़पत्रों पर लिखा हुआ मिला है। अतः भारतीय चित्रकला का विकास ताड़पत्रों पर भी खूब हुआ है। मुनि जिनविजय जी का लिखना है कि चित्रकला के इतिहास और अध्ययन की दृष्टि से ताड़पत्र की ये सचित्र पुस्तकें बड़ी मूल्यवान् और आकर्षणीय वस्तु हैं।

मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम से 'Tirupatti Kunram' नामक एक मूल्यवान ग्रंथ श्री टी० एन० रामचद्रन् द्वारा लिखित प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रकाशित चित्रों से दक्षिण भारत की जैन चित्रकला पद्धति का अच्छा आभास मिलता है। इनमें से अधिकांश चित्र भगवान् ऋषभदेव और महावीर की जीवन घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। उनसे उस समय के पहनावे से, नृत्यकला आदि का परिचय मिला है।

ताड़पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए काष्ठफलों का प्रयोग किया जाता था। अतः उस पर भी जैन चित्रकला के सुंदर नमूने मिलते हैं।

जैन चित्रकला के संबंध में चित्रकला के मान्य विद्वान् श्री एन० सी० मेहता ने जो उद्‌गार प्रकट किए हैं वे उस पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त होंगे। वे लिखते हैं[1]– जैन चित्रों में एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डॉ० आनंदकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रों की परंपरा अजंता, एलोरा, बाघ और सितन्नवासल के भित्तिचित्रों की है। समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिए इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है। खासकर पोशाक, सामान्य उपयोग में आने वाली चीजें आदि के संबंध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं।

मूर्तिकला

जैन धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है, अतः प्रारंभ से लेकर आज तक उसके मूर्तिविधान में प्रायः एक ही रीति के दर्शन होते हैं। ई० सं० के आरंभ में कुशान राज्यकाल की जो जैन प्रतिमाएँ मिलती हैं उनमें और सैकड़ों वर्ष पीछे की बनी जैन मूर्तियों में बाह्य दृष्टि से थोड़ा-बहुत ही अंतर है। प्रतिमा के लाक्षणिक अंग लगभग दो हजार वर्ष तक एक ही रूप में कायम रहे हैं। पद्मासन या खड्‌गासन मूर्तियों में लंबा काल बीत जाने पर भी विशेष भेद नहीं पाया जाता। जैन तीर्थंकर की मूर्ति विरक्त, शांत और प्रसन्न होती है। उसमें मनुष्य हृदय की विकृतियों को स्थान नहीं होता। इससे जैन प्रतिमा उनकी मुखमुद्रा के ऊपर से तुरंत ही पहचानी जा सकती है। खड़ी मूर्तियों के मुख पर प्रसन्नता और दोनों हाथ निर्जीव जैसे सीधे लटके हुए होते हैं। बैठी हुई प्रतिमा ध्यानमुद्रा में पद्मासन से विराजमान होती है। दोनों हाथ गोदी में सरलता से स्थापित रहते हैं। 24 तीर्थंकर के प्रतिमा विधान में व्यक्ति भेद न होने से उनके आसन के ऊपर अंकित चिह्नों से जुदे-जुदे तीर्थंकर की प्रतिमा पहचानी जाती है। दिगंबर और श्वेतांबर मूर्तियों में भेद और उसके कारण की चर्चा इसी पुस्तक के 'संघ भेद' शीर्षक में की गई है।

मध्यकालीन जैन मूर्तियों में बौद्ध प्रथा के समान कपाल पर उर्णा और मस्तक पर उष्णीष तथा वक्षस्थल पर श्री वत्स का चिह्न भी अंकित होने लगा। किंतु जैन मूर्तियों की लाक्षणिक रचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति निश्चय से मौर्यकाल की है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पॉलिस अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्तकालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में 24वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक

1. भारतीय चित्रकला, पृ० 33

मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैनमूर्ति कला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रामकृष्णदास ने[1] लिखा है कि मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन संप्रदाय की है।

खंडगिरि और उदयगिरि में ई० पू० 188-30 तक की शुंगकालीन मूर्ति शिल्प के अद्‌भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। वहाँ पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएँ हैं जिनमें मूर्ति शिल्प भी हैं। दक्षिण भारत के अलगामलै नामक स्थान में खुदाई से जो जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनका समय ई० पू० 300-200 के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्रविड़कला में अनुपम मानी जाती है। श्रवणबेलगोला की प्रसिद्ध जैन मूर्ति तो संसार की अद्‌भुत वस्तुओं में से है। वह अपने अनुपम सौंदर्य और अद्‌भुत शांति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वह विश्व को जैन मूर्तिकला की अनुपम देन है।

स्थापत्यकला

तीर्थंकरों की सादी प्रतिमाओं के आवासगृहों को सजाने में जैनाश्रित कला ने कुछ बाकी नहीं रखा। भारतवर्ष के चारों कोनों में जैन मंदिरों की अद्वितीय इमारतें आज भी खड़ी हुई हैं। मैसूर राज्य के हसन जिले में वेलूर के जैन मंदिर मध्यकालीन जैन वैभव की साक्षी देते हैं। गुजरात में आबू के मंदिरों में तो स्थापत्यकला देखते ही बनती है। विंध्य प्रांत के छतरपुर राज्य के खजुराहो स्थान में नवमी से ग्यारहवीं शती तक के बहुत-से सुंदर देवालय बने हुए हैं और काले पत्थर की खंडित-अखंडित अनेक जैन प्रतिमाएँ जगह-जगह दृष्टिगोचर होती हैं। इलाहाबाद म्युनिसिपल संग्रहालय जैन मूर्तियों का अच्छा संग्रह है जो प्रायः बुंदेलखंड से लाई गई हैं। किसी समय में बुंदेलखंड जैन पुरातत्व और कला का महान् पोषक था। उसने शिल्पियों को यथेच्छ द्रव्य देकर जैन कलात्मक कृतियों का सृजन कराया। इसका पूरा हाल खजुराहो और देवगढ़ की यात्रा करके ही जाना जा सकता है। चितौड़ का जैन स्तंभ स्थापत्यकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह अपनी शैली का अकेला ही है। इसकी ऊँचाई 80 फीट है और धरातल से चोटी तक सुंदर नक्काशी और सजावट से शोभित है। इसके नीचे एक शिलालेख भी है जिसमें उसका समय 896 ई० दिया है। यह स्तंभ प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ से संबद्ध है। इसके ऊपर उसकी सैकड़ों मूर्तियाँ अंकित हैं। ग्वालियर की पहाड़ी पर भी पुरातत्व की उल्लेखनीय सामग्री है। पहाड़ के चारों ओर बहुत-सी मूर्तियाँ खोदी हुई हैं, उनमें से कुछ तो 57 फीट ऊँची

1. भारतीय मूर्तिकला, पृ० 59

है। फ्रेंच कलाविद ज्यूरिनो ने अपनी पुस्तक 'ला रेलिजन द जैन' में ठीक ही लिखा है– विशेषतः स्थापत्य कला के क्षेत्र में जैनियों ने ऐसी पूर्णता प्राप्त कर ली है कि शायद ही कोई उनकी बराबरी कर सके।

जैन स्थापत्य कला के सबसे प्राचीन अवशेष उड़ीसा के उदयगिरि और खंडगिरि पर्वतों की तथा जूनागढ़ के गिरनार पर्वत की गुफाओं में मिलते हैं। उदयगिरि और खंडगिरि की गुफाओं के बारे में फर्ग्युसन का कहना है कि उनकी विचित्रता और प्राचीनता तथा उसमें पाई जाने वाली मूर्तियों के आकार-प्रकार के कारण उनका असाधारण महत्व है। उदयगिरि की हाथीगुफा तो खारवेल के कारण ही महत्वपूर्ण है परंतु स्थापत्य कला की दृष्टि से रानी और गणेश गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। उनमें भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन वृत्तांत बड़ी कुशलता से खोदा गया है। कला की दृष्टि से मथुरा के आयागपट, बोड़न स्तूप और तोरण उल्लेखनीय हैं।

जैन स्थापत्य कला के अपेक्षाकृत अर्वाचीन उदाहरण आबू आदि स्थान में और राणा कुंभा के समय के अवशेषों में मिलते हैं। अलवर राज्य के भानुगढ़ स्थान में भी बहुत सुंदर जैन मंदिर हैं। उनमें से एक तो 10-11वीं शती का है और खजुराहो के जैसा ही सुंदर है। श्री फर्ग्युसन का कहना है कि राजपूताने में जैनी कम रह गए हैं। फलतः उनके मंदिरों की दुरवस्था है। किंतु भारतीय कला के प्रेमियों के लिए वे बहुत काम के हैं। यही अवस्था पूरे देश की है।

जैनों की स्थापत्य कला ने गुजरात की भी शोभा बढ़ाई है। यह सब मानते हैं कि यदि जैन कला और स्थापत्य जीवित न होते तो मुस्लिम कला से हिंदूकला दूषित हो जाती। फर्ग्युसन ने स्थापत्य पर एक ग्रंथ लिखा है। उसमें वह लिखते हैं कि जो कोई भी बारहवीं शती का ब्राह्मण धर्म के मंदिर हैं, गुजरात में जैनों के द्वारा व्यवहृत शैली का उदाहरण है। राणकपुर के जैन मंदिर के अनेक स्तंभों को देखकर कला के पारखी मुग्ध हो जाते हैं। दक्षिण में जहाँ बौद्ध धर्म के स्थापत्य के इने-गिने अवशेष हैं वहाँ जैन धर्म के प्राचीन स्थापत्य के बहुत-से उदाहरण आज भी उपलब्ध हैं। उनमें प्रमुख हैं एलोरा की इंद्रसभा और जगन्नाथसभा। संभवतः इनकी खुदाई चालुक्यों की बादामी शाखा या राष्ट्रकूटों के तत्वावधान में हुई होगी; क्योंकि बादामी में भी इसी तरह की एक जैन गुफा है जो सातवीं शती की मानी जाती है।

दक्षिण में जैन मंदिरों और मूर्तियों की बहुतायत है। श्रवणबेलगोला (मैसूर) में गोमट्टस्वामी की प्रसिद्ध जैन मूर्ति है जो स्थापत्य कला की दृष्टि से अपूर्व है। वहाँ अनेक जैन मंदिर हैं जो द्रवेड़ियन शैली के हैं। कनाड़ा जिले में अथवा तुलु-प्रदेश में जैन मंदिरों की बहुतायत है किंतु उनकी शैली न दक्षिण भारत की द्रवेड़ियन शैली से ही मिलती है और न उत्तर भारत की शैली से। मूड़विद्री के मंदिरों में लकड़ी का उपयोग अधिक पाया जाता है और उसकी नक्काशी दर्शनीय है। सारांश यह है कि

भारतवर्ष का शायद ही कोई कोना ऐसा हो जहाँ जैन पुरातत्व के अवशेष न पाए जाते हों। जहाँ आज जैनों का निवास नहीं है वहाँ भी जैन कला के सुंदर नमूने पाए जाते हैं।

इसी से प्रसिद्ध चित्रकार श्रीयुत रविशंकर रावल का कहना है– 'भारतीय कला का अभ्यासी जैन धर्म की जरा भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मुझे जैन धर्म कला का महान् आश्रयदाता, उद्धारक और संरक्षक प्रतीत होता है।'

स्व० का० प्र० जायसवाल ने जैन धर्म से संबद्ध वास्तुकला के विषय में एक भ्रामक बात कही है[1]। जैन और बौद्ध मंदिरों पर अप्सराओं आदि की मूर्ति को लेकर उन्होंने लिखा है– अब प्रश्न यह है कि बौद्धों और जैनों को ये अप्सराएँ कहाँ से मिलीं × × × मेरा उत्तर यह है कि उन्होंने ये सब चीजें सनातनी हिंदू (वैदिक) इमारतों से ली हैं।

भारतीय कला को इस तरह फिर्कों में बाँटने के संबंध में व्युहलर का मत उल्लेखनीय है जो उन्होंने मथुरा से प्राप्त पुरातत्व से शिक्षा ग्रहण करके निर्धारित किया था। उनका कहना है– 'मथुरा से प्राप्त खोजों ने मुझे यह पाठ पढ़ाया है कि भारतीय कला सांप्रदायिक नहीं है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों ने अपने-अपने समय की और देश की कलाओं का उपयोग किया है। उन्होंने कला के क्षेत्र में प्रतीकों और रूढ़िगत रीतियों को एक ही रूप से लिया है। चाहे स्तूप हों, या पवित्र वृक्ष या चक्र या और कुछ हों, ये सभी धार्मिक या कलात्मक तत्वों के रूप में जैन, बौद्ध और सनातनी हिंदू सभी के लिए समान रूप से सुलभ हैं।'

उनके इस मत की पुष्टि विसेंट स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'दी जैन स्तूप एंड अदर एंटींक्विटीस ऑफ मथुरा' में की है।

इस तरह प्राचीन मंदिरों, मूर्तियों, शिलालेखों, गुफाओं और ताम्रपत्रों के रूप में आज भी जैन पुरातत्व यत्र-तत्र पाया जाता है और बहुत-सा समय के प्रवाह में नष्ट हो गया अथवा नष्ट कर दिया गया। श्री फर्ग्युसन का कहना है कि बारह खंभों के गुंबजों का जैनों में बहुत चलन रहा है। इस तरह का गुंबज एक तो भेलसा में निर्मित समाधि में पाया जाता है जो संभवतः 4वीं शती का है। दूसरा, बाघ की महान् गुफाओं में है जो छठी या सातवीं शती का है। इस तरह के गुंबज खोजने पर और भी मिल सकते थे। किंतु इन गुंबजों के पतले और शानदार स्तंभों को मुसलमानों ने अपने काम का पाया; क्योंकि वे बड़ी सरलता से फिर से बैठाए जा सकते थे। इसलिए उन्हें बिना नष्ट किए ही मुसलमानों ने अपने काम में ले लिया। उनका[2] मत है कि अजमेर, देहली,

1. अंधकार युगीन भारत, पृ० 95-96

2. History of India and Eastern Architecture, P. 209

कन्नौज, धारा और अहमदाबाद की विशाल मस्जिद जैनों के मंदिरों को तोड़ने से प्राप्त सामग्री से ही पुनः निर्मित की गई हैं।

गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर को कौन नहीं जानता। ई० 1025 में महमूद गजनी ने इसे तोड़ा था। इस मंदिर की निर्माण शैली गिरनार पर्वत पर स्थित श्री नेमिनाथ के जैन मंदिरों से मिलती-जुलती हुई है। श्री फर्ग्युसन का कहना है कि जब मुसलमानों ने इस मंदिर पर आक्रमण किया उस समय वह सोमेश्वर का मंदिर कहा जाता था। सोमेश्वर नाम से ही शिव मान लिया गया। यदि वह शिव का था तो उसमें अवश्य ही शिवलिंग प्रतिष्ठित होना चाहिए। किंतु मुस्लिम इतिहास लेखकों का कहना है कि मूर्ति के सिर, हाथ, पैर और पेट था। ऐसी स्थिति में वह मूर्ति शिवलिंग न होकर विष्णु की या किसी जैन तीर्थंकर की होनी चाहिए। उस समय गुजरात में वैष्णव धर्म का नामोनिशान भी देखने को नहीं मिलता तथा मुसलमानों के बाद उस मंदिर का जीर्णोद्धार राजा भीमदेव, सिद्धराज और कुमारपाल ने कराया, सब जैन थे। इन सब बातों पर से फर्ग्युसेन सा० ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सोमनाथ का मंदिर जैन मंदिर था।

कला की तरह पुरातत्व शब्द का अर्थ भी बहुत व्यापक है। इतिहास आदि के निर्माण में जिन साधनों की आवश्यकता होती है व सभी पुरातत्व में गर्भित हैं। अतः प्राचीन मंदिरों, गुफाओं और स्तंभों की तरह प्राचीन शिलालेखों और शास्त्रों को भी पुरातत्व में सम्मिलित किया गया है।

श्रवणबेलगोला (मैसूर) में बहुत-से शिलालेख अंकित हैं। मैसूर पुरातत्व विभाग के तत्कालीन अधिकारी लूइस राइस साहब ने श्रवणबेलगोला के 144 शिलालेखों का संग्रह प्रकाशित किया था। इसकी भूमिका में उन्होंने इन लेखों के ऐतिहासिक महत्व की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया और चंद्रगुप्त मौर्य तथा भद्रबाहु के पारस्परिक संबंध का विवेचन कर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य ने भद्रबाहु से जिन-दीक्षा ली थी तथा शि० लेख नं० 1 उन्हीं का स्मारक है।

उक्त संग्रह का दूसरा संस्करण रायबहादुर आर० नरसिंहाचार्य ने रचकर प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने 500 शिलालेखों का संग्रह किया है व भूमिका में उनके ऐतिहासिक महत्व का विवेचन किया है। किंतु ये संग्रह कन्नड़ी व रोमन लिपि में थे अतः उक्त लेखों का एक देवनागरी संस्करण प्रो० हीरालाल तथा श्री विजयमूर्ति आदि से संपादित कराके श्री नाथूराम जी प्रेमी ने प्रकाशित किया है। इस तरह आबू, देवगढ़ आदि में भी अनेक शिलालेख, मूर्तिलेख वगैरह पाए जाते हैं। भारतीय

इतिहास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण खंडगिरि उदयगिरि से प्राप्त जैन शिलालेख की चर्चा पहले की जा चुकी है।

इस तरह जैनों ने बहुसंख्यक शिलालेखों, प्रतिमालेखों, ताम्रपत्रों, ग्रंथ प्रशस्तियों, पुष्पिकाओं, पट्टावलियों, गुर्वावलियों, राज वंशावलियों और ग्रंथों के रूप में विपुल ऐतिहासिक सामग्री प्रदान की है।

स्व० वैरिस्टर श्री का० प्र० जायसवाल ने अपने एक लेख में लिखा[1] था– 'जैनों के यहाँ कोई 2500 वर्ष की संवत् गणना का हिसाब हिंदुओं भर में सबसे अच्छा है। उससे विदित होता है कि पुराने समय में ऐतिहासिक परिपाटी की वर्ष गणना हमारे देश में थी। जब वह और जगह लुप्त और नष्ट हो गई, तब केवल जैनों में बची रही। जैनों की गणना के आधार पर हमने पौराणिक और ऐतिहासिक बहुत-सी घटनाओं को जो बुद्ध और महावीर के समय से इधर की हैं, समयबद्ध किया और देखा कि उनका ठीक मिलान सुज्ञात गणना से मिल जाता है। कई एक ऐतिहासिक बातों का पता जैनों की ऐतिहासिक लेख पट्टावलियों में ही मिलता है।'

1. जैन साहित्य संशोधक, खं० 1, पृ० 211

सामाजिक रूप

1. जैन संघ

मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका, इनके समुदाय को जैन संघ कहते हैं। मुनि और आर्यिका गृहत्यागी वर्ग है और श्रावक श्राविका गृही वर्ग है। जैन संघ में ये दोनों वर्ग बराबर रहते हैं। जब ये वर्ग नहीं रहेंगे तो जैन संघ भी नहीं रहेगा और जब जैन संघ नहीं रहेगा तब जैन धर्म भी नहीं रहेगा।

यद्यपि ये दोनों वर्ग जुदे-जुदे हैं, फिर भी परस्पर में इन दोनों का ऐसा गठबंधन बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है कि दोनों एक-दूसरे से जुदे नहीं हो सकते और दोनों का परस्पर में एक-दूसरे पर नियंत्रण या प्रभाव जैसा कुछ बना रहता है। हिंदू धर्म के साधु-संतों पर जैसे उनके गृहस्थों का कुछ भी अंकुश नहीं रहता, वैसी बात जैन संघ में नहीं है। यहाँ शीलभ्रष्ट और कदाचारी साधुओं पर बराबर निगाह रखी जाती है और किसी की स्वच्छंदता अधिक दिनों तक नहीं चल पाती। आज तो संघ व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई है और साधुओं में भी नियमन का अभाव हो गया है, किंतु पहले यह बात न थी। पहले आचार्य की स्वीकृति और अनुज्ञा के बिना कोई साधु अकेला विहार नहीं कर सकता था और अकेले विहार करने की आज्ञा उसे ही दी जाती थी जिसे चिरकाल के सहवास से परख लिया जाता था। मुनि दीक्षा भी हर एक को नहीं दी जाती थी। पहले उसे संघ में रखकर परखा जाता था और यह जानने का प्रयत्न किया जाता था कि वह किसी गार्हस्थिक, राजकीय या अन्य किसी कारण से घर छोड़कर तो नहीं भागा है। यदि उसके चित्त में वस्तुतः वैराग्य भावना प्रबल होती थी तो उसे सर्व संघ के समक्ष जिन-दीक्षा दी जाती थी। साधु संघ में एक प्रधान आचार्य होते थे और कुछ अवांतर आचार्य होते थे। वे सब मिलकर संघ का नियमन करते थे। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान की ओर साधुवर्ग का खासतौर से ध्यान दिलाया जाता था। प्रत्येक साधु के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने अपराधों की आलोचना आचार्य के सन्मुख करे और आचार्य जो प्रायश्चित दें उसे सादर स्वीकार करें। प्रतिदिन प्रत्येक साधु प्रातःकाल उठकर अपने से बड़ों को नमस्कार करता था और जो रोगी या असमर्थ साधु होते थे उनकी सेवा-शुश्रूषा करता था। इस सेवा-शुश्रूषा या वैयावृत्य का जैन शास्त्रों में बड़ा महत्व बतलाया है और इसे

आभ्यंतर तप कहा है। इसी प्रकार आर्यिकाओं की भी व्यवस्था थी। दोनों का रहना वगैरह बिलकुल जुदा होता था। किसी साधु को आर्यिका से या आर्यिका को साधु से एकांत में बातचीत करने की सख्त मनाई थी और निश्चित दूरी पर बैठने का आदेश था।

साधु वर्ग राजकाज से कोई सरोकार नहीं रख सकता था। साधु के जो दस कल्प-अवश्य करने योग्य आचार बतलाए हैं उसमें साधु के लिए राजपिंड-राजा का भोजन ग्रहण न करना भी एक आचार है। राजपिंड ग्रहण करने में अनेक दोष बताए हैं।

हिंदू धर्म में धार्मिक क्रियाकांड और धार्मिक शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के लिए एक वर्ग ही जुदा होने से हिंदू धर्म के अनुयायी गृहस्थ अपने धर्म के ज्ञान से तो एक तरह से शून्य से ही हो गए और आचार में केवल ऊपरी बातों तक ही रह गए। किंतु जैन धर्म में ऐसा कोई वर्ग न होने से और शास्त्र स्वाध्याय तथा व्यक्तिगत सदाचरण पर जोर होने से सब श्रावक और श्राविकाएँ जैन धर्म के ज्ञान और आचरण से वंचित नहीं हो सके। फलतः साधु और आर्यिकाओं के आचार में कुछ भी त्रुटि होने पर वे उसको झट से आँक लेते थे। ऐसा लगता था कि दिगंबर संप्रदाय में भट्टारक युग में मुनियों में शिथिलाचार कुछ बढ़ चला था और लोगों में मुनियों की ओर से यहाँ तक अरुचि-सी हो चली थी कि श्रावक उन्हें भोजन भी नहीं देते थे। अतः उस समय के सोमदेव सूरि और पं० आशाधरजी को अपने-अपने श्रावकचार में गृहस्थों की इस कड़ाई का विरोध करना पड़ा था।

सोमदेव सूरि लिखते हैं–

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः संत्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति॥ –उपासका.

अर्थात्– 'आहारमात्र देने में मुनियों की क्या परीक्षा करते हो? वे सज्जन हों या असज्जन हों, गृहस्थी तो दान देने से शुद्ध होता ही है।'

पं० आशाधर जी लिखते हैं–

विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनरिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत त कुतःश्रेयोऽतिचचर्निम्। –सागरधर्मा.

अर्थात्– 'जैसे प्रतिमाओं में तीर्थंकरों की स्थापना करके उन्हें पूजते हैं वैसे ही युग के साधुओं में प्राचीन मुनियों की स्थापना करके भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए। जो लोग ज्यादा क्षोद-क्षेम करते हैं उनका कल्याण कैसे हो सकता है?'

गृहस्थों की इस जागरूकता के फलस्वरूप ही जैन धर्म में अनाचार की वृद्धि नहीं हो सकी और न उसे प्रोत्साहन ही मिल सका। जैन गृहस्थों में सदा से शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् होते आए हैं। जिन विद्वानों ने बड़े-बड़े ग्रंथों की हिंदी टीकाएँ की हैं। वे सभी

जैन गृहस्थ थे। उन्होंने अपने संप्रदाय में फैलने वाले शिथिलाचार का डटकर विरोध किया था, जिसके फलस्वरूप एक नया संप्रदाय बन गया और शिथिलाचार के सर्जकों का ही लोप हो गया।

जैन संघ में स्त्रियों को भी आदरणीय स्थान प्राप्त था। जैन धर्म (दिगंबर) यद्यपि स्त्री मुक्ति नहीं मानता फिर भी आर्यिकाओं और श्राविकाओं का बराबर सम्मान करता है और उन्हें बहुत ही आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। जैन संघ में विधवा को जो अधिकार प्राप्त है वे हिंदू धर्म में नहीं है। जैन सिद्धांत के अनुसार पुत्ररहित विधवा स्त्री अपने पति की तरफ से संपत्ति की मालकिन होती है, अपने मृत-पति के उत्तराधिकारियों की सम्मति के बिना दत्तक ले सकती है।

जैन संघ में चारों वर्ण के लोग सम्मिलित हो सकते थे। शूद्र को भी धर्मसेवन का अधिकार था। जैसा कि लिखा है–

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुशुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक्॥22॥ –सागरधर्मा.

अर्थात्– 'उपकरण, आचार और शरीर की शुद्धि होने से शुद्र भी जैनी के ही समान होता है, क्योंकि काललब्धि आदि के मिलने पर जाति से हीन आत्मा भी धर्म का अधिकारी होता है।'

किंतु मुनिदीक्षा के योग्य तीन ही वर्ण माने गए हैं। किसी[1] किसी आचार्य ने तीनों वर्णों का परस्पर में विवाह और खान-पान करने की भी अनुज्ञा दी है। यह बात जैन संघ की विशेषताओं को बतलाती है कि अहिंसा अणुव्रत का पालन करने वालों में जैन शास्त्रों में यमपाल चंडाल का नाम बड़े ही आदर से लिया गया है। स्वामी समंतभद्र ने यहाँ तक लिखा है–

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विंदुर्भस्मगूढ़ांगरान्तरौजसम्॥28॥ –रत्नकरण्ड श्रा.

अर्थात्– 'सम्यग्दर्शन से युक्त चंडाल को भी जिनेंद्रदेव राख से ढके हुए अंगार के समान (अंतरंग में दीप्ति से युक्त) देव मानते हैं।'

जैनसंघ की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह कि प्रत्येक जैन को अपने साधर्मी भाई के प्रति वैसा ही स्नेह रखने की हिदायत है जैसा स्नेह गौ अपने बच्चे से रखती है तथा यदि कोई साधर्मी किसी कारणवश धर्म से च्युत होता था तो जिस उपाय से भी बने उस उपाय से उसे च्युत न होने देने का प्रयत्न किया जाता था और यह सम्यक्त्व के आठ अंगों में से था। साथ ही साथ किसी भी साधर्मी का अपमान न करने की सख्त आज्ञा थी, जैसा कि लिखा है–

1.'परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनम्।'

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥26॥ –रत्नकरंड आ.

'जो व्यक्ति घमंड में आकर अन्य साधर्मियों का अपमान करता है वह अपने धर्म का अपमान करता है क्योंकि धार्मिकों के बिना धर्म नहीं रहता।'

इस तरह जैन संघ की विशालता, उदारता और उसकी संगठन शक्ति ने किसी समय उसे बड़ा बल दिया था और उसी का यह फल है कि बौद्ध धर्म के अपने देश से लुप्त हो जाने पर भी जैन धर्म बना रहा और अब तक कायम है। किंतु अब वे बातें नहीं रहीं। लोगों में साधर्मी-वात्सल्य लुप्त होता जाता है। अहंकार बढ़ता जाता है और किसी पर किसी का नियंत्रण नहीं रहा है। इसलिए यह संगठन भी अब शिथिल होता जाता है।

2. संघभेद

जैन तीर्थंकरों ने धर्म का उपदेश किसी संप्रदाय विशेष की दृष्टि से नहीं किया था। उन्होंने तो जिस मार्ग पर चलकर स्वयं स्थायी सुख प्राप्त किया, जनता के कल्याण के लिए ही उसका प्रतिपादन किया। उपदेश के संबंध में लिखा है–

अनात्मार्थ विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥8॥ रत्नकरंड श्रा०

अर्थात्– 'तीर्थंकर बिना किसी राग के दूसरों के हित का उपदेश देते हैं। शिल्पी हाथ के स्पर्श से शब्द करने वाला मृदंग क्या किसी की अपेक्षा करता है?'

अर्थात् जैसे शिल्पी का हाथ पड़ते ही मृदंग से ध्वनि निकलती है वैसे ही श्रोताओं की हित कामना से प्रेरित होकर वीतराग के द्वारा हितोपदेश दिया जाता है। इसलिए उनका उपदेश किसी वर्ग-विशेष या जाति विशेष के लिए न होकर प्राणिमात्र के लिए होता है। उसे आसानी से मनुष्य-देव, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सभी समझ जाते हैं और अपनी-अपनी रुचि, श्रद्धा और शक्ति के अनुसार हित की बात लेकर चले जाते हैं किंतु जो लोग उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं और जो कामाचार पसंद करते हैं। वे परस्पर में बँट जाते हैं और इस तरह से जैन धर्म में भी संप्रदाय कायम हो जाता है।

भगवान् महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले भगवान् पार्श्वनाथ हो चुके थे। भगवान् महावीर के समय में भी उनके पूर्ण अनुयायी मौजूद थे। उन्हीं में से भगवान् महावीर के माता-पिता थे। भगवान् महावीर ने भी उसी मार्ग पर चलकर तीर्थंकर पद प्राप्त किया और उसी मार्ग का उपदेश किया। कुछ हठी पुराने सुखशक्ति लोगों के सिवा समस्त जैन संघ अभिन्न था। आगे भी ऐसा होता ही रहा। किंतु श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में मगध में जो भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, उसने संघ के साधुओं में भेद को जन्म दिया।

निर्ग्रंथ मान्यता के अनुसार सम्राट चंद्रगुप्त के समय में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय जैन साधुओं की संख्या बहुत ज्यादा थी। सबको भिक्षा नहीं मिल सकती थी। इस कारण बहुत-से निष्ठावान् दृढ़व्रती साधु श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत को चले गए और शेष स्थूलभद्र के साथ वहीं रह गए। स्थूलभद्र के आधिपत्य में रहने वाले साधुओं ने सामयिक परिस्थितियों से पीड़ित होकर वस्त्र, पात्र, दंड वगैरह उपाधियों को स्वीकार कर लिया। जब दक्षिण को गया साधुसंघ लौटकर आया और उसने वहाँ के साधुओं को वस्त्र, पात्र वगैरह के साथ पाया तो उन्होंने उनको समझाया। मगर वे माने नहीं, फलतः साधुसंघ का भेद हो गया और वस्त्र-पात्र के पोषक साधु श्वेतांबर कहलाए और इनके कारण सनातन जैनी नग्नता के पोषक साधु दिगंबर कहलाए।

श्वेतांबरों की मान्यता के अनुसार मगध में दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु स्वामी नेपाल की ओर चले गए थे। जब दुर्भिक्ष हटा और पाटलीपुत्र में बारह अंगों का संकलन करने का आयोजन किया गया तो भद्रबाहु उसमें सम्मिलित नहीं हो सके। फलतः भद्रबाहु और संघ के साथ कुछ खींचातानी भी हो गई जिसका वर्णन आचार्य हेमचंद्र अपने परिशिष्ट पर्व में किया है। इसी घटना को लक्ष्य में रखकर डॉ० हर्मन जेकोवी ने जैन सूत्रों की अपनी प्रस्तावना में लिखा है–

पाटलीपुत्र में भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंग एकत्र किए गए थे। दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ही भद्रबाहु को अपना आचार्य मानते हैं। ऐसा होने पर भी श्वेतांबर अपने स्थविरों की पट्टावली भद्रबाहु के नाम से प्रारंभ नहीं करते किंतु उनके समकालीन स्थविर सम्भूति विजयक नाम से शुरू करते हैं। इससे यह फलित होता है कि पाटलीपुत्र में एकत्र किए गए अंग केवल श्वेतांबरों के ही माने गए हैं। समस्त जैन संघ के नहीं।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि संघभेद का बीजारोपण उक्त समय में ही हुआ था।

श्वेतांबर साहित्य के अनुसार प्रथम जिन श्रीऋषभदेव ने और अंतिम जिन श्री महावीर ने तो अचेलक धर्म का उपदेश दिया। किंतु बीच के बाईस तीर्थंकरों ने सचेल और अचेल दोनों धर्मों का उपदेश दिया। जैसा कि पंचाशक में लिखा है–

आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य॥12॥

और इसका कारण यह बताया है कि प्रथम और अंतिम जिनके समय साधु वक्र-जड़ होते थे– जिस-तिस बहाने से त्याज्य वस्तुओं का भी सेवन कर लेते थे। अतः उन्होंने स्पष्ट रूप से अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित धर्म का उपदेश दिया। इनके अनुसार पार्श्वनाथ के समय के साधु सवस्त्र भी हो गए थे और उनका महावीर के संघ में मिल जाना आगे चलकर शिथिलाचार का प्रोत्साहक बना और श्वेतांबर संप्रदाय की सृष्टि हुई। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। श्वेतांबर विद्वान् पं० बेचरदासजी ने लिखा है–

'श्रीपार्श्वनाथ और श्रीवर्धमान के शिष्यों के 250 वर्ष के दरम्यान किसी भी समय पार्श्वनाथ के संतानियों पर उस समय के आचारहीन ब्राह्मण गुरुओं का असर पड़ा हो और इसी कारण उन्होंने अपने आचारों में से कठिनता निकालकर विशेष नरम और सुकर आचार बना दिए हों यह विशेष संभावित है। ××× पार्श्वनाथ के बाद दीर्घ तपस्वी वर्धमान हुए। उन्होंने अपना आचरण इतना कठिन और दुस्सह रखा कि जहाँ तक मेरा ख्याल है इस तरह का कठिन आचरण अन्य किसी धर्माचार्य ने आचरित किया हो ऐसा उल्लेख आज तक के इतिहास में नहीं मिलता। ××× वर्धमान का निर्वाण होने से परम त्यागी-मार्ग के चक्रवर्ती का तिरोधान हो गया और ऐसा होने से उनके त्यागी निर्ग्रंथ निर्नायक से हो गए। तथापि मैं मानता हूँ कि वर्धमान के प्रताप से उनके बाद की दो पीढ़ियों तक श्रीवर्धमान का वह कठिन त्याग-मार्ग ठीक रूप से चलता रहा था। यद्यपि जिन सुखशीलियों ने उस त्याग-मार्ग को स्वीकारा था उनके लिए कुछ छूटें रखी गईं थीं और उन्हें ॠजुप्राज्ञ के संबोधन से प्रसन्न रखा गया था। तथापि मेरी धारणा में जब वे उस कठिनता को सहन करने में असमर्थ निकले और श्रीवर्धमान, सुधर्मा और जंबू जैसे समर्थ त्यागी की छाया में वे ऐसे दब गए थे कि किसी भी प्रकार की चीं पटाक किए बिना यथा–तथा थोड़ी-सी छूट लेकर भी वर्धमान के मार्ग का अनुकरण करते थे। परंतु इस समय वर्धमान, सुधर्मा या जंबू कोई भी प्रतापी पुरुष विद्यमान न होने से उन्होंने शीघ्र ही यह कह डाला कि जिनेश्वर का आचार जिनेश्वर के निर्वाण के साथ ही निर्वाण को प्राप्त हो गया। ××× मेरी मान्यतानुसार संक्रांतिकाल में ही श्वेतांबरता-दिगंबरता का बीजारोपण हुआ है और जंबू स्वामी के निर्वाण के बाद इसका खूब पोषण होता रहा है। यह विशेष संभावित है। यह हकीकत मेरी निरी कल्पनामात्र नहीं है किंतु वर्तमान ग्रंथ भी इसे प्रमाणित करने के सबल प्रमाण दे रहे हैं। विद्यमान सूत्रग्रंथों एवं कितनेक ग्रंथों में प्रसंगोपात्त यही बताया गया है कि 'जंबू स्वामी के निर्वाण के बाद निम्नलिखित दस बातें विच्छिन्न हो गई हैं– मनः पर्ययज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, तीन संयम, केवल ज्ञान और दसवाँ सिद्धिगमन। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जंबू स्वामी के बाद जिन कल्प का लोप हुआ बताकर अब से जिन कल्प के आचरण को बंद करना और उस प्रकार का आचरण करने वालों का उत्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस उल्लेख में अन्य कोई उद्देश्य मुझे मालूम नहीं देता। ××× जंबू स्वामी के निर्वाण के बाद जो जिनकल्प विच्छेद होने का वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरण करने वालों को जिनाज्ञा बाहर समझने की जो स्वार्थी एवं

एकतरफी दंभी धमकी का ढिंढोरा पीटा गया है बस इसी में श्वेतांबरता और दिगंबरता के विषवृक्ष की जड़[1] समाई हुई है।

यद्यपि दिगंबर परंपरा यह नहीं मानती कि बीच के 22 तीर्थंकरों ने सचेल और अचेल धर्म निरूपण किया था। वह तो सब तीर्थंकर के द्वारा अचेल मार्ग का ही प्रतिपादन होना मानती है। फिर भी पं० बेचरदासजी के उक्त विवेचन से संघ भेद के मूलकारण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

श्वेतांबर साहित्य में दिगंबरों की उत्पत्ति के विषयों में एक कथा मिलती है जिसका आशय इस प्रकार है– 'रथवीरपुर में शिवभूति नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसने अपने राजा के लिए अनेक युद्ध जीते थे इसलिए राजा उसका खूब सम्मान करता था। इससे वह बड़ा घमंडी हो गया था। एक बार शिवभूति बहुत रात गए घर लौटा। माँ ने फटकारा और द्वार नहीं खोला, तब वह एक मठ में पहुँचा और साधु हो गया। जब राजा को इस बात की खबर मिली तो उसने उसे एक बहुमूल्य वस्त्र भेंट किया। आचार्य ने उस वस्त्र को लौटा देने की आज्ञा दी। किंतु शिवभूति ने नहीं लौटाया। तब आचार्य ने उस वस्त्र के टुकड़े करके उनके आसन बना डाले। इस पर शिवभूति खूब क्रोधित हुआ और उसने प्रकट किया कि महावीर की तरह मैं भी वस्त्र नहीं पहनूँगा। ऐसा कह उसने सब वस्त्रों का त्याग कर दिया। उसकी बहन ने भी उसका अनुसरण किया। स्त्रियों को नग्न न रहना चाहिए ऐसा मत शिवभूति ने तब जाहिर किया और यह भी जाहिर किया कि स्त्री मोक्ष नहीं जा सकती। इस तरह महावीर निर्वाण के 609 वर्ष बाद बोटिकों की उत्पत्ति हुई और उनमें से दिगंबर संप्रदाय उत्पन्न हुआ।'

जिनधर्म (दिगंबर) की मान्यता के अनुसार भी श्वेतांबर संप्रदाय की उत्पत्ति विक्रम राजा की मृत्यु के 136वें वर्ष में हुई है। दोनों में सिर्फ 3 वर्ष का अंतर होने से दोनों की उत्पत्ति काल तो लगभग एक ही ठहरता है, रह जाती है कथा की बात। सो महावीर के द्वारा प्रतिपादित और आचरित दिगंबर धर्म उनके बाद एकदम लुप्त हो जाए और फिर क्रुद्ध साधु के नग्न हो जाने मात्र से चल पड़े और इतने विस्तृत और स्थायी रूप में फैल जाए, यह सब कल्पना की वस्तु है, किंतु वास्तविकता इससे दूर है। तो श्वेतांबर विद्वान् इस कथा को ठीक समझते हैं। वे भी इस बात को मानते हैं कि पहले साधु नग्न रहते थे फिर धीरे-धीरे परिग्रह बढ़ा।

उदाहरण के लिए श्वेतांबर मुनि कल्याण विजयजी के शब्द ही हम यहाँ उद्धृत करते हैं–

'आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास बस्तियों में होने लगा और इसके साथ ही नग्नता का भी अंत होता गया। पहले बस्ती में जाते समय

1. जैन साहित्य में विकार, पृ० 87-105

बहुधाकटिकंध का उपयोग होता था। वह बस्ती में बसने के बाद निरंतर होने लगा। धीरे-धीरे कटि वस्त्र का आकार-प्रकार बदलता गया। पहले मात्र शरीर का गुह्य अंग ही ढकने का विशेष ख्याल रहता था पर बाद में संपूर्ण नग्नता ढाँक लेने की जरूरत समझी गई और इसके लिए वस्त्र का आकार-प्रकार भी बदलना पड़ा।'

उपाधियों की संख्या में जिस क्रम से वृद्धि हुई उसे भी मुनि कल्याण विजय के ही शब्दों में पढ़ें–

'पहले प्रति व्यक्ति एक ही पात्र रखा जाता था। पर आर्यरक्षित सूरि ने वर्षाकाल में एक मात्रक नामक अन्य पात्र रखने की जो आज्ञा दे दी थी, उसके फलस्वरूप आगे जाकर मात्रक भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली में भिक्षा लाने का रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्र निमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप स्थविरों के कुल 14 उपकरणों की वृद्धि हुई जो इस प्रकार है–

1. पात्र, 2. पात्र बंध, 3. पात्र स्थान, 4. पात्र प्रमार्जनिका, 5. पटल, 6. रजस्त्राण, 7. गुच्छक, 8-9. दो चादरें, 10. ऊनी वस्त्र (कंबल), 11. रजोहरण, 12. मुखपट्टी, 13. मात्रक और 14. चालपट्टक।

यह उपधि औपधिक अर्थात् सामान्य मानी गई और आगे जाकर इसमें जो कुछ उपकरण बढ़ाए गए वे औपग्रहिक कहलाए। औपग्रहिक उपधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासन और दंड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजकल के श्वेतांबर जैनमुनि रखते हैं।'[1]

एक ओर श्वेतांबर संप्रदाय में इस तरह साधुओं की उपाधि में वृद्धि होती गई, दूसरी ओर आचारांग में जो अचेलकता के प्रतिपादक उल्लेख थे उन्हें जिनकल्पी का आचार करार दे दिया गया और जिन कल्प का विच्छेद होने की घोषणा करके महावीर के अचेलक मार्ग को उठा देने का प्रयास किया गया तथा उत्तर काल में साधु के वस्त्रपात्र का समर्थन बड़े ही जोर-से किया गया, यहाँ तक कि नग्न विचरण करने वाले महावीर के शरीर पर इंद्र द्वारा देवदूष्य डलवाया गया। जैसा कि पं० बेचरदासजी ने ही लिखा है–

'इस समाज के कुलगुरुओं ने अपने पसंद पड़े 'वस्त्रपात्र' वाद के समर्थन के लिए पूर्व के महापुरुषों को भी चीवरधारी बना दिया है और श्री वर्धमान महाश्रमण की नग्नता न दिख पड़े इस प्रकार का प्रयत्न भी किया है। इस विषय के ग्रंथ लिखकर 'वस्त्रपात्र' वाद को ही मजबूत बनाने की वे आज तक कोशिश कर रहे हैं। उनके लिए आपवादिक माना हुआ 'वस्त्रपात्र' वाद का मार्ग औत्सर्गिक मार्ग के समान हो गया है। वे इस विषय

---

1. श्रमण भगवान् महावीर।

में यहाँ तक दौड़े हैं कि चाहे जैसे अगम्य जंगल में, भीषण गुफा में या चाहे जैसे पर्वत के दुर्गम शिखर पर भावना भाते हुए केवल ज्ञान प्राप्त हुए पुरुष या स्त्री को जैनी दीक्षा के लिए शासनदेव कपड़े पहनाता है और वस्त्र के बिना केवलज्ञानी को अमहाव्रती तथा अचारित्री कहते तब भी नहीं हिचकिचाए। कोई मुनि वस्त्ररहित रहे ये बात उन्हें नहीं रुचती। इनके मत से वस्त्रपात्र के बिना किसी की गति ही नहीं होती।[1]

दूसरी ओर जैन (दिगंबर) परंपरा के आचार्य कुंदकुंद ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी–

'ण'[2] वि सिज्झइवत्तधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सब्वे।।23।।

अर्थात्– 'जिन शासन में तीर्थंकर ही क्यों न हो यदि वह वस्त्रधारी है तो सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। नग्नता ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है।' साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा–

[3]नग्गो पावइं दुक्खं नग्गो संसारसायरे भमइ।
नग्गो न लहई बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं।।98।।

अर्थात्– 'जिन भावना से रहित नग्न दुःख पाता है, संसार रूपी सागर में भटकता है और उसे ज्ञान लाभ नहीं होता।'

इस तरह एक ओर के शिथिलाचार और दूसरी ओर की दृढ़ता के कारण संघभेद के बीच में अंकुर फूटते गए और धीरे-धीरे उन्होंने वृक्ष और महावृक्ष का रूप धारण कर लिया। प्रारंभ में दिगंबरता और श्वेतांबरता का यह झगड़ा सिर्फ मुनियों तक ही था, क्योंकि उन्हीं की नग्नता और सवस्त्रता को लेकर यह उत्पन्न हुआ था। किंतु आगे श्रावकों की भी क्रियापद्धति में उसे सम्मिलित करके श्रावकों में भी झगड़ों के बीज बो दिए गए जो आज तीर्थक्षेत्रों के रूप में अपने विषफल दे रहे हैं। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीनकाल में दिगंबरी और श्वेतांबरी प्रतिमाओं का भेद नहीं था। दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे। मुनि जिन विजययी ने (जैन हितैषी भाग 13, अंक 6 में) लिखा है–

'मथुरा के कंकाली टीला में जो लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं, वे नग्न हैं और उन पर जो लेख हैं वे श्वेतांबर कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं।'

---

1. इसके लिए पाठकों को लेखक का लिखा हुआ 'भगवान् महावीर का अचेलक धर्म' नामक ट्रैक्ट देखना चाहिए।
2. षट्प्राभृ०, पृ० 67
3. षट् प्राभृता०, पृ०211

इसके सिवा 17वीं शताब्दी के श्वेतांबर विद्वान् पं० धर्मसागर उपाध्याय ने अपने प्रवचन परीक्षा नामक ग्रंथ में लिखा है–

'गिरनार और शत्रुंजय पर एक समय दोनों संप्रदायों में झगड़ा हुआ और उसमें शासन देवता की कृपा से दिगंबरों की पराजय हुई। जब इन दोनों तीर्थों पर श्वेतांबर संप्रदाय का अधिकार सिद्ध हो गया, तब आगे किसी प्रकार का झगड़ा न हो सके इसके लिए श्वेतांबर संघ ने यह निश्चय किया कि अब से जो प्रतिमाएँ बनाई जाएँगी उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाए। यह सुनकर दिगंबरियों को क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी प्रतिमाओं को स्पष्ट नग्न बनाना शुरू कर दिया। यही कारण है कि संप्रति राजा आदि की बनवाई हुई प्रतिमाओं पर वस्त्र लांछन नहीं है और स्पष्ट नग्नत्व भी नहीं है।'[1]

इससे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पहले दोनों की प्रतिमाओं में भेद नहीं था। परंतु अब दोनों की प्रतिमाओं में इतना अंतर पड़ गया है कि उसे देखने से आश्चर्य होता है। पं० बेचरदास जी ने लिखा है–

'यह संप्रदाय (श्वे० संप्रदाय) कडोरा कटिसूत्र वाली मूर्ति को ही पसंद करता है। उसे ही मुक्ति का साधन समझता है। वीतराग संन्यासी फकीर की प्रतिमा को जैसे किसी बालक को गहनों से लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणों से श्रृंगारित कर उसकी शोभा में वृद्धि को समझता है और परमायोगी वर्द्धमान या इतर किसी वीतराग की मूर्ति को विदेशी पोशाक जाकिट, कालर, घड़ी वगैरह से सुसज्जित कर उसका खिलौने जितना भी सौंदर्य नष्ट करके अपने मानव जन्म की सफलता समझता[2] है।

इस तरह परस्पर की खींचातानी के कारण जैन संघ में जो भेद पड़ा वह भेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और उसी के कारण आगे जाकर दोनों संप्रदायों में भी अनेक अवांतर पंथ उत्पन्न होते गए।

3. संप्रदाय और पंथ

दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ही संप्रदायों के उपलब्ध साहित्य के आधार से यह पता चलता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी में विशाल जैन संघ स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गया और इस विभाग का मूल कारण साधुओं का वस्त्र परिधान था। जो पक्ष साधुओं की नग्नता का पक्षपाती था और उसे ही महावीर का मूल आचार मानता था वह दिगंबर कहलाया। इसको मूलसंघ नाम से भी कहा है और जो पक्ष वस्त्र-पात्र का समर्थन करता था, वह श्वेतांबर कहलाया। 'दिगंबर' शब्द का अर्थ है– दिशा ही

1. इस तरह के अन्य प्रमाणों के लिए 'जैन साहित्य और इतिहास', पृ० 241 से आगे देखें।
2. जैन साहित्य में विकार।

जिनका वस्त्र है, अर्थात् नग्न और 'श्वेतांबर' शब्द का अर्थ है– सफेद वस्त्र वाला। इस तरह प्रारंभ में यद्यपि साधुओं के वस्त्र परिधान को लेकर ही संघभेद हुआ किंतु बाद को उसमें भेद की अन्य भी सामग्री जुटती गई और धीरे-धीरे दोनों संप्रदायों में भी अनेक अवांतर पंथ हो गए। किंतु भेद के कारणों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि जैन धर्म के विभिन्न संप्रदायों में तात्विक दृष्टि से भेद नहीं है। बल्कि जो कुछ भेद है वह अधिकांश में व्यावहारिक दृष्टि से ही है। सभी जैन संप्रदाय और पंथ अहिंसा और अनेकांतवाद के अनुयायी हैं, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, संसार आदि के स्वरूप के विषय में उनमें कोई भेद नहीं है। सातों तत्वों का स्वरूप सभी एक-सा मानते हैं, कुछ परिभाषाओं वगैरह को छोड़कर कर्म सिद्धांत में भी कोई मार्मिक भेद नहीं है। फिर भी भेद जो है वह ऐसा है जो मिटाया नहीं जा सकता। किंतु उस भेद के कारण जो दिलों में भेद की दीवार खड़ी हो चुकी है। वह अवश्य गिराई जा सकती है। अस्तु, प्रत्येक संप्रदाय और उसके अवांतर पंथों का परिचय निम्न प्रकार है–

दिगंबर संप्रदाय

दिगंबर संप्रदाय के साधु नग्न रहते हैं। वे जीव-जंतु को दूर करने के लिए मोरपंख की एक पीछी रखते हैं और मल-मूत्र वगैरह की बाधा के लिए एक कमंडलु रखते हैं, जिसमें प्रासुक जल रहता है। दिन में एक बार खड़े होकर अपने हाथ में ही भोजन कर लेते हैं इसलिए उन्हें भोजन के लिए पात्र की आवश्यकता नहीं होती। दिगंबर साधु का यह स्वरूप प्रारंभ से प्रायः ऐसा ही चला आता है, उसमें कुछ अंतर नहीं पड़ा है। किंतु आचार ग्रंथों में जो कहा है कि मुनियों को बस्ती से बाहर उद्यानों या शून्य गृहों में रहना चाहिए, इसमें अवश्य शिथिलता आई। मुनियों ने वनों को छोड़कर धीरे-धीरे नगरों में रहना प्रांरभ कर दिया। तभी तो ईसा की नौवीं शती के जैनाचार्य गुणभद्र ने मुनियों की इस प्रवृत्ति पर खेद प्रकट करते हुए लिखा[1] है कि 'जैसे रात्रि में इधर-उधर से भयभीत मृग ग्राम के समीप में आ बसते हैं वैसे ही इस कलिकाल में तपस्वीजन भी वनों को छोड़कर ग्राम में आ बसते हैं, यह बड़ी दुःखद बात है।

धीरे-धीरे यह शिथिलाचार बढ़ता रहा और परिस्थितियों तथा मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताओं से उसे बराबर प्रोत्साहन मिला। तभी तो शिवकोटी आचार्य के नाम से प्रसिद्ध की गई रत्नमाला[2] में कलिकाल में मुनियों को वनवास छोड़कर जिन

1. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्या यथा मृगाः।
 वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।।297।।–आत्मानु
2. कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसतमैः।
 स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः।।21।।

मंदिरों में रहने का स्पष्ट विधान किया गया है। इसे ही चैत्यवास कहते हैं। इसी से श्वेतांबरों में चैत्यवासी संप्रदाय की उत्पत्ति हुई थी। किंतु दिगंबर संप्रदाय में इस नाम के संप्रदाय का तो कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह निश्चित है कि दिगंबर संप्रदाय में भी वह था और उसी का विकसित एक रूप भट्टारकपद है जिसके विरोध में तेरह पंथ का उदय हुआ।

दिगंबरों में संघ भेद

पिछले साहित्य में दिगंबर धर्म के लिए 'मूलसंघ' शब्द का व्यवहार बहुतायत से पाया जाता है। दिगंबर धर्म या मूल संघ में आगे चलकर अनेक भेद-प्रभेद हो गए। आचार्य इंद्रनंदि ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि पुंड्रवर्धनपुर में अर्हद्बलि नाम के आचार्य हो गए हैं। वे पाँच वर्ष के अंत में सौ योजन में बसने वाले मुनियों को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे। एक बार युग के अंत में इसी प्रकार युग प्रतिक्रमण के लिए आए हुए मुनियों से उन्होंने पूछा कि क्या सब मुनि आ गए? तब उन्होंने उत्तर दिया– 'हाँ' भगवन्! हम सब अपने-अपने संघ सहित आ गए।' यह सुनकर आचार्य ने विचार किया कि अब यह जैन धर्म गण पक्षपात के सहारे ठहर सकेगा, उदासीन भाव से नहीं। तब उन्होंने संघ या गण स्थापित किए। जो मुनि गुहाओं से आए थे उनमें से कुछ को 'नंदि' और कुछ को 'वीर' का नाम दिया। जो अशोक वाटिका से आए थे उनमें से कुछ को 'अपराजित' और कुछ को 'देव' नाम दिया, जो मुनि पंचस्तूप्य निवास से आए थे उनमें से कुछ को 'सेन' और कुछ को 'भद्र' नाम दिया, जो मुनि शाल्मलि महावृक्ष के मूल से आए थे, उनमें से कुछ को 'गुणधर' और कुछ को 'गुप्त' नाम दिया, जो खंडकेसर वृक्षों के मूल से आए थे, उनमें से कुछ को 'सिंह' और कुछ को 'चंद्र' का नाम दिया।

इन नामों के विषय में कुछ मतभेद भी हैं, जिसका उल्लेख भी आचार्य इंद्रनंदि[1] ने किया है। कुछ के मत से जो गुहाओं से आए थे, उन्हें 'नंदि' जो अशोक वन से आए थे उन्हें 'देव', जो पंचस्तूपों से आए थे उन्हें 'सेन' जो शाल्मति वृक्ष के मूल से आए थे उन्हें 'वीर' और खंडकेसर वृक्षों के मूल से आए थे उन्हें 'भद्र' नाम दिया गया। कुछ के मत से गुहावासी 'नंदि', अशोक वन से आने वाले 'देव', पंचस्तूपवासी 'सेन', शाल्मलि वृक्ष वाले 'वीर' और खंडकेसर वाले 'भद्र' व 'सिंह' कहलाए।

1. आचार्य इंद्रनंदि ने इस विषय में 'उक्तं च' करके एक श्लोक उद्धृत किया है जो इस प्रकार है–
'आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्-
देवश्चान्योऽपराजित इति यतिपौ सेनभद्रान्ह्यौ च।'
पञ्चस्तुष्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्।।96।।

इन मतभेदों से मालूम होता है कि आचार्य इंद्रनंदि को भी इन नामभेद का स्पष्ट ज्ञान नहीं था, इसलिए इस बात का भी पता नहीं चलता कि अमुक को अमुक संज्ञा ही क्यों दी गई। इन सब संज्ञाओं से नंदि, सेन, देव और सिंह नाम ही विशेष परिचित हैं। भट्टारक[1] इंद्रनंदि आदि ने अर्हद्बलि आचार्य के द्वारा इन्हीं चार संघों की स्थापना किए जाने का उल्लेख किया है।

इन चार संघों के भी आगे अनेक भेद-प्रभेद हो गए। साधारणतः संघों के भेदों को 'गण' और प्रभेदों या उपभेदों को 'गच्छ' कहने की परंपरा मिलती है। कहीं-कहीं संघों को गण भी कहा है; जैसे– नंदिगण, सेनगण आदि। कहीं-कहीं संघों को अन्वय भी कहा है; जैसे– सेनान्वय। गणों में बलात्कारगण, देशीयगण और काणूरगण इन तीन गणों के और गच्छों में पुस्तकगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वक्रगच्छ और तगरिलगच्छ के उल्लेख पाए जाते हैं। इन संघ, गण और गच्छों की प्रव्रज्या आदि क्रियाओं में कोई भेद नहीं है।

किंतु दर्शनसार में कुछ ऐसे भी संघों की उत्पत्ति का उल्लेख किया है जिन्हें उनमें जैनाभास बताया गया है। वे संघ हैं– श्वेतांबर, यापनीय, द्रविण, माथुर और काष्ठा। इनमें से पहले दो संघों का वर्णन आगे किया है, क्योंकि उनसे आचार के अतिरिक्त दिगंबरों का सिद्धांत भेद भी है। शेष तीन जैन संघ दिगंबर धर्म के ही अवांतर संघ हैं तथा उनके साथ कोई महत्व का सिद्धांतभेद भी नहीं है। दर्शनसार[2] के अनुसार वि०सं० 526 में दक्षिण मथुरा में द्राविड़ संघ की उत्पत्ति हुई। इसका संस्थापक आचार्य पूज्यपाद का शिष्य वज्रनंदि था। इसकी मान्यता है कि बीज में जीव नहीं रहता, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। इसने ठंडे पानी से स्नान करके और खेती-वाणिज्य से जीवन निर्वाह करके प्रचुर पाप का संचय किया।

---

1. तदैव पतिराजोऽपि सर्वनैमित्तिकाग्रणी।
   अर्हद्बलिगुरुश्चक्रे संघसंघट्टनं परम् ।।6।।
   सिंहसंघों नन्दिसंघः सेनसंघों महाप्रभः।
   देवसंघ इति स्पष्टं स्थानस्थितिविशेषतः।।7।।
   गणगच्छादयस्तेभ्यो जाताः स्वपरसौख्यदाः।
   न तत्र भेदः कोऽप्यस्ति प्रव्रज्यादिपु कर्मसु।।8।।–नीतिसार
2. 'सिरपुज्जपादसीसो दाविड़ संघस्य कारगो दुट्ठो।
   णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो।।24।।
   वीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
   सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं।।26।।
   कच्छं खेतं वसहिं वाणिज्जं कारिउण जीवंतो।
   गहंतो सीयलणीरे पावं पउरं समज्जेदि।।27।।

द्रविड़ संघ से संबंधित शिलालेख कोगांल्वंशी शांतरवंशी तथा होयसलवंशी राजाओं के राज्यकाल के मिले हैं, जो प्रायः 10-11वीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। जिससे ज्ञात होता है कि उन वंश के नरेशों का संरक्षण इस संघ को प्राप्त था। इन लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि इस संघ के आचार्यों ने पद्मावतीदेवी की पूजा के प्रसार में बड़ा योग दिया था। कई लेखों में शांतर और होयसलवंश के राजाओं के द्वारा राज्य सत्ता पाने में पद्मावती की सहायता दिखाई गई है। लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि इस संघ के साधु वसदि या जैन मंदिरों में रहते थे। उनके जीर्णोद्धार और ऋषियों के आहारदान तथा भूमि, जागीर आदि का प्रबंध करते थे। शायद इन्हीं कारणों से दर्शनसार में इस संघ को जैनाभास कहा है।

एक शिलालेख में इस संघ को द्रविड़ संघ कोंडकुंदान्वय तथा दूसरे में मूलसंघ द्रविड़ान्वय लिखा है। परंतु 11वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के लेखों में इसका द्रविड़गण के रूप में नंदिसंघ असंगलान्वय के साथ उल्लेख है। इस पर से ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रारंभ में द्रविड़ संघ ने अपना आधार मूलसंघ कुंदकुंदान्वय को बनाया हो, पीछे यापनीय संप्रदाय के प्रभावशाली नंदिसंघ के अंतर्गत हो गया हो और इसी से दर्शनासार में उसे जैनाभास कहा हो।

11-12वीं शताब्दी में इस संघ के मुनियों की गद्दियाँ कोंगाल्व राज्य के मुल्लूर तथा शांतर राजाओं की राजधानी हुम्मच में थीं। हुम्मच से प्राप्त लेखों में इस संघ के अनेक आचार्यों का परिचय मिलता है।

मूलसंघ के गण, गच्छ एवं अन्वय

मूलसंघ 4-5वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में विद्यमान था। देवगण, सेनगण, देशियगण, नंदिगण, सूरस्थगण, काणूरगण, बलात्कारगण आदि उसके अंतर्गत थे। देशियगण का प्रसिद्ध गच्छ पुस्तकगच्छ था। उसी का दूसरा नाम वक्रगच्छ भी था। काणूरगण के दो प्रसिद्ध गच्छ थे मेकपाषाणगच्छ और तिंत्रिणीकगच्छ। 14वीं शताब्दी के बाद काणूरगण का प्रभाव बलात्कारगण के प्रभावशाली भट्टारकों के आगे क्षीण हो गया। चूँकि बलात्कारगण के आदिनायक पद्मनंदि आचार्य ने सरस्वती को बलात्कार से बुलाया था। इसलिए बलात्कारगण और सरस्वती-गच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। 14वीं शताब्दी के लेखों से इस गुफा का विशेष प्रभाव प्रकट होता है। एक लेख में मूलसंघ के साथ नंदिसंघ, बलात्कारगण और सारस्वत गच्छ का उल्लेख है तथा इस गण के आदि आचार्य के रूप में पद्मनंदि का नाम लिखा है और उनके कुंदकुंद वक्रग्रीव, एलाचार्य गृद्धपिच्छ नाम दिए हैं।

काष्ठा संघ

काष्ठासंघ की उत्पत्ति के संबंध में मतभेद है। दसवीं शताब्दी के दर्शनसार ग्रंथ में आचार्य देवसेन ने लिखा है कि दक्षिण प्रांत में आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमार सेन ने काष्ठा संघ की स्थापना की थी। इसने मयूर पिच्छ को छोड़कर गाय के बालों की पीछी धारण की थी और समस्त बागड़ देश में उन्मार्ग का प्रसार किया था। वह स्त्रियों को जिन-दीक्षा देता था। क्षुल्लकों की वीरचर्या का विधान करता था और एक छठा गुणव्रत (अणुव्रत) पालता था। इसने पुराने शास्त्रों को अन्यथा रचकर मूढ़ लोकों में मिथ्यात्व का प्रचार किया था। इससे उसे श्रमण संघ से निकाल दिया गया था। तब उसने काष्ठा संघ की स्थापना की थी तथा 17वीं शताब्दी के एक ग्रंथ वचन कोश में लिखा कि उमास्वामी के पट्टधर लोहाचार्य ने उत्तर भारत के अगरोहा नगर में इस संघ की स्थापना की थी। मूर्तिलेखों में काष्ठा संघ के साथ लोहाचार्यान्वय का उल्लेख मिलता है। इस संघ से संबंधित लेख भी प्रायः उत्तर-पश्चिम भारत से प्राप्त हुए हैं।

काष्ठा संघ की प्रमुख शाखाएँ या गच्छ चार थे– नंदितट, माथुर, बागड़ और लाट बागड़। माथुर गच्छ या संघ का संभवतया इतना प्रभाव था कि देवसेन ने अपने दर्शनसार में उसकी पृथक् गणना की। उसमें लिखा है कि काष्ठा संघ की स्थापना के दो सौ वर्ष बाद मथुरा में माथुर संघ की स्थापना रामसेन ने की थी। इस संघ के साधु पीछी नहीं रखते थे। इसलिए यह संघ निप्पिच्छ कहलाता था। काष्ठा संघ मथुरान्वय के प्रसिद्ध आचार्यों में सुभाषितरत्नसंदोह आदि अनेक ग्रंथों के रचयिता आचार्य अमितगति थे जो राजा भोज के समकालीन थे तथा लाट वागड़ संघ में प्रद्युम्न चरित्र काव्य के कर्ता महासेन थे। यह भी राजा मुंज और भोज के समकालीन थे।

यद्यपि इन तीनों को देवसेन आचार्य ने जैनाभास कहा है किंतु इनका बहुत-सा साहित्य उपलब्ध है और उसका पठन-पाठन भी दिगंबर संप्रदाय में होता है। हरिवंशपुराण के रचयिता ने आचार्य देवनंदि के पश्चात् वज्रसूरि का स्मरण किया है और उनकी उक्तियों को धर्म शास्त्र के प्रवक्ता गणधर देव की तरह प्रमाण कहा है। यह वज्रसूरि वही जान पड़ते हैं जिन्हें द्राविड़ संघ का संस्थापक कहा जाता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि दर्शनसार के रचयिता ने इन्हें जैनाभास क्यों कहा? क्योंकि दर्शनसार की रचना हरिवंशपुराण के पश्चात् वि० सं० ९९० में हुई है। इसका समाधान यह हो सकता है कि देवसेन सूरि ने दर्शनसार में जो गाथाएँ दी हैं, वे पूर्वाचार्य प्रणीत हैं। पूर्वाचार्यों की दृष्टि में द्रविड़ आदि संघों के साधु जैनाभास ही रहे होंगे। इसलिए दर्शनसार के रचयिता ने भी उन्हें जैनाभास बताया है, अन्यथा जिस

शिथिलाचार के कारण उन्होंने उक्त संघों को जैनाभास कहा है, वह शिथिलाचार मूलसंघी मुनियों में भी किसी न किसी रूप में प्रविष्ट हो गया था। वे भी मंदिरों की मरम्मत आदि के लिए गाँव, जमीन आदि का दान लेने लगे थे। उपलब्ध शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि मुनियों के अधिकार में भी गाँव-बगीचे रहते थे। वे मंदिरों का जीर्णोद्धार करते थे, दानशालाएँ बनवाते थे। एक तरह से उनका रूप मठाधीशों के जैसा हो चला था। किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि उस समय में शुद्धाचारी तपस्वी दिगंबर मुनियों का सर्वथा अभाव हो गया था अथवा सब उन्हीं के अनुयायी बन गए थे। शास्त्रोक्त शुद्ध मार्ग के पालने वाले और उनको मानने वाले भी थे तथा उसके विपरीत आचरण करने वाले मठपतियों की आलोचना करने वाले भी थे। पं० आशाधर जी ने अपने अनगारधर्मामृत के दूसरे अध्याय में इन मठपति साधुओं की आलोचना करते हुए लिखा है– 'द्रव्य जिन लिंग के धारी मठपति म्लेच्छों के समान लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं। इनके साथ मन, वचन और काय से कोई संबंध नहीं रखना चाहिए।'

ये मठाधीश साधु भी नग्न ही रहते थे। इनका बाह्य रूप दिगंबर मुनियों के जैसा ही होता था। इन्हीं का विकसित रूप भट्टारक पद है।

तेरह पंथ और बीस पंथ

भट्टारकी युग के शिथिलाचार के विरुद्ध दिगंबर संप्रदाय में एक पंथ का उदय हुआ, जो तेरह पंथ कहलाया। कहा जाता है कि इस पंथ का उदय विक्रम की सत्रहवीं सदी में पं० बनारसीदास जी के द्वारा आगरा में हुआ था। जब यह पंथ तेरह पंथ के नाम से प्रचलित हो गया तो भट्टारकों का पुराना पंथ बीस पंथ कहलाने लगा। किंतु ये नाम कैसे पड़े, यह अभी तक भी एक समस्या ही है। इसके संबंध में अनेक उपपत्तियाँ सुनी जाती हैं किंतु उनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता।

श्वेतांबराचार्य मेघ विजय ने वि० सं० 1757 के लगभग आगरा में युक्ति प्रबोध नाम का एक ग्रंथ रचा है। यह ग्रंथ पं० बनारसीदास जी के मत का खंडन करने के लिए रचा गया है। इसमें वाराणसी मत का स्वरूप बताते हुए लिखा है–

तम्हा दिगम्बराणं एए भटारगा वि णो पुज्जा।
तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो॥16॥
जिणपडिमाणं भूसणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।
वाणारसिओ वारइ दिगम्बरस्सागमाणाए॥20॥

अर्थात्– 'दिगंबरों के भट्टारक भी पूज्य नहीं हैं। जिनके तिलतुष मात्र भी परिग्रह है वे गुरु नहीं हैं। वाणारसी मतवाले जिन प्रतिमाओं को भूषणमाला पहनाने का तथा अंग रचना करने का भी निषेध दिगंबर आगमों की आज्ञा से करते हैं।'

आजकल जो तेरह पंथ प्रचलित हैं वह भट्टारकों या परिग्रहधारी मुनियों को अपना गुरु नहीं मानता और प्रतिमाओं को पुष्पमालाएँ चढ़ाने और केसर लगाने का भी निषेध करता है तथा भगवान् की पूजन सामग्री में हरे पुष्प और फल नहीं चढ़ाता। उत्तर भारत में इस पंथ का उदय हुआ और धीरे-धीरे यह समस्त देशव्यापी हो गया। इसके प्रभाव से भट्टारकी युग का एक तरह से लोप ही हो गया।

किंतु इस पंथभेद से दिगंबर संप्रदाय में फूट या वैमनस्य का बीजारोपण नहीं हो सका। आज भी दोनों पंथों के अनुयायी वर्तमान हैं, किंतु उनमें परस्पर में कोई वैमनस्य नहीं पाया जाता। चूँकि आज दोनों पंथों का अस्तित्व कुछ मंदिरों में ही देखने में आता है, अतः कभी किन्हीं दुराग्रहियों में भले ही खटपट हो जाती हो किंतु साधारणतः दोनों ही पंथ वाले अपनी-अपनी विधि से प्रेमपूर्वक पूजा करते हुए पाए जाते हैं। एक दो स्थान में तो 20 और 13 को मिलाकर उसका आधा करके साढ़े सोलह पंथ भी चल पड़ा है। आजकल के अनेक निष्पक्ष समझदार व्यक्ति 'पंथ' पूछा जाने पर अपने को साढ़े सोलह पंथी कह देते हैं। यह सब दोनों के ऐक्य और प्रेम का सूचक है।

तारण पंथ

परवार जाति के एक व्यक्ति ने जो बाद को तारणतरण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए, ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में इस पंथ को जन्म दिया था। सन् 1515 में ग्वालियर स्टेट के मल्हारगढ़ नामक स्थान में इनका स्वर्गवास हुआ। उस स्थान पर इनकी समाधि बनी है और उसे नशियांजी कहते हैं। यह तारणपंथियों का तीर्थस्थान माना जाता है। यह पंथ मूर्तिपूजा का विरोधी है। इनके भी चैत्यालय होते हैं, किंतु उनमें शास्त्र विराजमान रहते हैं और उन्हीं की पूजा की जाती है किंतु द्रव्य नहीं चढ़ाया जाता। तारणस्वामी ने कुछ ग्रंथ भी बनाए थे। इनके सिवा दिगंबर आचार्यों के बनाए हुए ग्रंथों को भी तारण पंथी मानते हैं। इस पंथ में अच्छे धनिक और प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद हैं। इस पंथ के अनुयायियों की संख्या दस हजार के लगभग बताई जाती है और वे मध्य प्रांत में बसते हैं।

श्वेतांबर-संप्रदाय

यह पहले लिख आए हैं कि साधुओं के वस्त्र परिधान को लेकर ही दिगंबर और श्वेतांबर भेद की सृष्टि हुई थी। अतः आज के श्वेतांबर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। उनके पास चौदह उपकरण होते हैं।

1. पात्र, 2. पात्रबंध, 3. पात्र स्थापन, 4. पात्र प्रमार्जनिका, 5. पटल, 6. रजस्त्राण, 7. गुच्छक, 8-9. दो चादरें, 10. ऊनी वस्त्र (कंबल), 11. रजोहरण, 12. मुखवस्त्र, 13. मात्रक, 14. चोल पट्टक।

इनके सिवा वे अपने हाथ में एक लंबा दंड भी लिए रहते हैं। पहले वे भी नग्न ही रहते थे। बाद में वस्त्र स्वीकार कर लेने पर भी विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक कारण पड़ने पर ही वे वस्त्र धारण करते थे और वह भी केवल कटिवस्त्र। विक्रम की आठवीं शती के श्वेतांबराचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने संबोध प्रकरण में अपने नाम के साधुओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे बिना कारण भी कटिवस्त्र बाँधते हैं और उन्हें क्लीब (कायर) कहा है। इस प्रकार पहले वे कारण पड़ने पर लंगोटी लगा लेते थे, बाद में सफेद वस्त्र पहनने लगे। फिर जिन मूर्तियों में भी लंगोटे का चिह्न बनाया जाने लगा। उसके बाद उन्हें वस्त्र-आभूषणों से सजाने की प्रथा चलाई गई। महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष के पश्चात् साधुओं की स्मृति के आधार पर ग्यारह अंगों का संकलन करके उन्हें सुव्यवस्थित किया गया और फिर उन्हें लिपिबद्ध किया गया। इन आगमों को दिगंबर परंपरा नहीं मानती।

श्वेतांबर संप्रदाय मानता है कि स्त्री को भी मोक्ष हो सकता है तथा जीवन्मुक्त केवली भोजन ग्रहण करते हैं। दिगंबर धर्म इन दोनों सिद्धांतों को भी स्वीकार नहीं करते। दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदाय में इन्हीं तीन सिद्धांतों को लेकर मुख्य भेद है। संक्षेप में कुछ उल्लेखनीय भेद निम्न प्रकार हैं–

1. केवली का कवलाहार; 2. केवली का नीहार; 3. स्त्री मुक्ति; 4. शूद्र मुक्ति; 5. वस्त्र सहित मुक्ति; 6. गृहस्थवेष में मुक्ति; 7. अलंकार और कछोटे वाली प्रतिमा का पूजन; 8. मुनियों के 14 उपकरण; 9. तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना; 10. ग्याहर अंगों की मौजूदगी; 11. भरत चक्रवर्ती को अपने भवन में केवल ज्ञान की प्राप्ति; 12. शूद्र के घर से मुनि आहार ले सकता है; 13. महावीर का गर्भ परिवर्तन; 14. महावीर का विवाह, कन्या जन्म; 15. महावीर स्वामी को तेजोलेश्या से उपसर्ग; 16. तीर्थंकर के कंधे पर देवदूष्य वस्त्र; 17. मरुदेवी का हाथी पर चढ़े हुए मुक्तिगमन और 18. साधु का अनेक घरों से भिक्षा ग्रहण करना।

इन बातों को श्वेतांबर संप्रदाय मानता है किंतु दिगंबर धर्म नहीं मानता।

श्वेतांबर चैत्यवासी

श्वेतांबर चैत्यवासी संप्रदाय का इतिहास इस प्रकार मिलता है–

संघभेद होने के पश्चात् वीर नि० सं० 850 के लगभग कुछ शिथिलाचारी मुनियों ने उग्रबिहार छोड़कर मंदिरों में रहना प्रारंभ कर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई और आगे जाकर वे बहुत प्रबल हो गए। इन्होंने निगम नाम के शास्त्र रचे, जिनमें यह बतलाया गया कि वर्तमान काल में मुनियों को चैत्यों में रहना उचित है और उन्हें पुस्तकादि के लिए आवश्यक द्रव्य भी संग्रह करके रखना चाहिए। ये वनवासियों की निंदा भी करते थे।

इन चैत्यवासियों के नियमों का दिग्दर्शन चैत्यवास के प्रबल विरोधी श्वेतांबराचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने 'संबोध प्रकरण' के गुर्वधिकार में विस्तार से कराया है। वे लिखते हैं–

'ये चैत्य और मठों में रहते हैं, पूजा और आरती करते हैं, जिन मंदिर और शालाएँ बनवाते हैं, देवद्रव्य का उपयोग अपने लिए करते हैं, श्रावकों को शास्त्र की सूक्ष्म बातें बताने का निषेध करते हैं, मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, रंगीले सुगंधित और धूप से सुवासित वस्त्र पहनते हैं, स्त्रियों के आगे गाते हैं, साध्वियों के द्वारा लाए गए पदार्थों का उपयोग करते हैं, धन का संचय करते हैं, केशलोच नहीं करते, मिष्ट आहार, पान, घी, दूध और फल-फूल आदि सचित्त द्रव्यों का उपयोग करते हैं, तेल लगवाते हैं, अपने मृत गुरुओं के दाह-संस्कार के स्थान पर स्तूप बनाते हैं, जिन प्रतिमा बेचते हैं आदि।'

वि० सं० 802 अणहिलपुरपट्टण के राजा चावड़ा से उनके गुरु शीलगुणसूरि ने, जो चैत्यवासी थे, यह आज्ञा जारी करा दी कि इस नगर में चैत्यवासी साधुओं को छोड़कर दूसरे वनवासी साधु न आ सकेंगे। इस आज्ञा को रद्द कराने के लिए वि० सं० 1070 के लगभग जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि नाम के दो विधिमार्गी आचार्यों ने राजा दुर्लभदेव की सभा में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया तब कहीं विधिमार्गियों का प्रवेश हो सका। राजा ने उन्हें 'खरतर' नाम दिया। इसी पर से खरतरगच्छ की स्थापना हुई। इसके बाद से चैत्यवासियों का जोर कम होता गया।

श्वेतांबरों ने आज जो जतीया श्रीपूज्य कहलाते हैं, वे मठवासी या चैत्यवासी शाखा के अवशेष हैं और जो 'संवेगी' मुनि कहलाते हैं वे वनवासी शाखा के हैं। संवेगी अपने को सुविहित मार्ग या विधि मार्ग का अनुयायी कहते हैं।

श्वेतांबरों में बहुत-से गच्छ थे। कहा जाता है कि उनकी संख्या 84 थी। किंतु आज जो गच्छ हैं उनकी संख्या अधिक नहीं है। मूर्तिपूजक श्वेतांबरों के गच्छ इस प्रकार हैं–

1. उपकेशगच्छ– इस गच्छ की उत्पत्ति का संबंध भगवान् पार्श्वनाथ से बताया जाता है। उन्हीं का एक अनुयायी केशी इस गच्छ का नेता था। आज के ओसवाल इसी गच्छ के श्रावक कहे जाते हैं।

2. खरतरगच्छ– इस गच्छ का प्रथम नेता वर्धमानसूरि को बतलाया जाता है। वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने गुजरात के अणहिलपुरपट्टण के राजा दुर्लभदेव की सभा में जब चैत्यवासियों को परास्त किया और राजा ने उन्हें 'खरतर' नाम दिया तो उनके नाम से यह गच्छ खरतरगच्छ कहलाया। इस गच्छ के अनुयायी अधिकतर

राजपूताने और बंगाल में पाए जाते हैं। मुंबई प्रांत में इसके अनुयायियों की संख्या थोड़ी है।

3. तपागच्छ– इस गच्छ के संस्थापक श्री जगच्चंद्रसूरि थे। सं० 1285 में उन्होंने उग्र तप किया। इस पर से मेवाड़ के राजा ने उन्हें 'तपा' उपनाम दिया। तब से इनका बृहद्गच्छ तपागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्री जगच्चंद्रसूरि और उनके शिष्यों का दैलवारा के प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माता वस्तुपाल बड़ा सम्मान करता था। इससे गुजरात में आज तक भी तपागच्छ का बड़ा प्रभाव चला आता है। श्वेतांबर संप्रदाय में यह गच्छ सबसे महत्व का समझा जाता है। इसके अनुयायी बंबई, पंजाब, राजपुताना, मद्रास आदि प्रांतों में पाए जाते हैं।

श्री जगच्चंद्रसूरि के दो शिष्य थे, देवेंद्रसूरि और विजयचंद्र सूरि। इन दोनों में मतभेद हो गया। विजयचंद्रसूरि ने कठोर आचार के स्थान पर शिथिलाचार को स्थान दिया। उन्होंने घोषणा की कि गीतार्थ मुनि वस्त्रों की गठरियाँ रख सकते हैं, हमेशा घी-दूध खा सकते हैं, कपड़े धो सकते हैं, फल तथा शाक ले सकते हैं, साध्वी द्वारा लाया हुआ आहार खा सकते हैं और श्रावकों को प्रसन्न करने के लिए उनके साथ बैठकर प्रतिक्रमण भी कर सकते हैं।

4. पार्श्वचंद्रगच्छ– यह तपागच्छ की शाखा है। तपागच्छ के आचार्य पार्श्वचंद्र वि० सं० 1515 में इस गच्छ से अलग हो गए। कारण यह था कि इन्होंने कर्म के विषय में नया सिद्धांत खड़ा किया था और निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि और छेद ग्रंथों को प्रमाण नहीं मानते थे। इस गच्छ के अनुयायी अहमदाबाद जिले में पाए जाते हैं।

5. सार्धपौर्णमीयकगच्छ– पौर्णमीयक गच्छ की स्थापना चंद्रप्रभसूरि ने की थी। कारण यह था कि प्रचलित क्रियाकांड से उनका मतभेद था तथा वे महानिशीथ सूत्र की गणना शास्त्र ग्रंथों में नहीं करते थे। आचार्य हेमचंद्र की आज्ञा से राजा कुमारपाल ने इस गच्छ के अनुयायियों को अपने राज्य में से निकलवा दिया था। इन दोनों की मृत्यु के बाद एक सुमतिसिंह नाम के पौर्णमीयक कुमारपाल की राजधानी अणहिलपुर में आए और इन्होंने इस गच्छ को नवजीवन दिया। तब से यह गच्छ सार्धपौर्णमीयक कहलाया। इस गच्छ के अनुयायी आज नहीं पाए जाते।

6. अंचलगच्छ– इस गच्छ के संस्थापक उपाध्याय विजयसिंह थे। बाद में वे आर्यरक्षित सूरि के नाम से विख्यात हुए। इस गच्छ में मुखपट्टी के बदले अंचल का (वस्त्र के छोर का) उपयोग किया जाता है। इससे इसका नाम अंचलगच्छ पड़ा है।

7. आगमिकगच्छ– इस गच्छ के संस्थापक शीलगुण और देवभद्र थे। पहले ये पौर्णमीयक थे, बाद में आंचलिक हो गए थे। ये क्षेत्रपाल की पूजा करने के विरुद्ध

थे। विक्रम की 16वीं शती में इस गच्छ की एक शाखा के कटुक नाम से पैदा हुई। इस शाखा के अनुयायी केवल श्रावक ही थे।

इन गच्छों में से आज खरतर, तपा और आंचलिक गच्छ ही वर्तमान हैं। प्रत्येक गच्छ की साधु-समाचारी जुदी-जुदी है। श्रावणों की सामयिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया विधि भी जुदी-जुदी है। फिर भी सब में जो भेद है वह एक तरह से निर्जीव-सा है। कोई कल्याणक दिन छह मानता है तो कोई पाँच मानता है। कोई पर्युषण अंतिम दिन भाद्रपद शुक्ला चौथ और कोई पंचमी मानता है। इसी तरह मोटी बातों को लेकर गच्छ चल पड़े हैं।

स्थानकवासी

सिरोही राज्य के अरहटबाड़ा नामक गाँव में हेमाभाई नामक ओसवाल के घर में विक्रम संवत् 1472 में लोंकाशाह का जन्म हुआ। 25 वर्ष की अवस्था में लोंकाशाह स्त्री-पुत्र के साथ अहमदाबाद चले आए। उस समय अहमदाबाद की गद्दी पर मुहम्मदशाह बैठा था। कुछ जवाहरात खरीदने के प्रसंग से लोंकाशाह का परिचय मुहम्मदशाह से हो गया और मुहम्मदशाह ने लोंकाशाह की चातुरी से प्रसन्न होकर उन्हें पाटन का तिजोरीदार बना दिया।

विष द्वारा मुहम्मदशाह की मृत्यु होने पर लोंकाशाह को बहुत खेद हुआ। उन्होंने नौकरी छोड़ दी और लेखन-कार्य में लग गए। उनके सुंदर अक्षरों से आकृष्ट होकर ज्ञानश्री नामक मुनिराज ने दश वैकालिक सूत्र की एक प्रति लिखने के लिए दी। फिर तो मुनिश्री के पास से अन्य शास्त्र भी लिखने के लिए आने लगे और वे उनकी दो प्रतियाँ करके एक अपने पास रखने लगे। इस तरह अन्य ग्रंथों का भी संग्रह करके लोंकाशाह ने उनका अभ्यास किया। उन्हें लगा कि आज मंदिरों में जो मूर्ति पूजा प्रचलित है वह तो इन ग्रंथों में नहीं है। इसके सिवा जो आचार आज जैन धर्म में पाए जाते हैं। उनमें से अनेक इन ग्रंथों की दृष्टि से धर्मसम्मत नहीं है। अतः उन्होंने जैन धर्म में सुधार करने का बीड़ा उठाया।

अहमदाबाद गुजरात की राजधानी होने के साथ व्यापार का भी केंद्र था। अतः व्यक्तियों का आवागमन लगा ही रहता था। जो वहाँ आते थे लोंकाशाह का उपदेश सुनकर प्रभावित होते थे। जब कुछ लोगों ने उसमें धर्म में दीक्षित करने की प्रार्थना की तो लोंकाशाह ने कहा, 'मैं स्वयं गृहस्थ होकर आपको अपना शिष्य कैसे बना सकता हूँ। तब ज्ञानजी महाराज ने उन्हें धर्म की दीक्षा दी और उन्होंने लोंकाशाह के नाम पर अपने गच्छ का नाम लोंकागच्छ रखा। इस तरह लोंकागच्छ की उत्पत्ति हुई।

पीछे से लोकामत में भी भेद-प्रभेद हो गए। सूरत के एक जैन साधु ने लोकामत में सुधार कर एक नए संप्रदाय की स्थापना की जो ढूँढिया संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध

हुआ। पीछे से लोंकाशाह के सभी अनुयायी ढूँढिया कहे जाने लगे। इन्हें स्थानकवासी भी कहते हैं, क्योंकि ये अपना सब धार्मिक व्यवहार मंदिर में न करके स्थानक यानी उपाश्रय में करते हैं। इस संप्रदाय के मानने वाले गुजरात, काठियावाड़, मारवाड़, मालवा, पंजाब तथा भारत के अन्य भागों में रहते हैं। उनकी संख्या मूर्तिपूजक श्वेतांबरों के जितनी ही है। अतः इस संप्रदाय को जैन धर्म को बड़ा उपसंप्रदाय कहा जा सकता है। किंतु ये अपने को श्वेतांबर ही मानते हैं, क्योंकि कुछ मतभेदों को यदि छोड़ दिया जाए तो श्वेतांबरों से ही इनका मेल अधिक खाता है।

यह संप्रदाय श्वेतांबरों के ही 45 आगमों में से 33 आगमों को मानता है। लोंकाशाह ने तो 31 आगम ही माने थे– व्यवहार सूत्र को वह प्रमाण नहीं मानता था। किंतु पीछे के स्थानकवासियों ने उसे प्रमाण मान लिया। धर्माचरण में स्थानकवासी श्वेतांबरों से भिन्न पड़ते हैं। वे मूर्तिपूजा नहीं मानते, मंदिर नहीं बनाते और न तीर्थयात्रा में ही विशेष श्रद्धा रखते हैं। इस संप्रदाय के साधु सफेद वस्त्र धारण करते हैं तथा मुख पर पट्टी बाँधते हैं। इन अमूर्तिपूजक श्वेतांबर साधुओं से भेद दिखाने के लिए सत्यविजय पंन्यास ने अठारहवीं सदी में मूर्तिपूजक श्वेतांबर साधुओं को पीला वस्त्र धारण करने का रिवाज चालू किया, जो अब भी देखने में आता है। इस सदी के अंत तक भट्टारकों की गद्दियाँ हुईं और यति तथा यतिनियाँ हुईं। खूब विरोध होने पर भी इनके अवशेष आज भी मौजूद हैं।

मूर्तिपूजा विरोधी तेरापंथ

मूर्तिपूजा विरोधी संप्रदाय में भी अनेक पंथ प्रचलित हुए, जिनमें से उल्लेखनीय एक तेरापंथ है। इस पंथ की स्थापना मारवाड़ में आचार्य भिक्षु (भीखम ऋषि) ने की थी।

आचार्य भिक्षुक का जन्म जोधपुर राज्य के अंतर्गत कंटालिया ग्राम में सं० 1783 में हुआ था। सं० 1808 में इन्होंने जैनी दीक्षा ग्रहण की। उन्हें लगा कि जिस अहिंसा की साधना के लिए हम सब कुछ त्याग कर निकले हैं। यथार्थ में उस अहिंसा के समीप भी नहीं पहुँचे हैं। जीवन व्यवहार में अहिंसा के नाम पर हिंसा को प्रश्रय देते हैं और धर्म के नाम पर अधर्म को। अतः उन्होंने एक नवीन साधु संघ की स्थापना की, जो 'तेरापंथ' कहलाया।

इस पंथ में साधु संघ के अधिपति पूज्य आचार्य श्री महाराज होते हैं। साधुओं को उनकी आज्ञा माननी पड़ती है और प्रतिदिन विधिपूर्वक उनका सम्मान करना होता है। इस पंथ का प्रचार पश्चिम भारत में अधिक है। कलकत्ता जैसे नगरों में भी इस पंथ के श्रावक रहते हैं।

यापनीय संघ

जैन धर्म के दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों से तो साधारणतः सभी परिचित हैं। किंतु इस बात का पता जैनों में से भी कम ही को है कि इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा संप्रदाय भी था जिसे यापनीय या गोप्यसंघ कहते थे।

यह संप्रदाय भी बहुत प्राचीन है। दर्शनसार[1] के कर्ता श्री देवसेनसूरि के कथनानुसार वि० सं० 205 में श्रीकलश नाम के श्वेतांबर साधु ने इस संप्रदाय की स्थापना की थी। यह समय दिगंबर श्वेतांबर भेद की उत्पत्ति से लगभग 70 वर्ष बाद पड़ता है।

किसी समय यह संप्रदाय कर्नाटक और उसके आस-पास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदंब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशों के राजाओं ने इसे और इसके आचार्यों को अनेक दान दिए थे।

यापनीय संघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर के पंखों की पिच्छी रखते थे और हाथ में ही भोजन करते थे। ये नग्न मूर्तियों को पूजते थे और वंदना करने वाले श्रावकों को 'धर्मलाभ' देते थे। ये सब बातें तो इनमें दिगंबरों जैसी थीं, किंतु साथ ही साथ वे मानते थे कि स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं। वैयाकरण शाकटायन (पाल्यकीर्ति) यापनीय थे। इनकी रची अमोघवृत्ति के कुछ उदाहरणों से मालूम होता है कि यापनीय संघ में आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्त और दशवैकालिक आदि ग्रंथों का पठन-पाठन होता था, अर्थात् इन बातों में वे श्वेतांबरों के समान थे। श्वेतांबर-मान्य जो आगमग्रंथ हैं यापनीय संघ संभवतः उन सभी को मानता था, किंतु उनके आगमों की वाचना श्वेतांबर संप्रदाय में मानी जाने वाली वलभी वाचना से शायद कुछ भिन्न थी। उन पर उसकी टीकाएँ भी हो सकती हैं जैसा कि अपराजितसूरि की दशवैकालिक सूत्र पर टीका थी। यह संप्रदाय बड़ा ही राज्यमान था। शिलालेखों से विदित होता है कि कदंब चालुक्य गंग, राष्ट्रकूट और रट्ठवंश के राजाओं ने इस संघ को और इसके साधुओं को दान दिए थे। अनेक शिलालेखों से इस संघ के गणों और गच्छों का भी परिचय मिलता है। इस संप्रदाय में नंदि संघ नंदिगच्छ प्राचीन तथा प्रमुख था। इस संघ के आचार्यों के नाम विशेषतः कीर्त्यंत और नंद्यंत होते थे। नंदि संघ भी कई गणों में विभक्त था। इसके कई प्रभावशाली गणयथा पुन्नागवृक्ष मूलगण, बलहारिगण और कंडूरगण मूलसंघ में शामिल कर लिए गए और नंदि संघ को द्रविड़ संघ और पीछे मूलसंघ ने अपना लिया।

---

1. कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकिलसादो हु सेवडदो।।29।।

शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि यह संघ 4वीं से 10वीं शताब्दी तक अच्छा संगठित था। 15वीं शताब्दी तक इसके जीवित रहने के प्रमाण मिलते हैं; क्योंकि कागवाड़े के श० सं० 1316 (वि० सं० 1451) के शिलालेख में यापनीय संघ के धर्मकीर्ति और नागचंद्र के समाधि लेखों का उल्लेख है।

कूर्चक संघ

कर्नाटक प्रांत में पाँचवीं शताब्दी के लगभग जैनों का एक संप्रदाय कूर्चक नाम से था। कदंबवंशी राजाओं के एक लेख में यापनीय और निर्ग्रंथ संप्रदायों के साथ इसका उल्लेख है। यथा-यापनीय और निर्ग्रंथ कूर्चकानाम। संभवतया यह दिगंबर संप्रदाय का ही एक भेद था। कदंब मृगेश वर्मा ने अन्य दो जैन संप्रदायों के साथ इसे भी दान दिया था। दूसरे एक लेख में इस संघ के अवांतर वारिषेणाचार्य संघ का उल्लेख है। यह वारिषेणाचार्य संघ कूर्चकों का ही एक भेद था।

अर्द्धस्फालक संप्रदाय

श्री रत्ननंदि आचार्य ने अपने भद्रबाहु चरित्र में अर्द्धस्फालक संप्रदाय का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि यह अद्‌भुत अर्द्धस्फालकमत कलिकाल का बल पाकर जल में तेल की बूँद की तरह सब लोगों में फैल गया। [1]उन्होंने इस मत को श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के अंत में उत्पन्न हुआ बतलाया है और अंत में लिखा है कि बल्लभपुर में पूरी तरह से श्वेत वस्त्र ग्रहण करने के कारण विक्रम राजा के मृत्युकाल से 136 वर्ष के बाद श्वेतांबर मत प्रसिद्ध हुआ। श्रीरत्ननंदि के मत से कुछ दिगंबर मुनियों ने जब अपनी नग्नता को छिपाने के लिए खंडवस्त्र स्वीकार कर लिया तो उनसे अर्द्धस्फालक संप्रदाय उत्पन्न हुआ और अर्द्धस्फालक संप्रदाय से ही श्वेतांबर संप्रदाय की उत्पत्ति हुई।

मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त जैन पुरातत्व में कुछ ऐसे आयागपट प्राप्त हुए हैं, जिनमें जैन साधु यद्यपि नग्न अंकित हैं परंतु वे अपनी नग्नता को एक वस्त्रखंड से

1. अतोऽर्द्धफालकं लोके व्यानसे मतमद्‌भुतम्।
कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत्।।304।।

छिपाए हुए हैं। प्लेट नं० 22 में कण्ह श्रमण का चित्र अंकित है, उनके बाएँ हाथ की कलाई पर एक वस्त्रखंड लटक रहा है जिसे आगे करके वे अपनी नग्नता को छिपाए हुए हैं। यही अर्द्धस्फालक संप्रदाय का रूप जान पड़ता है।

उधर श्वेतांबर[1] भी कहते हैं कि छठे स्थविर भद्रबाहु के समय में अर्द्धस्फालक संप्रदाय की उत्पत्ति हुई। इनमें से ई० सं० 80 में दिगंबर का उद्‌भव हुआ जो मूलसंघ कहलाया।

इससे भी इस संप्रदाय का अस्तित्व सिद्ध होता है। अब रह जाता है यह प्रश्न कि अर्द्धस्फालक श्वेतांबरों के पूर्वज हैं या दिगंबरों के? इसका समाधान भी मथुरा से प्राप्त पुरातत्व से ही हो जाता है। वहाँ के शिलापट्ट में भगवान् महावीर के गर्भपरिवर्तन का दृश्य अंकित है और उसी के पास एक छोटी-सी मूर्ति ऐसे दिगंबर साधु की है जिसकी कलाई पर खंडवस्त्र लटकता है। गर्भापहार श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता है। अतः स्पष्ट है कि उसके पास अंकित साधु का रूप भी उसी संप्रदायमान्य है।

उपसंहार

सारांश यह है कि मुख्य रूप से जैन धर्म दिगंबर और श्वेतांबर इन दो शाखाओं में विभाजित हुआ। बाद में प्रत्येक में अनेक गच्छ, उपशाखा और उपसंप्रदाय आदि उत्पन्न हुए। फिर भी सब महावीर भगवान् की संतान हैं और एक वीतराग देव के ही मानने वाले हैं।

1. जैन संस्कृति का प्राणस्थल, विश्ववाणी, सितंबर, 1942

विविध

1. कुछ जैनवीर

कुछ लोगों की धारणा है कि जैन हो जाने से मनुष्य राष्ट्र के काम का नहीं रहता, बल्कि राष्ट्र का भार बन जाता है। किंतु यह धारणा एकदम गलत है। देश की रक्षा के लिए एक सच्चा जैन सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है। प्राचीन समय में देश की रक्षा का भार क्षत्रियों पर था। वे प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करते थे और अपराधियों को प्राणदंड तक देते थे। सभी जैन तीर्थंकरों ने क्षत्रियकुल में जन्म लिया था और उनमें से पाँच तीर्थंकरों के सिवाय, जो कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हो गए थे, शेष सभी ने प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व अपने पैतृक राज्य का संचालन और संवर्धन किया था। उनमें से तीन तीर्थंकरों ने तो दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। बाईसवें तीर्थंकर नेमीनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे और गृह परित्याग से पूर्व युवावस्था में वे महाभारत के युद्ध में पांडवों की ओर से लड़े भी थे जैन पुराण युद्धों के वर्णन से भरे पड़े हैं। प्राचीन युग के वैश्य भी न केवल युद्धों में भाग लेते थे किंतु सेना के नायक तक बनते थे। शिशुनाम वंशी राजा श्रेणिक (बिंबसार) के नगर सेठ अर्हद्दास के पुत्र जंबुकुमार थे, जिन्होंने युवावस्था में जिन-दीक्षा धारण की और अंतिम केवली हुए, युद्ध करने के वर्णन जैन शास्त्रों में वर्णित हैं।

आज यद्यपि जैन धर्म के अनुयायी केवल वैश्य देखे जाते हैं किंतु जिन वैश्य जातियों में जैन धर्म पाया जाता है, उनमें से अनेक जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं, राज्य सत्ता चली जाने और व्यवसाय के बदल जाने से वे अब जातियाँ बन गई हैं। अतः क्षत्रियों का धर्म आज बनियों का धर्म बन गया। इस पुस्तक के 'इतिहास' विभाग में जैन धर्म के अनुयायी राजाओं की चर्चा धार्मिक दृष्टि से की गई है। यहाँ उन तथा कुछ अन्य जैन वीरों का वर्णन वीरता की दृष्टि से किया जाता है।

राजा चेटक

भगवान् महावीर की माता राजा चेटक की पुत्री थी। राजा चेटक अपने शौर्य के लिए प्रख्यात था। एक बार चेटक के दौहित्र मगधसम्राट कुणिक (अजातशत्रु) ने चेटक की वृद्धावस्था में चेटक के विरुद्ध आक्रमण कर दिया था। चेटक ने घमासान युद्ध करके अजातशत्रु के दाँत खट्टे कर दिए थे।

राजा उदयन

सिंधु-सौवीर का राजा उदयन महावीर भगवान् का अनुयायी था। यह राजा जैसा धर्मात्मा था वैसा ही वीर भी था। एक बार उज्जैनी के राजा चंड प्रद्योत ने उस पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ और उदयन ने प्रद्योत को पकड़कर अपना बंदी बना लिया।

मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त

मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त का नाम तो भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। सिकंदर की मृत्यु के बाद इस वीर ने भारतवर्ष को यूनानियों की दासता से मुक्त किया और युद्ध भूमि में यूनानी सेनापति सेल्युकस को पराजित करके हिंदूकुश पहाड़ तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल

राजा खारवेल के शिलालेख से मालूम होता है कि खारवेल ने सातकर्णि की कुछ भी परवाह न करके पश्चिम की ओर अपनी सेना भेजी। फिर मूर्षिकों पर आक्रमण किया। सातकर्णि और मूर्षिकों पर विजय प्राप्त करके राष्ट्रिकों और भोजकों से अपने पैर पुजवाए। फिर मगध पर आक्रमण किया। दक्षिण के पांडय राजा ने हाथी, घोड़े, मणि, मुक्ता आदि भेंट में देकर खारवेल का आधिपत्य स्वीकार किया। ऐसा प्रबल पराक्रमी जैन राजा खारवेल के पश्चात् दूसरा नहीं हुआ।

महाराज कुमारपाल

चित्तौड़ के किले से प्राप्त शिलालेख में लिखा है कि महाराज कुमारपाल ने अपने प्रबल पराक्रम से सब शत्रुओं को निर्मद कर दिया। उनकी आज्ञा को पृथ्वी के सब राजाओं ने मस्तक पर चढ़ाया। उसने शाकंभरी के राजा को अपने चरणों में नमाया। वह स्वयं अस्त्र लेकर सवालक्ष देश (मारवाड़) पर्यंत चढ़ा और सब गढ़पतियों को नमाया। सालपुर को भी वश में किया। महाराज कुमारपाल गुजरात के राजा थे।

गंगानरेश मारसिंह

गंगानरेश मारसिंह भी जैसा धर्मात्मा था वैसा ही शूरवीर भी था। इससे कृष्णराज तृतीय के भयानक शत्रु अल्लाह का मान-मर्दन किया और कृष्णराज की सेना की रक्षा की। किरातो को भगाया। वज्जाल को हराया। वनवासी के अधिकारी को पकड़कर

उस पर अधिकार किया। मथुरा को राजाओं से विनय प्राप्त की। नौलंब राजाओं को नष्ट किया। चालुक्य राजकुमार राजा दित्य को हराया। तापी, मान्यखेड, गोनूर, वनवासी आदि की लड़ाइयों को जीता। इसकी गंगचूड़ामणि, नोलंबा तक मांडलीक त्रिनेत्र, गंगाविद्याधर गंगवज्र आदि अनेक उपाधियाँ थीं।

समरकेसरो चामुंडराय

यह राजा राचल्ल के सेनापति थे। राजा इनकी वीरता से बड़ा प्रसन्न था। जब इन्होंने वज्जलदेव को हराया, तो समरधुरंधर पदवी पाई। नोलंबा युद्ध में सफल होने पर वीरमार्तंड कहलाए। उच्छंग के किले को जीत लेने पर रणरायसिंह हुए। वागपुर के किले में त्रिभुवनवीर को मार डालने पर बैरी-कुल काल-दंड की उपाधि पाई। गंगभट्ट को युद्ध में मारने पर समरपरशुराम हुए। सत्यवादी होने से सत्य-युधिष्ठिर कहे जाते थे।

सेनापति गंगराज

होयसलवंश का प्रतापी नरेश विष्णुवर्द्धन था। उसकी अनेक विजयों का श्रेय उसके आठ जैन सेनापतियों को था। ये सेनापति थे– गंगराज, बोप्प, पुणिस, बलदेवण्ण, मरियाने, भरत, ऐच और विष्णु। इन सेनापतियों के कारण ही होयसल राज्य दक्षिण भारत की प्रधान शक्तियों में गिना गया।

गंगराज– इन सेनापतियों में प्रधान थे गंगराज। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में गंगराज के प्रतापमय तथा धार्मिक कार्यों का वर्णन मिलता है। समधिगतपंचमहाशब्द, महासामंताधिपति, महाप्रचंड दंडनायक, वैरिभयदायक, श्री जैनर्मामृतांदुधि प्रवर्द्धन सुधारक, सम्यक्त्व रत्नाकर, धर्महर्म्योद्धरण मूलस्तंभ, विष्णुवर्द्धन भूपालहोय्यल महाराज्याभिषेक पूर्णकुंभ आदि उनकी उपाधियाँ थीं। इन्होंने कन्नेगाल में चालुक्य सेना को पराजित किया था। जब वे चालुक्यों को पराजित करके लौटे तब विष्णुवर्द्धन ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने को कहा। इन्होंने परम नामक ग्राम माँगकर उसे अपनी माता तथा भार्या द्वारा निर्माण कराए। जिन मंदिरों के लिए दान कर दिया। इसी प्रकार गोविंदवाणी गाँव प्राप्त करके गोम्मटेश्वर को अर्पण कर दिया। उन्होंने तलकाडु, कींग, चेंगिरि आदि को स्वाधीन किया, नरसिंह को यमलोक भेजा, अदियम, तिमिल, दामोदरादि शत्रुओं को पराजित किया। इस तरह गंगराज जैसे पराक्रमी थे वैसे ही धर्मिष्ठ भी थे। उन्होंने गोम्मटेम्वर का परकोटा बनवाया, गंगवाडि के समस्त जिन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया तथा अनेक स्थानों पर नवीन जिन मंदिरों का निर्माण कराया था। उनके मत से 7 नरक ये थे– झूठ बोलना, युद्ध में भय दिखाना, परस्त्रीरत रहना,

शरणार्थी को शरण न देना, अधीनों को असंतुष्ट रखना, स्वामी से द्रोह करना और जिन्हें पास में रखना चाहिए उन्हें छोड़ देना।

बोप्प— गंगराज का पुत्र दंडेश बोप्पदेव भी बड़ा शूरवीर और धर्मिष्ठ था। उसने अनेक जिनालयों का निर्माण कराया था। सन् 1134 में उसने शत्रु पर आक्रमण किया और उसकी प्रबल सेना को खदेड़कर कोंगों को परास्त किया था।

पुणिस— गंगराज के बहादुर सहयोगियों में पुणिस भी था। वह होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन का सांधिविग्रहिक था। उसने अनेक देश जीतकर विष्णुवर्द्धन को दिए। शूरवीर होने के साथ उसका हृदय भी विशाल था। युद्ध के कारण जो व्यापारी निर्धन हो गए थे, किसानों के पास बोने को बीज नहीं था, जो सरदार हारकर स्वामी से सेवक बन गए थे, उन सबको, जिनका जो कुछ नष्ट हो गया था वह सब पुणिस ने दिया।

मरियाने और भरत— होयसल विष्णुवर्द्धन के सेनानायकों में दो भाई दंडनायक मरियाने और भरत भी थे। दोनों भाई भी जैसे शूरवीर थे वैसे ही धर्मात्मा भी थे। भरत ने श्रवणबेलगोला में 80 नई बसदियाँ बनवाईं थीं और गंगवाड़ि की 200 पुरानी बसदियों का जीर्णोद्धार कराया था।

हुल्ल— नरसिंह होयसल का द्वितीय सेनापति हुल्ल या हुल्लप था। उस युग में जैन धर्म के उद्धारकों में चामुंडराय और गंगराज के बाद हुल्लप का ही नाम आता है। इस सेनापति के होयसल विष्णुवर्द्धन, नरसिंह और वल्लाल द्वितीय के राज्य में होयसल वंश की सेवा की थी। एक बार नरसिंह नरेश अपनी दिग्विजय के समय बेलगोला में आए, गोम्मटेश्वर की वंदना की और हुल्ल के बनवाए हुए चतुर्विंशांति जिनालय के दर्शन कर उनका नाम भव्यचूड़ामणि रखा, क्योंकि हुल्ल की उपाधि सम्यक्त्व चूड़ामणि थी।

शांतियण्ण— जैन सेनापति शांतियण्ण के पिता ने युद्ध में शत्रुओं को परास्त करते हुए अपने प्राण दिए थे। इससे नरसिंह ने उसके पुत्र शांतियण्ण को कसगुंड का स्वामी और सेना का दंडनायक बनाया था। उसके गुरु मल्लिषेण पंडित थे।

रेचरस— शिलालेख में लिखा है कि वल्लालदेव की रत्नत्रय और धर्म में दृढ़ता सुनकर कलचुरि कुल के सचिवोत्तम रेचरस ने वल्लालदेव के चरणों में आश्रय पाकर आरसी केरे में सहस्रकूट चैत्यालय की स्थापना की और मंदिर की व्यवस्था के लिए राजा वल्लाल से हंदरहालु ग्राम प्राप्त कर अपने वंश के गुरु सागरनंदि सिद्धांतदेव को सौंप दिया। यह रेचरस पहले सन् 1182 में कलचुरि नरेश बिज्जल का दंडनायक था। उसे कलचुरि नरेशों से देश मिले थे। उसने सन् 1200 के लगभग शांतिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा कराई थी।

बूरिराज— यह होयसल वल्लाल द्वितीय का एक सेनापति था। लेख में उसे मंत्रीश्वर और संधिविग्रहिक कहा है। उसने सन् 1173 में राजा वल्लाल के राज्याभिषेक के समय सीगेनाड के मारिकलि स्थान में त्रिकूट जिनालय बनवाया और मंदिर की पूजा, जीर्णोद्धार आदि के लिए एक गाँव भेंट किया था।

इरुगप्प— विजयनगर साम्राज्य को जिन जैन मंत्रियों और सेनापतियों ने अपनी सेवा से उपकृत किया था उनमें इरुगप्प का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह महामंत्री और सेनापति दोनों था। उसके पिता चैचय राजा हरिहर के कुल क्रमागत मंत्री और दंडनायक थे। इरुगप्प ने विजयनगर में एक मंदिर बनवाया था और उसमें कुंथुनाथ जिन की स्थापना की थी।

इस तरह दक्षिण भारत के राजवंशों में कितने ही जैन धर्म के भक्त वीर सेनापति और मंत्री हुए हैं, जिन्होंने अपने शासनकाल में शूरवीरता और धर्म वीरता का समान परिचय दिया है।

कलचुरि राजा

कलचुरि राजा प्रारंभ में जैन धर्म का पोषक था। पाँचवीं छठीं शताब्दी के अनेक शिलालेखों में लिखा है कि कलचूरियों ने देश पर चढ़ाई करके चोल और पांडय राजाओं को परास्त किया और अपना राज्य जमाया।

राजा अमोघवर्ष

यह राजा जैन धर्म का कट्टर अनुयायी था। इसकी प्रशस्तियों में लिखा है कि अंग, बंग, मगध, मालवा, चित्रकूट और बेडिंके राजा अमोघवर्ष की सेवा में रहते थे। बेडिंके पूर्वी चालुक्यों से इसका बराबर युद्ध होता रहा।

वच्छावत सरदार

वच्छराज के नाम से यह वंश वच्छावत कहलाया। वच्छराज बड़ा ही धर्मात्मा था। उसने जैन धर्म की प्रभावना के लिए बहुत कुछ किया। इसके वंश में बड़े-बड़े अनुभवी और शूर पैदा हुए जिन्होंने अपनी बुद्धि और कार्य कुशलता से राज्य-कार्यों और सैनिक-कार्यों में प्रवीणता दिखलाई। ये जिस प्रकार कलम के धनी थे वैसे ही तलवार के भी धनी थे। उनमें वीरसिंह और नागराज बड़े प्रसिद्ध वीर थे। वीरसिंह तो हाजी खाँ लोदी के साथ लड़ाई में मारा गया किंतु नागराजसिंह ने लून खाँ के समय में बलवे में बड़ी वीरता दिखलाई।

धनराज

जब 1787 ई० में अजमेर के महाराजा विजयसिंह ने अजमेर को मरहठों से पुनः जीत लिया तो धनराज सिंघी को जो ओसवाल जैन थे, अजमेर का गर्वनर बनाया। चार साल के बाद मरहठों ने पुनः मारवाड़ पर आक्रमण किया। इसी बीच मरहठा सरदार ने अजमेर को भी चारों ओर से घेर लिया। धनराज ने अपनी छोटी-सी सेना से शत्रु का सामना बड़ी वीरता से किया, किंतु मरहठों की शक्ति देखकर विजयसिंह ने धनराज को आज्ञा दी कि अजमेर मरहठों को सौंपकर जोधपुर चले आओ। धनराज न तो अपमानित होकर शत्रु को देश सौंपना चाहता था और न स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करना चाहता था। उसने हीरे की कनी खाकर प्राण त्याग दिए और मरते समय चिल्लाया– 'महाराज से कह देना मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया। मेरे जीते जी मरहठे अजमेर में प्रवेश नहीं कर सकते थे।'

जनरल इंद्रराज

जैन ओसवालों में इंद्रराज सबसे बड़े जनरल हुए हैं। इन्होंने बीकानेर के राजा को हराया और जयपुर के राजा का मानभंग किया। सन् 1815 में इनका स्वर्गवास जोधपुर में हुआ।

वस्तुपाल तेजपाल

जैन मंत्रियों और सेनापतियों में वस्तुपाल तेजपाल का नाम उल्लेखनीय है। ये दोनों भाई राजनीति के पंडित, तलवार के धनी, शिल्पकला के प्रेमी और जैन धर्म के अनन्य भक्त थे। ये पोरवाड़ जैन थे और गुजरात के वघेलवंशी राजा वीरधवल के मंत्री थे।

देवगिरि के यादववंशी राजा सिंह ने जब गुजरात पर आक्रमण किया तो इन वीरों ने उससे युद्ध करके विजय प्राप्त की। इसी प्रकार जब संग्रामसिंह ने खंभात पर हमला किया तब वस्तुपाल वहाँ का गर्वनर था। दोनों में घमासान युद्ध हुआ और संग्रामसिंह को युद्ध-क्षेत्र से भागना पड़ा।

सेनापति आभू

आभू श्रीमाली जैन राजपूत था। वह धर्माचरिणी में पक्का था। गुजरात के अंतिम सोलंकी राजा भीमदेव का सेनाध्यक्ष था। अभी वह इस पद पर नया ही नियुक्त हुआ था और भीमदेव अनुपस्थित थे। ऐसे समय में मुसलमानों ने राजधानी पर आक्रमण कर दिया। रानी को चिंता हुई किंतु आभू के उत्साहप्रद वचनों से विश्वस्त होकर रानी ने युद्ध की घोषणा कर दी और युद्ध का भार आभू को सौंप दिया।

आभू अपने दैनिक धर्म-कर्म का बड़ा पक्का था। युद्ध के मैदान में संध्या होते ही वह तलवार म्यान में रखकर हाथी के हौदे पर ही आत्मध्यान में लीन हो गया। यह देखकर लोग कहने लगे कि यह जैनी क्या लड़ेगा? किंतु नित्यकृत्य करने के बाद ही सेनापति की तलवार चमकने लगी और मुसलमानों के सेनापति को हथियार डालकर संधि की प्रार्थना करनी पड़ी।

जयपुर के जैन दीवान

जयपुर राज्य के दीवान पद को बहुत वर्षों तक जैनों ने सुशोभित किया है और राज्य को अनुशासित, सुखी तथा समृद्ध करने में स्तुत्य हाथ बँटाया है तथा उसकी रक्षा के लिए बहुत कुछ किया है। यहाँ एक दो उदाहरण दिए जाते हैं।

जब औरंगजेब का पुत्र बहादुरशाह भारत का सम्राट बना तो उसने आमेर पर कब्जा कर लिया और सवाई जयसिंह को राज्य छोड़ना पड़ा, तब दीवान रामचंद्र ने सेना संगठित करके आमेर पर चढ़ाई कर दी और आमेर पर पुनः जयसिंह का अधिकार हो गया।

इसी तरह दीवान रामचंद्र जी छाबड़ा भी जयपुर नरेश के प्रिय और विश्वासपात्र थे। सं० 1862 में जब जयुपर और जोधपुर में उदयपुर की राजकुमारी को लेकर झगड़ा हुआ तब जोधपुर में बख्शी सिंधी इंद्रराज और दीवान रायचंद्र ने मिलकर झगड़े को खत्म किया। किंतु बाद में लड़ाई की नौबत आ गई और दीवान रायचंद ने बुद्धि-कौशल और शस्त्र-कौशल से उसे निबटाया। ये दीवान बड़े धर्मात्मा थे। इन्होंने 1861 में एक बहुत बड़ी बिंब प्रतिष्ठा कराई थी।

इस तरह संक्षेप में कुछ जैन वीरों की यह कीर्ति गाथा है, जो बतलाती है कि जैन धर्मानुयायी आवश्यकता पड़ने पर मरने और मारने के लिए भी तत्पर रहते हैं। क्योंकि 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' जो 'कर्मवीर होते हैं वही धर्मवीर होते हैं' ऐसा शास्त्र वाक्य है।

2. जैन पर्व

जैनों का सबसे पवित्र पर्व दशलक्षण या पर्युषण पर्व है। दिगंबर संप्रदाय में यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक तथा श्वेतांबर में भाद्रकृ० 12 से भाद्रशु० 4 तक मनाया जाता है। इन दिनों में जैन मंदिरों में खूब आनंद छाया रहता है। प्रतिदिन प्रातःकाल से ही सब स्त्री-पुरुष स्नान करके मंदिरों में पहुँच जाते हैं और बड़े आनंद के साथ भगवान् का पूजन करते हैं। पूजन समाप्त होने पर प्रतिदिन श्री तत्वार्थसूत्र के दस अध्यायों में से एक-एक अध्याय का व्याख्यान और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मों में

से एक-एक धर्म का विवचेन होता है। इन दस धर्मों के कारण इस पर्व को दशलक्षण पर्व कहते हैं, क्योंकि धर्म के उक्त दस लक्षणों का इस पर्व में खासतौर से आराधन किया जाता है। व्याख्यान के लिए बाहर से बड़े-बड़े विद्वान् बुलाए जाते हैं और प्रायः सभी स्त्री-पुरुष उनके उपदेश से लाभ उठाते हैं। त्याग धर्म के दिन परोपकारी संस्थाओं को दान दिया जाता है और आश्विन कृष्णा प्रतिपदा के दिन पर्व की समाप्ति होने पर सब एकत्र होकर परस्पर में गले मिलते हैं और गत वर्ष की अपनी गलतियों के लिए परस्पर में क्षमा-याचना करते हैं। जो लोग दूर देशांतर में बसते हैं उनसे पत्र लिखकर क्षमा-याचना की जाती है।

इन दिनों में प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-उपवास वगैरह करते हैं। कोई-कोई दसों दिन उपवास करते हैं, बहुत-से दसों दिन एक बार भोजन करते हैं। इन्हीं दिनों में भाद्रपद शुक्ला दशमी को सुगंध दशमी पर्व होता है। इस दिन सब जैन स्त्री-पुरुष एकत्र होकर मंदिर में धूप खेने के लिए जाते हैं। इंदौर वगैरह में यह उत्सव दर्शनीय होता है।

भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी अनंत चतुर्दशी कहलाती है। इसका जैनों में बड़ा महत्व है। जैन शास्त्रों के अनुसार इस दिन व्रत करने से बड़ा लाभ होता है। दूसरे, यह दशलक्षण पर्व का अंतिम दिन भी है, इसलिए इस दिन प्रायः सभी जैन स्त्री-पुरुष व्रत रखते हैं और तमाम दिन मंदिरों में ही बिताते हैं। अनेक स्थानों पर इस दिन जुलूस भी निकलता है। कुछ लोग इंद्र बनकर जुलूस के साथ जल लाते हैं और उस जल से भगवान् का अभिषेक करते हैं, फिर पूजन होता है। पूजन के बाद अनंत चर्तुदशी व्रतकथा होती है। जो व्रती निर्जल उपवास नहीं करते वे कथा सुनकर ही जल ग्रहण करते हैं।

श्वेतांबर संप्रदाय में इसे 'पर्युषण' कहते हैं। साधुओं के लिए दस प्रकार का कल्प यानी आचार कहा है उसमें एक 'पर्युषणा' है। 'परि' अर्थात् पूर्ण रूप से उषणा अर्थात् वसना। अर्थात् एक स्थान पर स्थिर रूप से वास करने को पर्युषणा कहते हैं। उसका दिनमान तीन प्रकार है। कम से कम 70 दिन, अधिक से अधिक 6 मास और मध्यम 4 मास। कम से कम 70 दिन के स्थिर वास का प्रारंभ भाद्रपद सुदी पंचमी से होता है। पहले यही परंपरा प्रचलित थी, किंतु कहा जाता है कि कालिकाचार्य ने चौथ की परंपरा चालू की। उस दिन को 'संवछरी' यानी सांवत्सरिक पर्व कहते हैं। सांवत्सरिक पर्व अर्थात् त्यागी साधुओं के वर्षावास निश्चित करने का दिन। सांवत्सरिक पर्व को केंद्र मानकर उसके साथ उससे पहले के सात दिन मिलकर भाद्रपद कृष्ण 12 से शुक्ला चौथ तक आठ दिन श्वेतांबर संप्रदाय में 'पर्युषण' कहे जाते हैं। दिगंबर परंपरा में आठ दिन के बदले दस दिन माने जाते हैं और श्वेतांबरों के

पर्युषण पूरा होने के दूसरे दिन से दिगंबरों का दशलाक्षणी पर्व प्रारंभ होता है। सांवत्सरिक पर्व में गत वर्ष में जो कोई बैर-विरोध एक-दूसरे के प्रति हो गया हो, उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' 'मेरे दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर क्षमा-याचना की जाती है। इस पर्व का सम्मान मुगल बादशाह भी करते थे। सम्राट अकबर ने जैनाचार्य हरिविजय सूरि के उपदेश से प्रभावित हो पर्युषण पर्व में हिंसा बंद करने का फर्मान अपने साम्राज्य में जारी किया था।

अष्टांहिका पर्व

दिगंबर परंपरा का दूसरा महत्वपूर्ण पर्व अष्टांहिका पर्व है। यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अंत के आठ दिनों में मनाया जाता है। जैन मान्यता के अनुसार इस पृथ्वी पर आठवाँ नंदीश्वरद्वीप है। उस द्वीप में 52 जिनालय बने हुए हैं। उनकी पूजा करने के लिए स्वर्ग से देवगण उक्त दिनों में जाते हैं। चूँकि मनुष्य वहाँ तक नहीं जा सकते इसलिए उक्त दिनों में पर्व मनाकर यहीं पर पूजा कर लेते हैं। इन्हीं दिनों में सिद्धचक्र पूजा विधान का आयोजन किया जाता है। यह पूजा महोत्सव दर्शनीय होता है। श्वेतांबरों में भी पर्युषण के बाद सबसे महत्व का जैन पर्व सिद्धचक्र पूजा विधान ही है किंतु उनमें यह पूजा वर्ष में दो बार चैत्र और असौज में होती है, जो सप्तमी से पूनम तक 9 दिन चलती है।

महावीर जयंती

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भगवान् महावीर की जन्मतिथि है। इस दिन भारतवर्ष के सभी जैन अपना कारोबार बंद रखकर अपने-अपने स्थानों पर बड़ी धूम-धाम से महावीर जयंती मनाते हैं। प्रातःकाल जुलूस निकालते हैं और रात्रि में सार्वजनिक सभा का आयोजन होता है। भारत-भर में बहुत-सी प्रांतीय सरकारों ने अपने प्रांत में महावीर जयंती की छुट्टी घोषित कर दी है। केंद्रीय सरकार से भी जैनों की यही माँग है।

वीरशासन जयंती

जैनों के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर उनकी सबसे पहली धर्म देशना मगध की राजगृही नगरी के विपुलाचल पर्वत पर प्रातःकाल के समय हुई थी। उसी के उपलक्ष्य पर प्रतिवर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को वीरशासन जयंती मनाई जाती है। गत वि० सं० 2001 में पहले राजगृही में और बाद को कलकत्ता (कोलकाता) में अढ़ाई हजारवाँ वीरशासन महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया।

श्रुत पंचमी

दिगंबर परंपरा में धीरे-धीरे जब अंग-ज्ञान लुप्त हो गया तो अंगों और पूर्वों के एक देश के ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए। वे सोरठ देश के गिरनार पर्वत की चंद्रगुफा में ध्यान करते थे। उन्हें इस बात की चिंता हुई कि उनके बाद श्रुत ज्ञान का लोप हो जाएगा, अतः उन्होंने महिमा नगरी में होने वाले मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा, जिसके फलस्वरूप वहाँ से दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हें सिद्धांत पढ़ाया और विदा कर दिया। उन दोनों मुनियों का नाम पुष्पदंत और भूतबलि था। उन्होंने वहाँ से आकर षट्खंडागम नामक सिद्धांत ग्रंथ की रचना की। रचना हो जाने पर भूतबलि आचार्य ने उसे पुस्तकारूढ़ करके ज्येष्ठ[1] शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ के साथ उसकी पूजा की, जिससे श्रुतपंचमी तिथि दि० जैनियों में प्रख्यात हो गई। उस तिथि को वे शास्त्रों की पूजा करते हैं। उनकी देखभाल करते हैं, धूल तथा जीव-जंतु से उनकी सफाई करते हैं। श्वेतांबरों में कार्तिक सुदी पंचमी को ज्ञानपंचमी माना जाता है। उस दिन वे धर्मग्रंथों की पूजा तथा सफाई वगैरह करते हैं।

उक्त पर्वों के सिवा प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण के दिन कल्याणक दिन कहे जाते हैं। उन दिनों में भी जगह-जगह उत्सव मनाए जाते हैं। जैसे अनेक जगह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की ज्ञान-जयंती या निर्वाणतिथि मनाई जाती है।

दीपावली

ऊपर जो जैन पर्व बतलाए गए हैं वे ऐसे हैं जिन्हें केवल जैन धर्मानुयायी ही मानते हैं। इनके सिवा कुछ पर्व ऐसे भी हैं जिन्हें जैनों के सिवा हिंदू जनता भी मानती है। ऐसे पर्वों में सबसे अधिक उल्लेखनीय दीपावली का पर्व है। यह पर्व कार्तिक मास की अमावस्या की संध्या को मनाया जाता है। साफ-सुथरे मकान कार्तिकी अमावस्या की संध्या को दीपों के प्रकाश से जगमगा उठते हैं। घर-घर लक्ष्मी का पूजन होता है। सदियों से यह त्योहार मनाया जाता है, किंतु किसी को इसका पता नहीं है कि यह त्योहार कब चला, क्यों चला और किसने चलाया? कोई इसका संबंध रामचंद्र जी के

---

1. ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्याँ चातुर्वण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यघात् क्रियापूर्वकं पूजाम्।।143।।
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरयं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपुजां कुर्वते जैनाः।।144।। इंद्रनंदि-श्रुतावतार

अयोध्या लौटने से लगाते हैं। कोई इसे सम्राट अशोक की दिग्विजय का सूचक बताते हैं। किंतु रामायण में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, इतना ही नहीं, किंतु किसी हिंदू पुराण वगैरह में भी इस संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] बौद्ध धर्म में तो यह त्योहार मनाया नहीं जाता, रह जाती है जैन संस्कृति। इस समाज में शक सं० 705 (वि० सं० 840) का रचा हुआ हरिवंश पुराण है। उसमें भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन करते हुए लिखा[2] है– 'महावीर भगवान् भव्यजीवों को उपदेश देते हुए पावानगरी में पधारे और वहाँ के एक मनोहर उद्यान में चतुर्थ काल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर कार्तिकी अमावस्या के प्रभातकालीन संध्या के समय, योग का निरोध करके कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए। चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाए। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से पावानगरी का आकाश प्रदीप्ति हो रहा था। उसी समय से भक्त लोग जिनेश्वर की पूजा करने के लिए भारतवर्ष में प्रतिवर्ष उनके निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य पर दीपावली मनाते हैं।'

जैन धर्म की आज की स्थिति को देखते हुए कोई इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि महावीर निर्वाण के उपलक्ष्य में दीपावली मनाई जा सकती है। किंतु उस समय के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजघरानों के साथ महावीर का जो कुलक्रमागत संबंध था तथा उन पर जो प्रभाव था उसे देखते हुए ऐसा हो सकना असंभव तो नहीं कहा जा

---

1. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने हमें सुझाया है कि वात्स्यायन कामसूत्र में दीपावली को यक्षरात्रि महोत्सव कहा गया है तथा बौद्धों के 'पुप्फरत्त' जातक में कार्तिक की रात्रि को होने वाले उत्सव का वर्णन है। इसी प्रकार कार्तिक की पूर्णमासी को होने वाले उत्सव का वर्णन 'धम्मपद अट्ठकथा' में पाया जाता है। इन उल्लेखों में इतना ही पता चलता है कि कार्तिक में रात्रि के समय कोई उत्सव मनाया जाता रहा है। किंतु वह क्यों मनाया जाता है तथा उसका रूप क्या था, इसका पता नहीं चलता। ले०
2. जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य संततं समंततो भव्यसमूहसंतति।
   प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके।।15।।
   चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकं विहीनताविश्वचतुरब्दशेषके।
   स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः।।16।।
   अघातिकर्माणि निरुद्धयोग को विधूय घातीं धनबद्धिबंधनं।
   विबन्धनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुवन्धनम्।।17।।
   ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीप्तिया प्रदीप्तया।
   तदा स्म पावानगरी समंततः प्रदीपिताकाशवला प्रकाशते।।19।।
   ततस्तुः लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकायात्र भारते।
   समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाण विंभूति भक्तिभाक् ।।20।।

सकता। मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त के अनुसार जब चुंद महात्मा बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद को महावीर के मरने का समाचार देता है तो आयुष्मान् आनंद कहते हैं–'आवुस चुंद! भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिए यह बात भेंट स्वरूप है।' इस घटना से ही स्पष्ट हो जाता है कि अपने समय में महावीर भगवान् का कितना प्रभाव था।

इसके सिवा दीपावली के पूजन की जो पद्धति प्रचलित है, उससे भी समस्या पर प्रकाश पड़ता है। दीपावली के दिन क्यों लक्ष्मी-पूजन होता है? इसका संतोषजनक समाधान नहीं मिलता। दूसरी ओर, जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को पूर्णज्ञान की प्राप्ति हुई। यह गौतम ब्राह्मण थे। मुक्ति और ज्ञान को जैन धर्म में सबसे बड़ी लक्ष्मी माना है और प्रायः मुक्तिलक्ष्मी और ज्ञानलक्ष्मी के नाम से ही शास्त्रों में उनका उल्लेख किया गया है। अतः संभव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मी के पूजन की प्रथा ने धीरे-धीरे जनसमुदाय में बाह्य लक्ष्मी के पूजन का रूप ले लिया हो। बाह्यदृष्टि प्रधान मनुष्य समाज में ऐसा प्रायः देखा जाता है। लक्ष्मी-पूजन के समय मिट्टी का घरौंदा और खेल-खिलौने भी रखे जाते हैं। हमारे बड़े कहा करते थे कि यह घरौंदा भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधर की उपदेश सभा (समवसरण) की यादगार में है और चूँकि उनका उपदेश सुनने के लिए मनुष्य और पशु-पक्षी सभी जाते थे अतः उनकी यादगार में उनकी मूर्तियाँ (खिलौने) रखे जाते हैं। इस तरह दीपावली के प्रकाश में हम प्रतिवर्ष भगवान् की निर्वाण लक्ष्मी का पूजन करते हैं और जिस रूप में उनकी उपदेश सभा लगती थी उसका साज सजाते हैं।

दीपावली के प्रातःकाल में सभी जैन मंदिरों में महावीर निर्वाण की स्मृति में बड़ा उत्सव मनाया जाता है और नैवेद्य (लाडू) से भगवान् की पूजा की जाती है। इस ढंग से पूजा का आयोजन केवल इसी दिन होता है। इससे घर-घर में उस दिन जो मिष्ठान बनता है उसका उद्देश्य भी समझ में आ जाता है।

सलूनो या रक्षाबंधन

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्योहार, जिसे जैनी मनाते हैं, सलूनो या रक्षाबंधन पर्व है। साधारणतः इस त्योहार के दिन घरों में सीमियाँ बनती हैं और ब्राह्मण लोग लोगों के हाथों पर राखियाँ जिन्हें रक्षाबंधन कहते हैं, बाँधकर दक्षिणा लेते हैं। राखी बाँधते समय वे एक[1] श्लोक पढ़ते हैं जिसका भाव यह है–

1. येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा चल।।

'जिस राखी से दानवों का इंद्र महाबलि बलिराजा बाँधा गया उससे मैं तुम्हें भी बाँधता हूँ, मेरी रक्षा करो और उससे डिगना नहीं।'

साथ ही साथ उत्तर भारत में एक प्रथा और है। उस दिन हिंदू मात्र के द्वार पर दोनों ओर मनुष्य के चित्र बनाए जाते हैं, उन्हें 'सौन' कहते हैं। पहले उन्हें जिमाकर उनके राखी बाँधी जाती है तब घर के लोग भोजन करते हैं। हमने अनेक विद्वानों और पौराणिकों से इस त्योहार के बारे में जानना चाहा कि यह कब कैसे चला किंतु किसी से भी कोई बात ज्ञात नहीं हो सकी। बलि राजा की कथा वामनावतार के सिलसिले में आती है, किंतु उससे इस पर्व के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। जैन पुराणों में अवश्य एक कथा मिलती है जो संक्षेप में इस प्रकार है–

किसी समय उज्जैनी नगरी में श्रीधर्म नाम का राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे– बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद। एक बार जैन मुनि अकंपनाचार्य सात सौ मुनियों के संघ के साथ उज्जैनी में पधारे। मंत्रियों के मना करने पर भी राजा मुनियों के दर्शन के लिए गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्ग में एक मुनि से मंत्रियों का शास्त्रार्थ हो गया। मंत्री पराजित हो गए। क्रुद्ध मंत्री रात्रि में तलवार लेकर मुनियों को मारने के लिए निकले। मार्ग में गुरु की आज्ञा से उसी शास्त्रार्थ के स्थान पर ध्यान में मग्न अपने प्रतिद्वंद्वी मुनि को देखकर मंत्रियों ने उन पर वार करने के लिए जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्यों के त्यों रह गए। दिन निकलने पर राजा ने मंत्रियों को देश से निकाल दिया। चारों मंत्री अपमानित होकर हस्तिनापुर के राजा पद्म की शरण में आए। वहाँ बलि ने कौशल के पद्म राजा के एक शत्रु को पकड़कर उसके सुपुर्द कर दिया। पद्म ने प्रसन्न होकर मुँह माँगा वरदान दिया। बलि ने समय पर वरदान माँगने के लिए कहा।

कुछ समय बाद मुनि अकंपनाचार्य का संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और उसने वहीं वर्षावास करना तय किया। जब बलि वगैरह को इस बात का पता चला तो वे बहुत घबराए, पीछे उन्हें अपने अपमान का बदला चुकाने की युक्ति सूझ गई। उन्होंने वरदान का स्मरण दिलाकर राजा पद्म से सात दिन का राज्य माँग लिया। राज्य पाकर बलि ने मुनि संघ के चारों ओर एक बाड़ा खड़ा कर दिया और उसके अंदर पुरुषमेद्य यज्ञ करने का प्रबंध किया।

इधर मुनियों पर यह उपसर्ग प्रारंभ हुआ उधर मिथिला नगरी में वर्तमान एक निमित्तज्ञानी मुनि को इस उपसर्ग का पता लग गया। उनके मुँह से 'हा-हा' निकला। पास में वर्तमान एक क्षुल्लक ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने सब हाल बताया और कहा कि विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है। वे इस संकट को दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक तत्काल मुनि विष्णुकुमार के पास गए और उनको सब समाचार सुनाया।

विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुर के राजा पद्म के भाई थे। वे तुरंत अपने भाई पद्म के पास पहुँचे और बोले, 'पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है? कुरुवंश में ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि राजा ही तपस्वियों पर अनर्थ करने लगे तो उसे कौन दूर कर सकेगा? यदि जल ही आग को भड़काने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा।' उत्तर में पद्म ने बलि को राज्य दे देने का सब समाचार सुनाया और कुछ कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामनरूप धारण करके बलि के यज्ञ में पहुँचे और बलि के प्रार्थना करने पर तीन पैर धरती उससे माँगी। जब बलि ने दान का संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमार ने विक्रिया ऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को बढ़ाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरा पैर स्थान न होने से आकाश में डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनि से प्रार्थना की, 'भगवन्! अपनी इस विक्रिया को समेटिए। आपके तप के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठे हैं। तब उन्होंने अपनी विक्रिया को समेटा। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और बलि को देश से निकाल दिया गया।

बलि के अत्याचार से सर्वत्र हाहाकार मच गया था और लोगों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियों का संकट दूर होगा तो उन्हें आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होने पर सब लोगों ने दूध की सीमियों का हल्का भोजन तैयार किया, क्योंकि मुनि कई दिन के उपवासे थे। मुनि केवल सात सौ थे। अतः वे केवल सात सौ घरों पर ही पहुँच सकते थे, इसलिए शेष घरों में उनकी प्रतिकृति बनाकर और उन्हें आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्पर में रक्षा करने का बंधन बाँधा, जिसकी स्मृति त्योहार के रूप में अब तक चली आ रही है। दीवारों पर जो चित्र-रचना की जाती है, उसे 'सौन'[1] कहा जाता है। यह 'सौन' शब्द 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। प्राचीन काल में जैन साधु श्रमण कहलाते थे। इस प्रकार से सलूनो या रक्षाबंधन त्योहार जैन त्योहार के रूप में जैनों में आज भी मनाया जाता है। उस दिन विष्णुकुमार और सात सौ मुनियों की पूजा की जाती है। उसके बाद परस्पर में राखी बाँधकर दीवारों पर चित्रित 'सौनों' को आहार दान दिया जाता है, तब सब भोजन करते हैं और गरीबों तथा ब्राह्मणों को दान भी देते हैं।

---

1. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने हमें बताया है कि 'सौन' शब्द शकुनिक अपभ्रंश है जिसका अर्थ होता है गरुड़ पक्षी। श्रावण मास में नाग पंचमी के दिन जो चित्रकारी की जाती है वह नागों की सूचक है और रक्षाबंधन के दिन जो चित्रकारी की जाती है वह गरुड़ की सूचक है। नागों और गरुड़ों के वैमनस्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में पाया जाता है तथा वह प्रकाश और अंधकार की लड़ाई का भी सूचक है। रक्षाबंधन के दिन गरुड़ या प्रकाश की विजय नागों अथवा अंधकार पर हुई थी।

3. तीर्थक्षेत्र

साधारणतः जिस स्थान की यात्रा करने के लिए यात्री जाते हैं, उसे तीर्थ कहते हैं। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ 'घाट' अर्थात् स्नान करने का स्थान भी होता है किंतु जैनियों में कोई स्नान-स्थान तीर्थ नहीं है। नदियों के जल में पापनाशक शक्ति है यह बात वैदिक मानते हैं किंतु जैन नहीं मानते। इसी प्रकार सती होने की प्रथा हिंदुओं की दृष्टि से मान्य है और इसलिए वे सतियों के स्थानों को भी तीर्थ की तरह पूजते हैं, किंतु जैन उन्हें नहीं मानते। जैन दृष्टि से तो 'तीर्थ' शब्द का एक ही अर्थ लिया जाता है– 'भवसागर से पार उतरने का मार्ग बताने वाला स्थान।' इसलिए जिन स्थानों पर तीर्थंकरों ने जन्म लिया हो, दीक्षा धारण की हो, तप किया हो, पूर्णज्ञान प्राप्त किया हो या मोक्ष प्राप्त किया हो, उन स्थानों को जैनी तीर्थस्थान मानते हैं अथवा जहाँ कोई पूज्य वस्तु वर्तमान हो, तीर्थंकरों के सिवा अन्य महापुरुष जहाँ रहे हों या उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया हो, वे स्थान भी तीर्थ माने जाते हैं।

जैनों के तीर्थों की संख्या बहुत है। यहाँ सबको बतला सकना शक्य नहीं है, क्योंकि जैन धर्म की अवनति के कारण अनेक प्राचीन तीर्थ आज विस्मृत हो चुके हैं। अनेक स्थान दूसरों के द्वारा अपनाए जा चुके हैं। कई प्रसिद्ध स्थानों पर जैनमूर्तियाँ दूसरे देवताओं के रूप में पूजी जाती हैं। उदाहरण के लिए, प्रख्यात बद्रीनाथ तीर्थ के मंदिरों में भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति बद्रीविशाल के रूप में तमाम हिंदू धर्मियों के द्वारा पूजी जाती है। उस पर चंदन का मोटा लेप थोपकर तथा हाथ वगैरह लगाकर उसका रूप बदल दिया जाता है, इसीलिए जब प्रातःकाल श्रृंगार किया जाता है तो किसी को देखने नहीं दिया जाता। क्या आश्चर्य है जो कभी वह जैन मंदिर रहा हो और शंकराचार्य के द्वारा इस रूप में कर दिया गया हो, जैसा कि वहाँ पुराने बूढ़ों के मुँह से सुना जाता है, (अस्तु)।

जैन धर्म; दिगंबर ही नहीं श्वेतांबर आदि संप्रदायों के तीर्थस्थान हैं। उनमें बहुत-से ऐसे हैं जिन्हें दोनों ही मानते पूजते हैं और बहुत-से ऐसे हैं जिन्हें या तो दिगंबर ही मानते हैं या केवल श्वेतांबर अथवा एक संप्रदाय एक स्थान में मानता है तो दूसरा दूसरे स्थान में। कैलाश, चंपापुर, पावापुर, गिरनार, शत्रुंजय और सम्मेदशिखर आदि ऐसे तीर्थ हैं जिनको दोनों ही मानते हैं। गजपंथा मांगीतुंगी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, सिद्धवरकूट, बड़वानी आदि तीर्थ ऐसे हैं जिन्हें केवल दिगंबर परंपरा ही मानती है और इसी तरह आबूगिरि, शंखेश्वर आदि कुछ ऐसे तीर्थ हैं जिन्हें श्वेतांबर संप्रदाय ही मानता है। यहाँ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्रों का सामान्य परिचय प्रांतवार कराया जाता है।

बिहार प्रदेश

सम्मेदशिखर– हजारीबाग जिले में जैनों का यह एक अतिप्रसिद्ध और अत्यंत पूज्यसिद्ध क्षेत्र है। इसे दिगंबर (प्रारंभ से) और श्वेतांबर गत दो शताब्दी से समान रूप से मानते और पूजते हैं। श्री ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर के सिवा शेष बीस तीर्थंकरों ने इसी पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। 23वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के नाम के ऊपर से आज यह पर्वत 'पारसनाथ हिल' के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वीय रेलवे पर इसके रेलवे स्टेशन का नाम भी कुछ वर्षों से पारसनाथ हो गया है। इस पर्वत की चोटियों पर बने अनेक मंदिरों का दर्शन करने के लिए प्रतिवर्ष हजारों दिगंबर और श्वेतांबर स्त्री-पुरुष आते हैं। इसकी यात्रा में 18 मील का चक्कर पड़ता है और 8 घंटे लगते हैं।

कुलुआ पहाड़– यह पहाड़ जंगल में है। गया से जाया जाता है। इसकी चढ़ाई 2 मील है। इस पर सैकड़ों जैन प्रतिमाएँ खंडित पड़ी हैं। अनेक जैन मंदिरों के भग्नावशेष भी पड़े हैं। कुछ जैन मंदिर और प्रतिमाएँ खंडित भी हैं। कहा जाता है कि इस पहाड़ पर 10वें तीर्थंकर शीतलनाथ ने तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इंडियन एंटीक्वायरी (मार्च, 1901) में एक अंग्रेज लेखक ने इसके संबंध में लिखा था– 'पूर्वकाल में यह पहाड़ अवश्य जैनियों का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा होगा, क्योंकि सिवाय दुर्गादेवी की नवीन मूर्ति के और बौद्ध मूर्ति के एक खंड के अन्य सब चिह्न जो पहाड़ पर हैं, ये सब जैन तीर्थंकरों को प्रकट करते हैं।'

गुणावा– यह भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी का निर्वाण-क्षेत्र है। गया-पटना (ई० आर०) लाईन में स्थित नवादा स्टेशन से डेढ़ मील है।

पावापुर– गुणावा से 13 मील पर अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का यह निर्वाण-क्षेत्र है। उसके स्मारकस्वरूप तालाब के मध्य में एक विशाल मंदिर है, जिसको जलमंदिर कहते हैं। जलमंदिर में महावीर स्वामी, गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी के चरण स्थापित हैं। कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य में यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है।

राजगृही या पंचपहाड़ी– पावापुरी से 11 मील राजगृही है। एक समय यह मगध देश की राजधानी थी। यहाँ 20वें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ का जन्म हुआ था। राजगृही के चारों ओर पाँचों पर्वत हैं। उनके बीच में राजगृही बसी थी। इसी से इसे पंचपहाड़ी भी कहते हैं। महावीर भगवान् का प्रथम उपदेश इसी नगरी के विपुलाचल पर्वत पर हुआ था। पाँचों पहाड़ों के ऊपर जैन मंदिर बने हैं। इन सभी की वंदना करने में 15-16 मील का चक्कर पड़ जाता है।

कुंडलपुर– यह राजगृही से 10 मील पर है। इसे भगवान् महावीर का जन्मस्थान मानकर पूजा जाता है।

मंदारगिरि— भागलपुर से 30 मील पर यह एक छोटा-सा पहाड़ है। इसी को बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी का मोक्ष-स्थान माना जाता है। किंतु वर्तमान में चंपापुर को ही पांचों कल्याणकों का स्थान माना जाता है। भागलपुर से 4 मील पर नाथ नगर है और वहाँ से 2 मील पर चंपापुर है।

पटना— यह बिहार प्रांत की राजधानी है। पटना सिटी में गुलजार बाग स्टेशन के पास में ही एक छोटी-सी टीकरी पर चरण पादुकाएँ स्थापित हैं। यहाँ से सेठ सुदर्शन ने मुक्ति लाभ किया था। इनकी जीवन-कथा अत्यंत रोचक और शिक्षाप्रद है।

उत्तर प्रदेश

बनारस— इस नगर के भदैनी घाट मुहाल में गंगा के किनारे पर दो विशाल दिगंबर जैन मंदिर तथा अब एक श्वेतांबर मंदिर है जो सातवें तीर्थंकर भगवान् सुपार्श्वनाथ के जन्मस्थान के रूप में माने जाते हैं। यहाँ पर जैनों का अतिप्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय स्थापित है जिसमें संस्कृति और जैन धर्म की उच्च शिक्षा दी जाती है। भेलूपुर मुहल्ला के मंदिरों में एक मिश्रित भी है। यह स्थान तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि होने के कारण पूजनीय है। इस प्रकार बनारस दो तीर्थंकरों का जन्मस्थान है। शहर में अन्य भी कई जैन मंदिर हैं।

सिंहपुरी— बनारस से 6 मील की दूरी पर सारनाथ नाम का एक ग्राम है जो बौद्ध पुरातत्व की दृष्टि से अतिप्रसिद्ध है। यहीं पर किसी समय सिहंपुरी नाम का नगर बसा अब ग्राम था, जिसमें 11वें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ ने जन्म लिया था। यहाँ पर जैन मंदिर और जैन धर्मशाला है। दिगंबर जैनों का मंदिर तो बौद्ध मंदिर के ही पास में है किंतु श्वेतांबर मंदिर कुछ दूरी पर पुराने रेलवे स्टेशन के पास बना है।

चंद्रपुरी— सारनाथ से 9 मील पर चंद्रवटी नाम का गाँव है जो चंद्रपुरी का भग्नावशेष कहा जा सकता। यहाँ पर आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभ भगवान् ने जन्म लिया था। यहाँ गंगा के तट पर दोनों संप्रदायों के मंदिर अलग-अलग हैं।

प्रयाग— यहाँ त्रिवेणी संगम के पास ही एक पुराना किला है। किले के भीतर जमीन के अंदर एक अक्षयवट (बड़ का पेड़) है। कहते हैं कि श्री ऋषभदेव ने यहाँ तप किया था। किले में प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी हैं।

फफौसा— इलाहाबाद-कानपुर के बीच में उत्तरीय रेलवे पर भरवारी नाम का स्टेशन है; वहाँ से 20-25 मील पर यह एक छोटा-सा गाँव है। उसके पास में ही प्रभास नाम का एक पहाड़ है। चढ़ने के लिए 116 सीढ़ियाँ बनी हुईं हैं। कहा जाता है कि इस पहाड़ पर छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ भगवान् ने तप किया था और यहीं पर उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। यहाँ एक मंदिर है और मंदिर के आगे चट्टान में उकेरी हुई प्रतिमाएँ हैं।

कौशांबी— फफौसा से 4 मील पर गढ़वाय नाम का गाँव है। उसके पास में ही कुशंबा नाम का गाँव है, जिसे प्राचीन कौशांबी नगरी माना जाता है। इस नगरी में भगवान् पद्मप्रभ का जन्म हुआ था।

अयोध्या— जैन शास्त्रों के अनुसार यह प्रसिद्ध नगरी अति प्राचीन काल से जैनों का मुख्य स्थान रही है। जैनों के 5 तीर्थंकरों का जन्म इसी नगरी में हुआ था। आज यहाँ अनेक जैन मंदिर और धर्मशालाएँ वर्तमान हैं।

खुखुंद— गोरखपुर से एन० ई० रेलवे का नोनखार स्टेशन 29 मील है। वहाँ से 3 मील खुखुंद गाँव है। इसका प्राचीन नाम किष्किंधा बतलाया जाता है। यहाँ के मंदिर में श्री पुष्पदंत भगवान् की मूर्ति विराजमान है।

सेंटमेंट— फैजाबाद से गोंडा रोड पर 21 मील बलरामपुर है। बलरामपुर से 10 मील पर सेंटमेंट है। इसका प्राचीन नाम श्रावस्ती बताया जाता है जो कि तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ का जन्म स्थान है।

रत्नपुरी— यह स्थान फैजाबाद जिले के सोहावल स्टेशन से डेढ़ मील है। यह श्रीधर्मनाथ स्वामी की जन्मभूमि है। दो मंदिर दिगंबरों के और एक श्वेतांबरों का है।

कंपिला— यह तीर्थक्षेत्र जिला फर्रुखाबाद में एन० ई० रेलवे के कायमगंज स्टेशन से 8 मील है। यहाँ तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथ के 4 कल्याणक हुए हैं। प्रतिवर्ष चैत्र मास में यहाँ मेला भी लगता है और रथोत्सव होता है।

अहिक्षेत्र— एन० आर० की बरेली-अलीगढ़ लाइन पर आंवला स्टेशन है। वहाँ से 8 मील रामनगर गाँव है, उसी से लगा हुआ यह क्षेत्र है। इस क्षेत्र पर तपस्या करते हुए भगवान् पार्श्वनाथ के ऊपर कमठ के जीव ने घोर उपसर्ग किया था और उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। प्रतिवर्ष चैत्र वदी अष्टमी से द्वादशी तक यहाँ मेला होता है।

हस्तिनापुर— यह क्षेत्र मेरठ से 12 मील है। वहाँ श्री शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान इस तरह चार कल्याणक हुए हैं तथा 19वें मल्लिनाथ तीर्थंकर का समवसरण भी आया था। यहाँ पर दिल्ली के लाला हरसुखदास जी का बनवाया हुआ एक विशाल दिगंबर जैन मंदिर और धर्मशाला है। पास में ही श्वेतांबरों का भी मंदिर है। धर्मशाला से लगभग 2-3 मील पर चारों तीर्थंकरों की चार दि० जैन नशियाँ बनी हुईं हैं जो प्राचीन हैं। प्रतिवर्ष कार्तिक सुदी अष्टमी से पूर्णमासी तक दिगंबर जैनों का बहुत बड़ा मेला लगता है।

चौरासी— मथुरा शहर से करीब ड़ेढ़ मील पर दिगंबर जैनों का यह प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्र है। परंपरा के अनुसार यह अंतिम केवली श्री जंबू स्वामी का मोक्ष स्थान माना

जाता है। यहाँ पर एक विशाल जैन मंदिर है जिसमें उनके चरण-चिह्न स्थापित हैं। प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्ण द्वितीया से अष्टमी तक रथोत्सव होता है। यहाँ से पास में ही प्रसिद्ध कंकाली टीला है जहाँ से जैन पुरातत्व की अति प्राचीन सामग्री प्राप्त हुई है। यहाँ पर ही भा० दि० जैन संघ का मुख्य भवन बना हुआ है, जिसमें उसका प्रधान कार्यालय तथा एक विशाल सरस्वती भवन है। पास में ही श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित है।

सौरीपुर– मैनपुरी जिले के शिकोहाबाद नामक स्थान से 13 मील पर यमुना नदी के तट पर बटेश्वर नाम का एक प्राचीन गाँव है। गाँव के बीच में विशाल जैन मंदिर है। नीचे धर्मशाला है। यहाँ से 1 मील की दूरी पर जंगल में कई प्राचीन मंदिर हैं और एक छतरी है, जिसमें श्री नेमिनाथ के चरण-चिह्न स्थापित हैं। इस स्थान को श्री नेमिनाथ जन्म स्थान माना जाता है।

बुंदेलखंड व मध्य प्रांत

ग्वालियर– यह कोई तीर्थक्षेत्र तो नहीं है किंतु यहाँ के किले के आस-पास चट्टानों में बहुत-सी दिगंबर जैन मूर्तियाँ बनी हुईं हैं। एक मूर्ति श्री नेमिनाथ जी की 30 फुट ऊँची है और दूसरी आदिनाथ की मूर्ति उससे भी विशाल है। लश्कर और ग्वालियर में लगभग 25 दिगंबर जैन मंदिर हैं, जिनमें से अनेक मंदिर बहुत विशाल हैं।

सोनागिरि– ग्वालियर-झाँसी लाइन पर सोनागिरि नाम का स्टेशन है, उससे लगभग 2 मील पर यह सिद्धक्षेत्र है। वहाँ एक छोटी-सी पहाड़ी है। पहाड़ पर 77 दिगंबर जैन मंदिर हैं, जिनकी वंदना में डेढ़ मील का चक्कर पड़ता है। यहाँ से बहुत-से मुनि मोक्ष गए हैं। तलहटी में चार धर्मशालाएँ और 17 मंदिर हैं। यहाँ एक विद्यालय भी स्थापित है।

अजयगढ़– यह अजयगढ़ स्टेट की राजधानी है। इसके पास ही एक पहाड़ है, उस पर एक किला है। उसकी दीवारों की दो शिलाओं में लगभग 20 दिगंबर जैन मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। पास में ही तालाब है। उसकी दीवार में बहुत-सी प्राचीन प्रतिमाएँ हैं, जिनमें से एक की ऊँचाई 15 फुट और दूसरी की 10 फुट है। एक मानस्तंभ भी है। उसमें भी अनेक मूर्तियाँ बनी हैं।

खजुराहो– पन्ना से छतरपुर को जाते हुए 21वें मील पर एक तिराहा पड़ता है, वहाँ से खजुराहो 7 मील है। एक छोटा-सा गाँव है। दो धर्मशालाएँ हैं। यहाँ इस समय 31 दि० जैन मंदिर हैं। यहाँ के मंदिरों की स्थापत्य कला दर्शनीय और विश्वविख्यात है।

द्रोणगिरि– छतरपुर से सागर रोड पर बड़ा मलहरा गाँव है। वहाँ से दाहिनी ओर रोड से 6 मील पर सेंधपा नाम का गाँव है। गाँव के पास ही एक पर्वत है, जिसे द्रोणगिरि कहते हैं। यहाँ से गुरुदत्त आदि मुनि मोक्ष को गए हैं। पहाड़ पर 24 मंदिर हैं। प्रतिवर्ष चैत सुदी 8 से 14 तक मेला लगता है।

नैनागिरि– यह क्षेत्र सेंट्रल रेलवे के सागर स्टेशन से 30 मील दलपतपुर गाँव के पास है। इस तीर्थ की तलहटी में धर्मशाला और अनेक मंदिर हैं। धर्मशाला से 2 फर्लांग पर रेसंदी पर्वत है। यहाँ से श्री वरदत्त आदि मुनि मोक्ष गए हैं। पर्वत पर 25 मंदिर हैं। एक मंदिर तालाब के बीच में है। प्रतिवर्ष कार्तिक सुदी 8 से 15 तक मेला लगता है।

कुंडलपुर– सेंट्रल रेलवे की कटनी-बीना लाइन पर दमोह स्टेशन है। वहाँ से लगभग 25 मील पर यह क्षेत्र है। इस क्षेत्र पर कुंडल के आकार का एक पर्वत है। इसी से शायद इसका नाम कुंडलपुर पड़ा है। पर्वत तथा उसकी तलहटी में सब मिलाकर 59 मंदिर हैं। पर्वत के मंदिरों के बीच में एक बड़ा मंदिर है। इसमें एक जैन मूर्ति विराजमान है जो पहाड़ को काटकर बनाई गई जान पड़ती है। यह मूर्ति पद्मासन है फिर भी इसकी ऊँचाई 9-10 फुट से कम नहीं है। यह भगवान् महावीर की मूर्ति मानी जाती थी, किंतु है ऋषभदेव की। इस प्रांत में इन 'बड़े बाबा' की बड़ी मान्यता है। दूर-दूर से लोग इसकी पूजा करने के लिए आते हैं। इसके माहात्म्य के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। महाराज छत्रसाल के समय में उन्हीं की प्रेरणा से इसका जीर्णोद्धार हुआ था, जिसका शिलालेख अंकित है।

सागर में 48 मील पर वीनाजी क्षेत्र है। यहाँ तीन जैन मंदिर हैं, जिनमें एक प्रतिमा शांतिनाथ भगवान् की 14 फुट ऊँची तथा एक प्रतिमा महावीर भगवान् की 12 फुट ऊँची विराजमान है और भी अनेक मनोहर मूर्तियाँ हैं। सागर से 38 मील पर मालथौन गाँव है। गाँव से 1 मील पर एक जैन मंदिर है। इसमें 10 गज से लेकर 24 गज तक की ऊँची खड़े आसन की अनेक प्रतिमाएँ हैं। ललितपुर से 10 मील पर सीरोन गाँव है। वहाँ से आधा मील पर 5-6 प्राचीन जैन मंदिर हैं। चारों ओर कोट हैं। यहाँ एक मूर्ति 20 गज ऊँची शांतिनाथ भगवान् की है तथा 4-5 फुट ऊँची सैकड़ों खंडित मूर्तियाँ हैं।

देवगढ़– सेंट्रल रेलवे के ललितपुर स्टेशन से 19 मील दूर पहाड़ी पर यह क्षेत्र स्थित है। यह सचमुच देवगढ़ है। यहाँ अनेक प्राचीन जिनालय हैं और अगणित खंडित मूर्तियाँ हैं। कला की दृष्टि से भी यहाँ की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। कुशल कारीगरों ने पत्थरों को मोम कर दिया है। करीब 200 शिलालेख यहाँ उत्कीर्ण हैं। 8 मनोहर मानस्तंभ हैं। प्राकृतिक सौंदर्य भी अनुपम है। यहाँ से 6 मील पर चाँदपुर स्थान है। वहाँ भी अनेक जैन मूर्तियाँ हैं, जिनमें 14 गज ऊँची मूर्ति शांतिनाथ तीर्थंकर की है।

पपौरा– विंध्य प्रांत में टीकमगढ़ से कुछ दूरी पर जंगल में यह क्षेत्र स्थित है। उसके चारों ओर कोट बना है, जिसके अंदर लगभग 90 मंदिर हैं। एक वीर विद्यालय भी है। कार्तिक सुदी 14 को प्रतिवर्ष मेला लगता है।

अहार– टीकमगढ़ से 9 मील पर अहार गाँव है। वहाँ से करीब 6 मील पर एक ऊजड़ स्थान में तीन दिगंबर जैन मंदिर हैं। एक मंदिर में 21 फुट की ऊँची शांतिनाथ भगवान् की अति मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है जो खंडित है किंतु बाद में जोड़कर ठीक की गई है। यह प्रतिमा वि० सं० 1237 में प्रतिष्ठित की गई थी। इन मंदिरों के सिवा यहाँ अन्य भी अनेक मंदिर बने हुए थे, किंतु बादशाही जमाने में वे सब नष्ट कर दिए और अब अगणित खंडित मूर्तियाँ वहाँ वर्तमान हैं। क्षेत्र कला प्रेमियों के लिए भी दर्शनीय है। अब यहाँ एक संग्रहालय और पाठशाला भी है।

चंदेरी– यह ललितपुर से बीस मील है। यहाँ एक जैन मंदिर में चौबीस वेदियाँ बनी हुईं हैं और उनमें जिस तीर्थंकर के शरीर का जैसा रंग था उसी रंग की चौबीसों तीर्थंकरों की चौबीस मूर्तियाँ विराजमान हैं। ऐसी चौबीसी अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यहाँ से उत्तर में 9 मील पर बूढ़ी चंदेरी है। यहाँ पर सैकड़ों जैन मंदिर जीर्णशीर्ण दशा में हैं, जिनमें बड़ी ही सौम्य और चित्ताकर्षक मूर्तियाँ हैं।

पचराई– चंदेरी से 34 मील खनियाधाना स्थान है और वहाँ से 8 मील पर पचराई गाँव है। यहाँ पर 28 जिन मंदिर हैं। उनमें लगभग एक हजार मूर्तियाँ हैं, इनमें आधी मूर्तियाँ लगभग साबुत हैं, शेष खंडित हैं।

थूबोनजी– चंदेरी से 8 मील पर थूबोनजी है। यहाँ 15 मंदिर हैं। प्रायः सभी प्रतिमाएँ पत्थरों में उकेरी हुई हैं, खड़े योग में हैं और 20-30 फुट तक की ऊँची हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि बुंदेलखंड के उक्त सभी क्षेत्र दिगंबर जैन ही हैं। यहाँ पर श्वेतांबर संप्रदाय की अर्वाचीनता के कारण ही उनका एक भी तीर्थ या मंदिर नहीं है।

अंतरिक्ष पार्श्वनाथ– सेंट्रल रेलवे के अकोला (बराबर) स्टेशन से लगभग 40 मील पर शिरपुर नामक गाँव है। गाँव के मध्य धर्मशालाओं के बीच में एक बहुत बड़ी प्राचीन विशाल दुमंजला जैन मंदिर है। नीचे की मंजिल में एक श्यामवर्ण की ढाई फुट ऊँची पार्श्वनाथ जी की प्राचीन प्रतिमा है जो वेदी में अधर विराजमान है। सिर्फ दक्षिण घुटना कील बनाकर सटा हुआ है। इसी से यह प्रतिमा अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ दोनों परंपराओं के लिए पूजा का समय नियत है। अब पौढ़ी मंदिर की खुदाई में मिली दिगंबर मूर्तियों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि यह तीर्थ भी मूलतः दिगंबर है।

कारंजा– अकोला जिले में मूर्तिजापुर स्टेशन से यवतमाल को जाने वाली रेलवे लाइन पर यह एक कस्बा है। यहाँ पर तीन विशाल प्राचीन जैन मंदिर हैं। एक मंदिर में चाँदी, सोने, हीरे, मूँगे और पन्ने की प्रतिमाएँ हैं। यहाँ दो भट्टारकों की गद्दियाँ हैं। एक बलात्कारगण की और दूसरी सेनगण की। सेनगण के भट्टारक के मंदिर में संस्कृत प्राकृत के प्राचीन जैन ग्रंथों का बहुत बड़ा भंडार है। यहाँ महावीर ब्रह्मचर्याश्रम नाम की एक आदर्श शिक्षा संस्था भी है।

मुक्तागिरि– यह सिद्धक्षेत्र बराड़ के एलचपुर से 12 मील पर पहाड़ी जंगल में है। नीचे धर्मशाला है। पास में ही एक छोटी पहाड़ी है, जिस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुईं हैं। ऊपर कई गुफाएँ है। जिनमें बहुत-सी प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। गुफाओं के आस-पास 52 मंदिर हैं। यहाँ से बहुत-से मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया था।

भातकुली– यह अतिशय क्षेत्र अमरावती से 10 मील पर है। यहाँ 3 दि० जैन मंदिर हैं जिनमें से एक में श्री ऋषभदेव स्वामी की पद्मासनयुक्त तीन फुट ऊँची मूर्ति विराजमान हैं। इसकी यहाँ बहुत मान्यता है। प्रतिवर्ष कार्तिक बदी पंचमी को मेला लगता है।

रामटेक– यह स्थान नागपुर से 24 मील पर है। यहाँ दि० जैनों के आठ मंदिर हैं, जिनमें से एक प्राचीन मंदिर में सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ स्वामी की 15 फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है।

राजपूताना व मालवा प्रांत

श्री महावीर जी– पश्चिमी रेलवे की नागदा-मथुरा लाइन पर 'श्री महावीर जी' नाम का स्टेशन है। यहाँ से 4 मील पर यह क्षेत्र है। यहाँ एक विशाल दिगंबर जैन मंदिर है, उसमें महावीर स्वामी की एक अति मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा पास के ही एक टीले के अंदर से निकली थी। इसे जैन और जैनेतर खास करके जयपुर रियासत के मीना और गूजर बड़ी श्रद्धा और भक्ति से पूजते हैं। यात्रियों का सदा तांता लगा रहता है। प्रतिवर्ष वैशाख बदी एकम को महावीर भगवान् की सवारी रियासती लवाजमें के साथ निकलती है। लाखों मीना एकत्र होते हैं। वे ही सवारी को नदी तक ले जाते हैं। उधर गूजर तैयार खड़े रहते हैं। मीना चले जाते हैं और गूजर सवारी को लौटाकर लाते हैं। फिर गूजरों का मेला लगता है।

चाँदखेड़ी– कोट रियासत में खानपुर नामक एक प्राचीन नगर है। खानपुर से 2 फर्लांग की दूरी पर चाँदखेड़ी नाम की पुरानी बस्ती है। यहाँ भूगर्भ में एक अति विशाल जैन मंदिर है। इसमें अनेक विशाल जैन प्रतिमाएँ हैं। सब प्रतिमाएँ 577 हैं। द्वार के उत्तर भाग में एक ही पाषाण का 10 फुट ऊँचा कीर्तिस्तंभ है। इसमें चारों ओर दिगंबर प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। तीन तरफ लेख भी हैं।

मक्सीपार्श्वनाथ– सेंट्रल रेलवे की भूपाल उज्जैन शाखा में इस नाम का स्टेशन है। यहाँ से एक मील पर एक प्राचीन जैन मंदिर है। उसमें श्री पार्श्वनाथ स्वामी की ढाई फुट ऊँची पद्मासन मूर्ति विराजमान है जो बड़ी ही मनोज्ञ है। इसको दोनों परंपरा वाले पूजते हैं। परंतु समय नियत है।

विजौलिया पार्श्वनाथ– नीमच से 68 मील पर विजौलिया रियासत है। विजौलिया गाँव के समीप में ही श्री पार्श्वनाथ स्वामी का अतिप्राचीन और रमणीक अतिशय क्षेत्र है। एक मंदिर में एक ताक के महराब के ऊपर 23 प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। चारों तरफ दीवारों पर भी मुनियों की बहुत-सी मूर्तियाँ खुदी हुईं हैं। एक विशाल सभामंडप, चार गुमटियाँ और दो मानस्तंभ भी हैं। मानस्तंभों पर प्रतिमाएँ और शिलालेख हैं।

श्रीऋषभदेव (केशरिया जी)– उदयपुर से करीब 40 मील पर यह क्षेत्र है। यहाँ श्री ऋषभदेव जी का एक बहुत विशाल मंदिर बना हुआ है। उसके चारों ओर कोट है। भीतर मध्य में संगमरमर का एक बड़ा मंदिर है, जिसके 48 फुट ऊँचे-ऊँचे शिखर हैं। इसके भीतर जाने पर श्री ऋषभदेव जी का बड़ा मंदिर मिलता है, जिसमें श्री ऋषभदेव जी की 6-7 फुट ऊँची पद्मासनयुक्त श्यामवर्ण की दिगंबर जैनमूर्ति है। यहाँ केशर चढ़ाने का रिवाज है कि सारी मूर्ति केशर से ढकी जाती है। इसलिए इसे केशरिया जी भी कहते हैं। श्वेतांबरों की ओर से मूर्ति पर आंगी, मुकुट और सिंदूर भी चढ़ता है। इसकी बड़ी मान्यता है। समस्त जैनी इसकी पूजा करते हैं।

आबू पहाड़– पश्चिमी रेलवे के आबू रोड स्टेशन से आबू पहाड़ के लिए मोटरें जाती हैं। पहाड़ पर सड़क के दायीं ओर एक दिगंबर जैन मंदिर है तथा बायीं ओर दैलवाड़ा के प्रसिद्ध श्वेतांबर मंदिर बने हुए हैं, जिनमें से एक मंदिर विमलशाह ने वि० सं० 1088 में 18 करोड़ 53 लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। दूसरा मंदिर वस्तुपाल तेजपाल ने बारह करोड़ 53 लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। संगमरमर पर छैनी के द्वारा जो नक्काशी की गई है वह देखने की ही चीज है। दोनों विशाल मंदिरों के बीच एक छोटा-सा दि० जैन मंदिर भी है।

अचलगढ़– दैलवाड़ा से 5 मील अचलगढ़ है। यहाँ तीन श्वेतांबर मंदिर हैं। उनमें से एक मंदिर में सप्तधातु की 14 प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

सिद्धवर कूट– इंदौर से खंडवा लाइन पर मौरटक्का नाम का स्टेशन है, वहाँ से ओंकार जी जाते हैं जो नर्मदा के तट पर है। यहाँ से नाव में सवार होकर सिद्धवर कूट को जाते हैं। यह क्षेत्र रेवा नदी के तट पर है। यहाँ से दो चक्रवर्ती व दस कामदेव तथा साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्त हुए हैं।

ऊन– खंडवा से ऊन मोटर के द्वारा जाया जाता है। 3-4 घंटे का रास्ता है। यहाँ एक प्राचीन मंदिर है जो सं० 1218 का बना हुआ है। दो और भी प्राचीन मंदिर हैं जो जीर्ण हो गए हैं। यह क्षेत्र कुछ ही वर्ष पहले प्रकाश में आया है। इसे पावागिरि सिद्धक्षेत्र कहा जाता है।

बड़वानी– बड़वानी से 4 मील पहाड़ पर जाने से बड़वानी क्षेत्र मिलता है। बड़वानी से निकट होने के कारण इस क्षेत्र को बड़वानी कहते हैं। वैसे इसका नाम चूलगिरि है। इस चूलगिरि से इंद्रजीत और कुंभकर्ण ने मुक्ति प्राप्त की थी। क्षेत्र की वंदना को जाते हुए सबसे पहले एक विशालकाय मूर्ति के दर्शन होते हैं। यह खड़ी हुई मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की है, इसकी ऊँचाई 84 फीट है। इसे बावन गजाजी भी कहते हैं। सं० 1223 में इसके जीर्णोद्धार होने का उल्लेख मिलता है। पहाड़ पर 22 मंदिर हैं। प्रतिवर्ष पौष सुदी 8 से 15 तक मेला होता है।

गुजरात तथा महाराष्ट्र प्रांत

तारंगा– यह प्राचीन सिद्ध क्षेत्र गुजरात प्रांत के महीकांटा जिले में पश्चिमी रेलवे के तारंगा हिल नाम के स्टेशन से तीन मील पहाड़ के ऊपर है। यहाँ से वरदत्त आदि साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्त हुए हैं। यहाँ पर दोनों परंपरा के अनेक मंदिर और गुमटियाँ हैं।

गिरनार जी– सौराष्ट्र प्रांत में जूनागढ़ के निकट यह सिद्ध क्षेत्र वर्तमान है। जूनागढ़ स्टेशन से 4-5 मील की दूरी पर गिरिनार पर्वत की तलहटी है, वहाँ दोनों परंपरा की धर्मशालाएँ हैं। पहाड़ पर चढ़ने के लिए धर्मशाला के पास से ही पक्की सीढ़ियाँ प्रारंभ हो जाती हैं, और अंत तक चली जाती हैं। 22वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ ने इसी पहाड़ के सहस्राम्र वन में दीक्षा धारण करके तप किया था। यहीं इन्हें केवल ज्ञान हुआ था और यहीं से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजुल ने भी यहीं दीक्षा ली थी। पहले पहाड़ पर पहुँचने पर एक गुफा में राजुल की मूर्ति बनी हुई है तथा दिगंबरों और श्वेतांबरों के अनेक मंदिर बने हुए हैं। दूसरे पहाड़ पर चरण चिह्न हैं। यहाँ से अनिरुद्धकुमार ने निर्वाण प्राप्त किया था। तीसरे से शंभुकुमार ने निर्वाण लाभ किया था। चौथे पहाड़ पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ नहीं हैं। इसलिए उस पर चढ़ना बहुत कठिन है। यहाँ से श्रीकृष्ण जी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार ने मोक्ष प्राप्त किया है और पाँचवें पहाड़ से भगवान् नेमिनाथ मुक्त हुए हैं। सब जगह चरण-चिह्न हैं तथा कहीं-कहीं पहाड़ में उकेरी हुई जिन मूर्तियाँ भी हैं। जैन संस्कृति में शिखर जी की तरह इस क्षेत्र की भी बड़ी प्रतिष्ठा है।

शत्रुंजय– पश्चिमी रेलवे के पालीताना स्टेशन से डेढ़-दो मील तलहटी है। वहाँ से पहाड़ की चढ़ाई आरंभ हो जाती है। साफ रास्ता है। पहाड़ के ऊपर श्वेतांबरों के

करीब साढ़े तीन हजार मंदिर हैं।' जिनकी लागत करोड़ों रुपया है। श्वेतांबर भाई सब तीर्थों से इस तीर्थ को बड़ा मानते हैं। दिगंबरों का तो केवल एक मंदिर है। पालीताना शहर में भी श्वेतांबरों की 20-25 धर्मशालाएँ और अनेक मंदिर हैं। यहाँ एक आगम मंदिर अभी ही बनकर तैयार हुआ है। उसमें पत्थरों पर श्वेतांबरों के सब आगम खोदे गए हैं। यहाँ से तीन पांडु पुत्रों और बहुत-से मुनियों ने मोक्ष लाभ किया था।

पावागढ़– बड़ौदा से 28 मील की दूरी पर चांपानेर के पास पावागढ़ सिद्ध क्षेत्र है। यह पावागढ़ एक बहुत विशाल पहाड़ी किला है। पहाड़ पर चढ़ने का मार्ग एकदम कंकरीला है। पहाड़ के ऊपर आठ-दस मंदिरों के खंडहर हैं, जिनका जीर्णोद्धार कराया गया है। यहाँ से श्री रामचंद्र के पुत्र लव और कुश को तथा अन्य बहुत-से मुनियों को निर्वाण लाभ हुआ था।

मांगीतुंगी– यह क्षेत्र गजपंथा (नासिक) से लगभग अस्सी मील पर है। वहाँ पास ही पास दो पर्वतशिखर हैं, जिनमें से एक का नाम मांगी और दूसरे का नाम तुंगी है। मांगी शिखर की गुफाओं में लगभग साढ़े तीन सौ प्रतिमाएँ और चरण हैं और तुंगी में लगभग तीस। यहाँ अनेक प्रतिमाएँ साधुओं की हैं जिनके साथ पीछी और कमंडलु भी हैं और पास में ही उन साधुओं के नाम भी लिखे हैं। दोनों पर्वतों के बीच में एक स्थान है जहाँ बलभद्र ने श्रीकृष्ण का दाह संस्कार किया था। यहाँ से श्रीरामचंद्र, हनुमान, सुग्रीव वगैरह ने निर्वाण लाभ किया था।

गजपंथा– नासिक के निकट मसरूल गाँव की एक छोटी-सी पहाड़ी पर यह सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से बलभद्र और यदुवंशी राजाओं ने मोक्ष प्राप्त किया था।

एलौरा– मनमाड़ जंकशन से 60 मील दूर एलौरा ग्राम है। यह ग्राम गुफा मंदिरों के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। इससे सटा हुआ एक पहाड़ है। ऊपर दो गुफाए हैं, नीचे उतरने पर सात गुफाएँ और हैं जिनमें हजारों जैन प्रतिमाएँ हैं।

कुंथलगिरि– यह क्षेत्र महाराष्ट्र प्रदेश में हैं और वार्सी टाऊन रेलवे स्टेशन से लगभग 21 मील दूर एक छोटी-सी पहाड़ी पर स्थित है। यहाँ से श्री देशभूषण, कुलभूषण मुनि मुक्त हुए हैं। पर्वत पर मुनियों के चरण मंदिर सहित 10 मंदिर हैं। माघ मास में पूर्णिमा को प्रतिवर्ष मेला लगता है। यहाँ दिगंबर गुरुकुल भी है।

करकंडु की गुफाएँ– शोलापुर से मोटर के द्वारा कुंथलगिरि जाते हुए मार्ग में उस्मानाबाद नाम का नगर आता है, जिसका पुराना नाम धाराशिव है। धाराशिव से कुछ मील की दूरी पर 'तेर' नाम का स्थान है। तेर के पास पहाड़ी है। उसकी बाजू में गुफाएँ हैं। प्रधान गुफा बड़ी विशाल है। इसमें पाँच फुट की पार्श्वनाथ भगवान् की काले पाषाण की पद्मासन मूर्ति विराजमान है। इसके दूसरे कमरे में एक सप्तफणी नाग सहित पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। दो पत्थर और भी हैं जिन पर जैन प्रतिमाएँ खुदी हैं।

प्रधान गुफा सहित यहाँ चार गुफाएँ हैं। इन सब गुफाओं में जो प्रतिमाएँ हैं वे अधिकतर पार्श्वनाथ भगवान की ही हैं। महावीर भगवान् की तो एक भी प्रतिमा नहीं है। इसमें इस स्थान के पार्श्वनाथ भगवान् के समय में निर्माण किए जाने की बात की पुष्टि होती है। करकंडु चरित के अनुसार राजा करकंडु ने जो गुफाएँ बनवाई थीं, वे ये ही गुफाएँ बतलाई जाती हैं।

बीजापुर— मध्य दक्षिण रेलवे पर बीजापुर नाम का पुराना नगर है। स्टेशन के करीब ही संग्रहालय है। इनमें अनेक जैन मूर्तियाँ रखी हुई हैं। एक मूर्ति करीब तीन हाथ ऊँची पद्मासन भगवान् पार्श्वनाथ की है उस पर सं० 1232 खुदा है। बीजापुर से करीब दो मील पर एक मंदिर है। इसमें श्री पार्श्वनाथ भगवान् की सहस्त्रफणा सहित एक मूर्ति विराजमान है जो दर्शनीय है। बीजापुर से 17 मील पर बाबानगर है। वहाँ पर एक प्राचीन मंदिर है। उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की हरे पाषाण की डेढ़ हाथ ऊँची पद्मासन मूर्ति विराजमान है। इसका बहुत अतिशय है तथा इसके विषय में अनेक दंतकथाएँ सुनी जाती हैं।

बादामी-गुफामंदिर— बीजापुर जिले में बादामी एक छोटा कस्बा है। इसके पास में दो प्राचीन पहाड़ी किले हैं। दक्षिण पहाड़ी की बगल में छठी सदी के बने हुए हिंदओं के तीन और जैनियों का एक गुफा मंदिर है। जैन गुफा मंदिर में अनेक मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। यह गुफा मंदिर बादामी के प्रसिद्ध चालुक्य वंश के राजा पुलकेशी ने बनवाया था।

बेलगाँव— मध्य दक्खिन रेलवे पर यह शहर बसा है। शहर से पूर्व की ओर एक प्राचीन किला है। कहते हैं कि पहले यहाँ 108 जैन मंदिर थे। उनको तुड़वाकर बीजापुर के बादशाह के सरदार ने यह किला बनवाया था। अब केवल तीन मंदिर शेष हैं, जिनकी कारीगरी दर्शनीय है। बेलगाँव जिले में ही स्तवनिधि नाम का क्षेत्र है। यहाँ 5-6 जैन मंदिर हैं, जिनमें सैकड़ों जैन मूर्तियाँ विराजमान हैं।

कर्नाटक प्रदेश

हुम्मच पद्मावती— मैसूर स्टेट में शिमोगा शहर है। वहाँ से सीधे हुम्मच पद्मावती क्षेत्र को जाते हैं। यहाँ कई मंदिर हैं, जिनमें पंचवसदि विशाल और बेशकीमती मंदिर है। यहाँ पर बड़ी-बड़ी विशाल गुफाएँ और सातिश्य पद्मावती प्रतिमा हैं।

वरांग— दक्षिण कनाड़ा जिले में एक छोटा-सा गाँव है। सड़क से लगा प्राकार के अंदर एक बहुत विशाल मंदिर है। मंदिर में पाँच वेदियाँ हैं, जिनमें बहुत-सी प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। एक मंदिर पास ही तालाब में है। यद्यपि मंदिर छोटा है परंतु बहुत सुंदर है।

कारकल— वरांग से 15 मील पर यह एक अच्छा स्थान है। यह दिगंबर जैनों का बहुत प्राचीन तीर्थस्थान है। यहाँ 18 जैन मंदिर हैं। एक पर्वत पर श्री बाहुबलि

स्वामी की 32 फीट ऊँची खड्गासन मूर्ति विराजमान है। इसके सामने एक दूसरा पर्वत है, उस पर एक मंदिर है। उसमें चारों ओर खड्गासन की तीन-तीन विशाल प्रतिमाएँ स्थित हैं। यह मंदिर कारीगरी की दृष्टि से भी दर्शनीय है।

मूडबिद्री— कारकल से तीस मील पर यह एक अच्छा कस्बा है। यहाँ 18 मंदिर हैं, जिनमें एक मंदिर बहुत विशाल है। उसका नाम त्रिभुवन-तिलक चूड़ामणि है। यह एक कोट से घिरा है व तीन मंजिल का है। नीचे 8 वेदियाँ हैं, इसके ऊपर 4 वेदियाँ हैं और उसके ऊपर तीन वेदियाँ हैं। एक मंदिर सिद्धांत वसति कहलाता है। यह दुमंजिला है। इस मंदिर में दिगंबर जैनों के प्रख्यात ग्रंथ श्रीधवल, जयधवल और महाबंध कनड़ी लिपि में ताड़पत्रों पर लिखे हुए सुरक्षित हैं। इसमें 37 मूर्तियाँ पन्ना, पुखराज, गोमेद, मूँगा, नीलम आदि रत्नों की हैं यहाँ श्री भट्टारक चारुकीर्ति पंडिताचार्य महाराज की गद्दी है। प्राचीन जैन ग्रंथों का अच्छा संग्रह है।

वेणूर— नदी के किनारे यह एक छोटा-सा गाँव है। गाँव के पश्चिम में एक कोट है। इसके अंदर श्री गोमट स्वामी की 31 फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। गाँव में अनेक जैन मंदिर हैं।

वेलूर-हलेविड— वेलूर और हलेविड, कर्नाटक के हासन शहर के उत्तर में एक-दूसरे से दस-बारह मील के अंतर पर स्थित है। यहाँ का मूर्तिनिर्माण दुनिया में अपूर्व माना जाता है। एक समय यह दोनों स्थान राजधानी के रूप में मशहूर थे। आज कलाधानी के रूप में ख्यात हैं। दोनों स्थानों के आस-पास जैन मंदिर हैं। दक्षिण के सभी मंदिर दिगंबर तथा प्राचीनता के हैं और उच्चकोटि की कारीगरी के जीते-जागते नमूने हैं।

श्रवणबेलगोला— हासन जिले के अंतर्गत जिन तीन स्थानों ने मैसूर राज्य को विश्वविख्यात बना दिया है वे हैं वेलूर, हलेविड और श्रवणबेलगोला। हासन से पश्चिम में श्रवणबेलगोला है जो हासन या बंगलोर से मोटर के द्वारा 4 घंटे का मार्ग है। श्रवणबेलगोला में चंद्रगिरि और विंध्यागिरि नाम की दो पहाड़ियाँ पास-पास हैं। इन दोनों पहाड़ियों के बीच में चोकोर तालाब है। इसका नाम बेलगोल अथवा सफेद तालाब था। यहाँ श्रमणों के आकर रहने के कारण इस गाँव का नाम श्रमणबेलगोला पड़ा। यह मूलोजैनों दिगंबर का एक महान् तीर्थस्थान है। मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त अपने गुरु भद्रबाहु के साथ अपने जीवन के अंतिम दिन बिताने के लिए यहाँ आए थे। गुरु ने वृद्धावस्था के कारण चंद्रगिरि पर सल्लेखना धारण करके शरीर त्याग दिया। चंद्रगुप्त ने गुरु की पादुका की बारह वर्ष तक पूजा की और अंत में समाधि धारण करके इह जीवन लीला समाप्त की।

विंध्यागिरि नाम की पहाड़ी पर गोमटेश्वर की विशालकाय मूर्ति विराजमान है। विंध्यागिरि की ऊँचाई चार सौ सत्तर फीट है और ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुईं

हैं। काका कालेलकर के शब्दों में 'मूर्ति का सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कांतिमान है। एक ही पत्थर से निर्मित इतनी सुंदर मूर्ति संसार में और कहीं नहीं। इतनी बड़ी मूर्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्ति के साथ कुछ प्रेम की भी यह अधिकारिणी बनती है। धूप, हवा और पानी के प्रभाव से पीछे की ओर ऊपर की पपड़ी गिर पड़ने पर भी इस मूर्ति का लावण्य खंडित नहीं हुआ है।' इसकी स्थापना आज से एक हजार वर्ष पहले गंगवंश के सेनापति और मंत्री चामुंडराय ने कराई थी। इस पर्वत पर छोटे-बड़े सब 10 मंदिर हैं।

चंद्रगिरि पर चढ़ने के लिए भी सीढ़ियाँ बनी हैं। पर्वत के ऊपर मध्य में एक कोट बना है। उसके अंदर बड़े-बड़े प्राचीन 14 मंदिर हैं। मंदिरों में बड़ी-बड़ी विशाल प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। एक गुफा में श्रीभद्रबाहु स्वामी के चरण-चिह्न बने हुए हैं, जो लगभग एक फुट लंबे हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पहाड़ी बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इस पर बहुत-से प्राचीन शिलालेख अंकित हैं, जो मुद्रित हो चुके हैं।

नीचे ग्राम में भी सात मंदिर और 13 चैत्यालय हैं। एक मंदिर में चित्रकला से शोभित कसौटी पाषाण के स्तंभ हैं। यहाँ भी श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी महाराज की मुख्य गद्दी है। उसके मंदिर में कुछ रत्नों की प्रतिमाएँ हैं। बड़ा अच्छा शास्त्र भंडार है। एक दिगंबर जैन पाठशाला है।

इस प्रांत में धर्म स्थल आदि अनेक स्थान भी हैं जहाँ जैन मंदिर और मूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

उड़ीसा प्रदेश

खंडगिरि– उड़ीसा प्रदेश की राजधानी कटक है। कटक के आस-पास हजारों जैन प्रतिमाएँ हैं, किंतु उड़ीसा में जैनियों की संख्या कम होने से उनकी रक्षा का कोई प्रबंध नहीं है। कटक से ही सुप्रसिद्ध खंडगिरि उदयगिरि को जाते हैं। भुवनेश्वर से पाँच मील पश्चिमपुरी जिले में खंडगिरि उदयगिरि नाम की दो पहाड़ियाँ हैं। दोनों पर पत्थर काटकर अनेक गुफाएँ और मंदिर बनाए गए हैं, जो ईसा से लगभग 50 वर्ष पहले से लेकर 500 वर्ष बाद तक के बने हुए हैं। उदयगिरि की हाथी गुफा में कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख अंकित है।

4. जैन धर्म और इतर धर्म

जैन धर्म की आवश्यक बातों का परिचय करा चुकने के बाद उसका इतर धर्मों के साथ क्या कुछ संबंध है आदि बातों पर भी एक सरसरी निगाह डालने का प्रयत्न

करना अनुचित न होगा, क्योंकि उससे उक्त बातों पर अधिक प्रकाश पड़ने के साथ ही साथ जैन धर्म की स्थिति को समझने में तथा अनेक धार्मिक धारणाओं के दूर होने में अधिक सहायता मिल सकेगी।

भारतीय धर्मों में हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म ये दो ही धर्म ऐसे हैं जिनके साथ जैन धर्म का गहरा जोड़-तोड़ रहा है। भारतीय होने के नाते तीनों ही साथ-साथ रहे हैं। प्रत्येक ने शेष दोनों के उतार या चढ़ाव के दिन देखे हैं और परस्पर प्रहार किए और झेले हैं, फिर भी एक की दूसरे के ऊपर छाप पड़े बिना नहीं रही है।

जैन धर्म और हिंदू धर्म

यहाँ हिंदू धर्म से मतलब वैदिक धर्म से है, जिसे सनातन धर्म भी कहा जाता है, क्योंकि अब यह शब्द इसी अर्थ में रूढ़ कर दिया गया है। कहने के लिए 'हिंदू' शब्द की ऐसी व्याख्याएँ भी की जाती हैं जिनसे जैन धर्म भी हिंदू धर्म कहा जा सकता है किंतु एक तो रूढ़ के सामने यौगिक शब्दार्थ को कौन मानता और जानता है? दूसरे, उन व्याख्याओं के पीछे प्रायः यह भाव पाया जाता है कि जैन धर्म हिंदू धर्म के नाम से कहे जाने वाले वैदिक धर्म की विद्रोही कन्या है। किंतु जिन निष्पक्ष विद्वानों ने जैन धर्म का गहरा आलोड़न किया है वे उसे भारत का एक स्वतंत्र धर्म मानते हैं। दोनों धर्मों के तत्वों पर दृष्टि डालने से भी यही निष्कर्ष निकलता है तथा इन बातों का निर्णय दोनों धर्मों के शास्त्रों की आंतरिक साक्षी के आधार पर ही किया जा सकता है क्योंकि अन्य कोई बाह्य प्रमाण ऐसा नहीं मिलता जो इस समस्या पर प्रकाश डाल सके।

सबसे प्रथम हम वैदिक साहित्य के क्रमिक विकास का परिचय उन भारतीय दार्शनिकों के साहित्य के आधार पर कराते हैं जो उपनिषदों को ही सब दर्शनों का मूल आधार बताते हैं।

इतिहासज्ञों ने भारतीय दर्शन का काल विभाग इस प्रकार किया है–

1. वैदिक काल 1500 ई० पू० से 600 ई० पू० तक,
2. पौराणिकगाथा काल 600 ई० पू० से 200 ई० पू० तक और
3. सूत्रकाल 200 ई० से आगे।

हिंदू धर्म की सबसे प्राचीन पोथी वेद है। वेद चार हैं– ऋग, यजु, साम और अथर्व। पौराणिकों का कहना है कि इन चारों वेदों का संकलन वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया था। यज्ञानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है– होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु तथा बह्मा। 'होता' मंत्रों का उच्चारण करके देवताओं का आह्वान करता है। इस मंत्र समुदाय का संकलन ऋग्वेद का उद्‌गता ऋचाओं का मधुर स्वर से गाता है। इसके लिए सामवेद का संकलन किया गया है। यज्ञ

के विविध अनुष्ठानों का संपादन करना अध्वर्यु का कर्तव्य है। इसके लिए यजुर्वेद है। ब्रह्मा संपूर्ण योग का निरीक्षक होता है, जिससे अनुष्ठान में कोई त्रुटि न रहे, उसमें विघ्न न आए। इसके लिए अथर्ववेद है। इस प्रकार यज्ञानुष्ठान को अच्छी तरह से करने के लिए भिन्न-भिन्न वेदों का संकलन भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के लिए किया गया है।

वेद के तीन विभाग हैं– मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मंत्रों के समुदाय को संहिता कहते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ यागादि के अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन है, इन्हें वेद मंत्रों का व्याख्या ग्रंथ कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रंथों के अंतिम भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं, इनमें दार्शनिक तत्वों का विवेचन है। उपनिषदों को ही वेदांत कहते हैं।

विषय विभाग की दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं– कर्मकांड और ज्ञानकांड। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों का अंतर्भाव कर्मकांड में होता है और उपनिषद् का ज्ञानकांड में, क्योंकि पहले में मुख्यतया क्रियाकांड की चर्चा है और दूसरे में मुख्यतया ज्ञान की।

वेदों का प्रधान विषय देवता-स्तुति है और वे देवता हैं– अग्नि, इंद्र, सूर्य वगैरह। आगे चलकर देवताओं की संख्या में वृद्धि-ह्रास भी होता रहता है। विचारकों के अनुसार वैदिक आर्यों का यह विश्वास था कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत का सब काम चलता है। इसी से वे उनकी स्तुति किया करते थे। जब ये आर्य लोग भारतवर्ष में आए तो अपने साथ उन दैवी स्तुतियों को भी लाए। और जब वे इस नए देश में अन्य देवताओं के पूजकों के परिचय में आए तो उन्हें अपने गीतों को संग्रह करने का उत्साह हुआ। वह संग्रह ही ऋग्वेद[1] है।

कहा जाता कि जब वैदिक आर्य भारतवर्ष में आए तो उनकी मुठभेड़ असभ्य और जंगली जातियों से हुई। जब ऋग्वेद में गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दस्युओं के विरोध का वर्णन मिलता है तो अथर्ववेद में आदान-प्रदान के द्वारा दोनों के मिलकर रहने का उल्लेख मिलता है। इस समझौते का यह फल होता है कि अथर्ववेद जादू-टोने का ग्रंथ बन जाता है। जब हम ऋग्वेद और अथर्ववेद से यजुर्वेद, सामवेद और ब्राह्मणों की ओर जाते हैं तो हम एक विलक्षण परिवर्तन पाते हैं। यज्ञ यागादिक का जोर है, ब्राह्मण ग्रंथ वेदों के आवश्यक भाग बन गए हैं क्योंकि उनमें यागादिक की विधि का वर्णन है, पुरोहितों का राज्य है और ऋग्वेद से ऋचाएँ लेकर उनका उपयोग यज्ञानुष्ठान में किया जाता है।

[2]जब हम ब्राह्मण साहित्य की ओर आते हैं तो हम उस समय में जा पहुँचते हैं जब वेदों की ईश्वरीय ज्ञान होने की मान्यता को सत्य रूप में स्वीकार किया जा चुका था।

1. इंडियन फिलोसोफी (सर एस० राधाकृष्णन्), 1भा०, पृ० 64
2. इंडियन फिलोसोफी (सर एस० राधाकृष्णन्), पृ० 129

इसका कारण यह था कि वेद का उत्तराधिकार स्मृति के आधार पर एक से दूसरे को मिलता आता था और आदर भाव बनाए रखने के लिए कुछ पवित्रता का उससे संबद्ध होना जरूरी था। अस्तु, ब्राह्मण साहित्य की दृष्टि में वैदिक ऋचाओं का धर्म केवल यज्ञ था और मनुष्य का देवताओं के साथ केवल यांत्रिक संबंध था और वह था– 'इस हाथ दे उस हाथ ले।'

जब हम आरण्यकों की ओर आते हैं, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे वनवासियों के लिए बनाए थे तो उनमें हमें यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल के प्रति अश्रद्धा का भाव दिख पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोरे कर्म से लोगों की अभिरुचि हटने लगी थी। और चूँकि यागादिक से मिलने वाला स्वर्ग स्थायी नहीं था। अतः उसे आत्यंतिक सुख का संपादक नहीं माना जा सकता था।

जब हम उपनिषदों की ओर आते हैं तो हमें लगता है कि [1]उपनिषदों की स्थिति वेदों के अनुकूल नहीं है। युक्ति का अनुसरण करने वाले उत्तरकालीन विचारकों की तरह वे वेद की मान्यता के प्रति दुमुखा ढंग स्वीकार करते हैं। एक ओर वे वेद की मौलिकता को स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर वे कहते हैं कि वैदिक ज्ञान उस सत्य दैवी परिज्ञान से बहुत ही न्यून है और हमें मुक्ति नहीं दिला सकता। नारद कहता है– 'मैं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद को जानता हूँ किंतु इससे मैं केवल मंत्रों और शास्त्रों को जानता हूँ– अपने को नहीं जानता।' मांडूक्य उपनिषद् में लिखा है– 'दो प्रकार की विद्याएँ अवश्य जाननी चाहिए– एक ऊँची दूसरी नीची। नीची विद्या वह है जो वेदों से प्राप्त होती है किंतु उच्च विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म प्राप्त होता है।

वैदिक साहित्य के इस विवेचन में यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य जब भारतवर्ष में आए तो उनका संघर्ष यहाँ के आदिवासियों से हुआ। यद्यपि 'कठ उपनिषद्' (1-1-20) से उपनिषत्काल में वैदिक धर्म से विरोध रखने वाले दार्शनिकों का सद्भाव पाया जाता है, किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि उपनिषत्काल से पहले वैदिक धर्म का विरोध करने वाले नहीं थे। किसी देश में बाहर से आकर बसने वालों और फिर धीरे-धीरे उस देश पर अधिकार जमाने वालों की प्रायः यह प्रवृत्ति होती है कि उस देश के आदिवासियों को जंगली और अज्ञानी ही दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा ही प्रारंभ में अंग्रेजों ने किया और संभवतः ऐसा ही वैदिक आर्यों और उनके उत्तराधिकारियों ने किया है। वे अब भी इसी मान्यता को लेकर चलते हैं कि जैन धर्म का उद्गम बौद्ध धर्म के साथ-साथ या उससे कुछ पहले उपनिषत्काल के बहुत बाद में उपनिषदों की शिक्षा के आधार पर हुआ, जबकि निश्चित रीति से प्रायः सभी इतिहासज्ञों ने यह स्वीकार कर

1. इंडियन फिलोसफी (सर एस० राधाकृष्णन्), भा० 1, पृ० 149

लिया है कि जैनों के 23वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जो कि 800 ई० पू० में उत्पन्न हुए थे। एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। किंतु वे भी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे।

सर राधाकृष्णन् अपने भारतीय[1] दर्शन में लिखते हैं– 'जैन परंपरा के अनुसार जैन धर्म के संस्थापक श्रीऋषभदेव थे जो कि शताब्दियों पहले ही हो गए हैं। इस बात का प्रमाण है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी से प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें संदेह नहीं है कि जैन धर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ से पहले भी प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत् पुराण इस बात की पुष्टि करता है कि ऋषभदेव इस कालचक्र में जैन धर्म के संस्थापक थे।'

ऐसी स्थिति में उपनिषदों की शिक्षा को जैन धर्म का आधार बतलाना कैसे उचित कहा जा सकता? क्योंकि जिसे उपनिषत्काल कहा जाता है उस काल में तो वाराणसी नगरी में भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। एक दिन कुमार अवस्था में पार्श्वनाथ गंगा के किनारे घूमने के लिए गए थे। वहाँ कुछ तापस पंचाग्नि तप रहे थे। पार्श्वनाथ ने आत्मज्ञानहीन इस कोरे तप का विरोध किया और बतलाया कि जो लकड़ियाँ जल रहीं हैं इनमें नाग-नागिनी का जोड़ा मौजूद है और उसके प्राण कंठगत हैं। जब लकड़ी को चीरा गया तो बात सत्य निकली। इस घटना के बाद ही पार्श्वनाथ ने प्रव्रज्या धारण कर ली थी और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करके जैन धर्म के सिद्धांतों का उपदेश जनता को दिया था। भगवान् पार्श्वनाथ से लगभग अढ़ाई सौ वर्ष के पश्चात् महावीर हुए और उनके बहुत पहले भगवान् ऋषभदेव हुए। अतः जिस समय वैदिक आर्य भारतवर्ष में आए उस समय भी यहाँ ऋषभदेव का धर्म मौजूद था और उनके अनुयायियों से भी वैदिक आर्यों का संघर्ष अवश्य हुआ होगा। द्रविड़ वंश मूलतः भारतीय है और द्रविड़ संस्कृति भारतीय संस्कृति है, क्योंकि द्रविड़ भाषाएँ केवल भारतवर्ष में ही पाई जाती हैं। यह द्रविड़ संस्कृति अवश्य ही जैन धर्म से प्रभावित रही है। यही कारण है जो जैन धर्म में द्रविड़ नाम का भी एक संघ पाया जाता है। द्रविड़-वंश का एकमात्र घर दक्षिण भारत ही है। अतः उनके प्रभाव में वैदिक आर्य बहुत बाद में आए होंगे। यही वजह है जो ऋग्वेद के बाद में संकलित किए गए यजुर्वेद में कुछ जैन तीर्थंकरों के भी नाम पाए जाते हैं।

जब वैदिक धर्म यज्ञप्रधान बन गया और पुरोहितों का राज्य हो गया तो उसके बाद में आम जनता में जो उसके प्रति अरुचि पाते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर किया है वह आकस्मिक नहीं है किंतु शुष्क क्रियाकांड की विरोधिनी उस श्रमण-संस्कृति के विरोध का परिणाम है जिसके जन्मदाता ऋषभदेव थे। उसी के फलस्वरूप उपनिषदों की रचना

---

1. इंडियन फिलोसफी (सर एस० राधाकृष्णन्), पृ० 287, भा० 1

की गई, जिनमें वेद का प्रामाण्य तो स्वीकार किया गया किंतु उससे प्राप्त होने वाले ज्ञान को नीचा ज्ञान बताया गया और आत्मज्ञान को ऊँचा ज्ञान बताया गया। इस प्रकार उपनिषदों ने ऊँचे आध्यात्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन तो किया किंतु वैदिक क्रियाकांड का विरोध नहीं किया। सर राधाकृष्णन् के अनुसार[1]– 'जब समय आध्यात्मिक सिद्धांत के प्रति एक निष्ठा चाहता था तब हम उपनिषदों में टालने की नीति का व्यवहार होता हुआ पाते हैं। वे प्रारंभ तो करते हैं। आत्मा को समस्त बाह्य प्रवृत्तियों से स्वतंत्र करने से किंतु उसका अंत होता है उसी पुरानी लड़ी को जोड़ने में। जीवन का नया आदर्श स्थापित करने के बदले वे पुराने मार्ग को ही फैलाते हुए दिखाई देते हैं। आध्यात्मिक राज्य का उपदेश देना उसको स्थापित करने से एक बिलकुल जुदी ही वस्तु है। उपनिषदों ने प्राचीन वैदिक क्रियाकांड को ऊँचे आध्यात्मवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया, किंतु तत्कालीन पीढ़ी ने इसमें कतई अभिरुचि नहीं दिखाई। फलतः उपनिषदों का ऊँचा आध्यात्मवाद लोकप्रिय नहीं हो सका। इसने पूरे समाज को कभी प्रभावित नहीं किया। एक ओर यह दशा थी दूसरी ओर याज्ञिक धर्म अब भी बलशाली था। फल यह हुआ कि निम्न ज्ञान के द्वारा उच्च ज्ञान दलदल में फँसा दिया गया।'

भारत के एक माने हुए दार्शनिक के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपनिषदों का तत्वज्ञान वैदिक आर्यों की उपज नहीं थी बल्कि वह भारत के आदिवासी द्रविड़ों आदि से लिया गया था। इतना ही नहीं, बल्कि परिस्थितिवश लेना पड़ा था। यही कारण है कि उसे अपनाकर भी वैदिक आर्य उसका उपदेश तो देते रहे, किंतु वैदिक क्रियाकांड के स्थान में उसकी स्थापना नहीं कर सके; क्योंकि वैदिक क्रियाकरण उनकी अपनी ही चीज थी, उसका मोह वे कैसे छोड़ सकते थे? फलतः सर राधाकृष्णन् के शब्दों में झूठे के द्वारा सच्चा कुचल डाला गया और उपनिषद् काल के पीछे ब्राह्मण धर्म का यह विद्रोह अपने सब परस्पर विरोधी सिद्धांतों के साथ जल्दी ही शिखर पर जा पहुँचा।'

इस काल का वर्णन करते हुए सर राधाकृष्णन्[2] लिखते हैं– 'वह समय आध्यात्मिक शुष्कता का था, जिसमें सत्य को परंपराओं से बाँध दिया गया था। मनुष्य का दिमाग नियमित क्रियाकांड की परिधि में ही घूमा करता था। समस्त वातावरण विधि विधान से रुंधा हुआ था। कुछ मंत्रों का उच्चारण किए बिना या कुछ विधि-विधानों का अनुष्ठान किए बिना कोई न जाग सकता था, न उठ सकता था, न स्नान कर सकता था, न बाल बनवा सकता था, न मुँह धो सकता था और न कुछ खा

1. इंडियन फिलोसफी (सर एस० राधाकृष्णन्), भा० 2, पृ० 264-65
2. इंडियन फिलोसफी (सर एस० राधाकृष्णन्), भा० 1, पृ० 265-266

सकता था। यह वह समय था जब एक क्षुद्र और निष्फल धर्म ने कोरे मूढ़ विश्वासों और सारहीन वस्तुओं के द्वारा अपना कोष भर लिया था। किंतु एक शुष्क और हृदयहीन दर्शन, जिसके पीछे अहंकार और अत्युक्तियों से पूर्ण एक शुष्क और स्वमताभिमानी धर्म हो, विचारशील पुरुषों को कभी भी संतुष्ट नहीं कर सकता और न जनता को ही अधिक समय तक संतुष्ट रख सकता है। इसके बाद एक ऐसा समय आया जब इस विद्रोह को और भी अच्छे ढंग से सफल बनाने का प्रयत्न किया गया। उपनिषदों का ब्रह्मवाद और वेदों का बहुदेवतावाद, उपनिषदों का आध्यात्मिक जीवन और वेदों का याज्ञिक क्रियाकांड, उपनिषदों का मोक्ष और संसार तथा वेदों का स्वर्ग और नरक, यह तर्क विरुद्ध संयोग अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। अतः पुनर्निर्माण की सख्त जरूरत थी। समय एक ऐसे धर्म की प्रतीक्षा कर रहा था जो गंभीर और अधिक आध्यात्मिक हो तथा मनुष्यों के साधारण जीवन में उतर सके या लाया जा सके। धर्म के सिद्धांतों का उचित सम्मिश्रण करने के पहले यह आवश्यक था कि सिद्धांतों के उस बनावटी संबंध को तोड़ डाला जाए जिसमें लाकर उन्हें एक-दूसरे के सर्वथा विरूद्ध स्थापित किया गया था। बौद्धों, जैनों और चार्वाकों ने प्रचलित धर्म की बनावटी दशा को भाँपा। इनमें से प्रथम दो ने आत्मा की नैतिक आवश्यकताओं पर जोर देते हुए नवनिर्वाण का प्रयत्न किया। किंतु उनका यह प्रयत्न क्रांतिकारी ढंग पर था। एक ओर तो उन्होंने उपनिषदों के ब्रह्मवाद (ethical Universalism) को पूर्ण करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर, उन्होंने सोचा कि हमें ब्राह्माणों के प्रभुत्व के यानि याज्ञिक क्रियाकांड और प्रचलित धर्म से पूरी तरह पृथक् हो जाना चाहिए। भगवद्गीता और बाद के उपनिषदों ने अतीत का हिसाब बैठाने का और पहले से भी अधिक कट्टरता से तर्क विरुद्ध सिद्धांतों के सम्मिश्रण करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार उपनिषद् काल के पश्चात् प्रचलित धर्म के इन उग्रपंथी और स्थितिपालक विरोधियों के केंद्र भारत के विभिन्न भागों में स्थापित हुए पूर्व में बौद्ध और जैन धर्म ने पैर जमाया और वैदिक धर्म के प्राचीन गढ़ पश्चिम में भगवद्गीता ने।'

उक्त चित्रण में जहाँ जैन धर्म और बौद्ध धर्म के उत्थान की बात आती है वहाँ हम सर राधाकृष्णन् को भी उसी पुरानी बात को दुहराते हुए पाते हैं कि जैन धर्म ने उपनिषद् की शिक्षाओं को माना। किंतु वैदिक धर्म और उपनिषद् के सिद्धांतों के मिश्रण को तर्क विरुद्ध बतलाकर भी और यह मान कर भी कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के तीर्थंकर थे जिनका निर्वाण 776 ई० पू० में हुआ था तथा जैन धर्म उससे पहले भी मौजूद था, वे उपनिषद् के उन सिद्धांतों को जो जैन धर्म से मेल खाते हैं, किंतु वैदिक धर्म से मेल नहीं खाते, जैन धर्म के सिद्धांत मानने के लिए शायद तैयार नहीं हैं। किंतु उन्होंने ही वैदिक

काल का जो खाका खींचा है, उससे तो यही प्रमाणित होता है कि जब वैदिक क्रियाकांड का विरोध हुआ और जनता की रुचि उससे हटने लगी तो वैदिकों ने अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए अपने विरोधी धर्मों की जिनमें जैन धर्म प्रमुख था, आध्यात्मिक शिक्षाओं के आधार पर उपनिषदों की रचना की। किंतु उपनिषद् भी बातें तो अध्यात्म की करते थे और समर्थन वैदिक क्रियाकांड के ही किए जाते थे, जिसके विरोधी बराबर मौजूद थे। फलतः विरोध बढ़ने लगा। इसी समय के लगभग भगवान् पार्श्वनाथ हुए। उनके उपदेशों ने भी अपना असर दिखलाया। पार्श्वनाथ के लगभग 200 वर्ष के बाद ही बिहार में महावीर और बुद्ध का जन्म हुआ। वैदिक धर्म में विचारशास्त्र उच्च विद्वानों की ही वस्तु बनी हुई थी, परंतु इस युग में इसका प्रचार साधारण जनता में किया जाने लगा। भगवान् पार्श्वनाथ ने 70 वर्ष तक स्थान-स्थान पर विहार करके जनसाधारण में धर्मोपदेश दिया। इसी का अनुसरण महावीर तथा बुद्ध ने अवांतरकाल में किया। अपने आध्यात्मिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने की तथा अपने विचारों के अनुरूप जीवन-यापन करने की प्रवृत्ति की ओर भी इसी युग में विशेष लक्ष्य दिया गया क्योंकि उक्त महापुरुषों ने ऐसा ही किया था। वैदिक युग में इंद्र वरुण आदि को ही देवता के रूप में पूजा जाता था, किंतु उक्त धर्मों में मनुष्य को उन्नत बनाकर उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा करके उसकी पूजा की जाती थी। विरोधियों के इन सिद्धांतों ने वैदिक धर्म की स्थिति को एकदम डाँवाडोल कर दिया था। उसको कायम रखने के लिए फिर कुछ नई बातों को अपनाने की वैसी ही आवश्यकता प्रतीत हुई जैसी आवश्यकता उपनिषदों की रचना होने से पूर्व प्रतीत हुई थी। इसी काल में रामायण और महाभारत का उदय[1] हुआ और राम तथा कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर मनुष्य में देवत्व की प्रतिष्ठा से आकर्षित होने वाली जनता को उधर आकृष्ट होने से रोका। जैन और बौद्ध धर्म में स्त्री और शुद्र को भी धर्माचरण का अधिकार था जबकि

1. सर राधाकृष्णन् लिखते हैं– 'जब जनता की आध्यात्मिक चेतना उपनिषदों के कमजोर विचार से या वेदों के दिखावटी देवताओं से तथा जैनों और बौद्धों के नैतिक सिद्धांतों के संदिग्ध आदर्शवाद से संतुष्ट नहीं हो सकी तो पुनर्निर्माण ने एक धर्म को जन्म दिया, जो उतना नियमबद्ध नहीं था तथा उपनिषदों के धर्म से अधिक संतोषप्रद था। उसने एक संदिग्ध और शुष्क ईश्वर के बदले में एक जीवित मानवीय परमात्मा दिया। भगवद्गीता, जिससे कृष्ण विष्णु के अवतार तथा उपनिषदों के परब्रह्म माने गए हैं, पंच-रात्र संप्रदाय और श्वेताश्वतर तथा बाद के अन्य उपनिषदों का शैव धर्म इसी धार्मिक क्रांति के फल हैं।'– ई० फि० पृ० 275-76
   दीवान बहादुर कृष्णस्वामी आयंगर ने भी इसी तरह के विचार प्रकट किए हैं। वे लिखते हैं– 'उस समय एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो ब्राह्मण धर्म के इस पुनर्निर्माण काल में बौद्ध धर्म के विरुद्ध जनता को प्रभावित कर सकता। उसके लिए एक मानव देवता और उसकी पूजा विधि की आवश्यकता थी।'– एन्शियेंट इंडिया पृ० 588

वेदों का पठन-पाठन तक दोनों के लिए वर्जित था। इसकी पूर्ति भी महाभारत ने की। जनता की रुचि अहिंसा की ओर 'स्वतः नहीं' बल्कि वेद विरोधी उक्त धर्मों के कारण बढ़ रही थी और उन्हीं के कारण पशुयज्ञ उसके लिए आलोचना और घृणा का विषय बन रहा था। महाभारत में एक कथा के द्वारा पशुयज्ञ को बुरा बतला कर हवियज्ञ को ही श्रेष्ठ बतलाया गया है। नारायण खंड में बतलाया कि वसु ने हवियज्ञ किया उनसे प्रसन्न होकर विष्णु ने यज्ञ द्रव्य को प्रत्यक्ष होकर स्वीकार किया। यह सब देखकर ही निष्पक्ष विद्वानों का यह मत है कि महाभारत श्रमण संस्कृत से प्रभावित है।

आदान-प्रदान की कथा धर्मों में सदा से चली आई है। एक बार 'हिंद तत्वज्ञाननों इतिहास' के लेखक श्रीनर्मदाशंकर देवशंकर मेहता ने 'जैनों और हिंदुओं के बीच संस्कारों का पारस्परिक आदान-प्रदान' विषय पर गुजरात में बोलते हुए कहा था– भारतवर्ष के मुख्य तीन धर्मों 1. ब्राह्मण धर्म जिसे हिंदू धर्म कहते हैं, 2. बौद्ध धर्म और 3. जैन धर्म में से बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से निष्कासित हो गया और शेष दो धर्म किस कारण से टिक रहे इस पर बहुत-से विद्वानों ने विचार किया है। मैंने भी अपनी बुद्धि के अनुसार विचार किया है। सब विचारों के फलस्वरूप मैं यह समझा हूँ कि दूसरे धर्म के आचार और विचारों को अपने में शामिल करने की अद्भुत शक्ति ब्राह्मणों में है। इस शक्ति के प्रभाव से वे दूसरों की वस्तु को अपनाकर लेते हैं। जैसे कोई जबर बेल छोटे-से झाड़ पर लगी हो तो उस झाड़ के रस को चूसकर सर्वत्र फैल जाती है और आधार वृक्ष का दर्शन भी न हो सके इस तरह उसे हृदयंगम कर लेती है, उसी तरह ब्राह्मणों के आचार-विचार की जटिलता में जो कोई दूसरे धर्म का आचार-विचार घुस जाता है वह ब्राह्मणों का अपना बन जाता है और पीछे वह किसका था इसका निर्णय करना अशक्य हो जाता है। ब्राह्मणों के इस आत्मसात करने के बल के सामने बौद्ध धर्म टिक नहीं सका। बौद्ध धर्म ने अपना स्वत्व और व्यक्तित्व जमाने के बदले, ब्राह्मण धर्म के खंडन का अधिक यत्न किया। इससे दोनों धर्मों के अनुयायियों में द्वेष और निंदा का भाव बढ़ गया। दूसरे ब्राह्मणों ने उस धर्म को ग्रहण करने योग्य बातों को अपना लिया और सामान्य अशिक्षित प्रजा को यह समझाया कि बौद्ध धर्म का जो मुख्य सार कहा जाता है वह तो अपने वैदिकों का अपना है। बौद्धों ने तो अपने से ही ले लिया है। ब्राह्मणों के इस 'व्याप्तिजाल' को जानना हो तो नीचे के मुद्दों पर विचार करें–

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्व० ओझा जी ने भी लिखा है– 'बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार से वैदिक धर्म को बहुत हानि पहुँची। इतना ही नहीं, किंतु उसमें परिवर्तन करना पड़ा और वह नए साँचे में ढल कर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती धर्म संबंधी बहुत-सी नई बातों ने प्रवेश किया। इतना ही नहीं, किंतु बुद्धदेव की गणना विष्णु के अवतारों में हुई और मांस भक्षण का थोड़ा बहुत निषेध करना पड़ा।' –राजपूताने का इतिहास, प्र० खं० 10-11

1. भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया, उनका दया धर्म वैष्णवों में समा गया।
2. ब्राह्मणों के यज्ञ और श्राद्ध में गौवध किया जाता था। उसे बलि बाह्य करार दे दिया।
3. बुद्ध के शरीर के अंगों को लेकर जो रथ यात्रादि उत्सव होते थे वे वैष्णवों की रथयात्रा रूप हो जाए।
4. बौद्धों के जातिखंडन संबंधी आचार-विचार ब्रह्मवाद में समा गए।
5. बौद्ध धर्म का पंचबुद्ध शैव धर्म के पंचमुख शिव में समा गया।
6. अश्वघोष का वज्रसूची प्रकरण, तो जातिभेद का विध्वसंक है, वह जान या अनजान में ब्राह्मणों के उपनिषद् रूप से जा बैठा।

ब्राह्मणों के परिव्राजक बौद्ध भिक्षु ब्राह्मण-शरमण (श्रमण) रूप से एकमेक हो गए।

इस प्रकार बौद्ध धर्म अनेक रूप से वर्तमान हिंदू धर्म के अनेक गली-कूँचों में फैल गया तथा शंकर वेदांत के मायावाद में बौद्ध विज्ञानवादियों का मायावाद गुप्तरीति से इस प्रकार समाया कि मानो मायावाद सीधे मूल उपनिषदों में से निकला है, ऐसा हिंदू वेदांतियों का दृढ़ मंतव्य हो गया। जो आचार-विचार हजम नहीं किए जा सकते थे; जैसे– क्षणिकवाद, अपोहवाद वगैरह। उन्हें बौद्धों का पाखंड धर्म बतलाया गया और पौराणिक रूप में हिंदू धर्म की नई दुकान खुली। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म आर्यावर्त से निष्कासित हो गया। जो अभ्यासी हैं वे इस वस्तु स्थिति को सरलता से समझ सकेंगे।

इस प्रकार बौद्ध धर्म के लुप्त होने के संबंध में अपने विचार प्रकट करने के बाद मेहता जी ने ब्राह्मण धर्मी हिंदुओं ने कौन-से ग्राह्य अंश अथवा गुण जैनों से प्राप्त किए हैं यह बतलाते हुए कहा– 'यज्ञ हिंसा के प्रति अरुचि दिखाने वाले प्रथम तो सांख्याचार्य कपिल थे। उन्होंने यज्ञमर्म को सदोष-कर्म बतलाया और अमुख यज्ञ से स्वर्ग मिलता हो तो भी वह स्वर्ग सुख समय पाकर हिंसा का फल प्रकट किए बिना नहीं रहता, ऐसा कहा।' उसके बाद भागवत संप्रदाय में वासुदेव श्रीकृष्ण ने अहिंसा का कथन किया। किंतु भगवान् कृष्ण के यादव कुल में मदिरापान का चलन होने से मद्य की सहभागी हिंसा सर्वांश में दूर नहीं हो सकी। कुरु-पांचाल युद्ध के समय में पारस्परिक वैर के कारण रौद्र ध्यान के सिवा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का अवकाश न था। आखिर में हिंसा पूरे वेग से बढ़ी और भागवत धर्म अहिंसा का पक्षपाती होते हुए भी हिंसा को रोक नहीं सका। इस समय में अहिंसा का पालन करने वाले यतिजन भी थे। परंतु वे वनों में रहते थे। अहिंसा के ऊपर जोर देने वाले यतियों का एक वर्ग मुंडक शाखा का था, किंतु वह भी यह मानने के लिए तैयार न था कि वेद की हिंसा वेद प्रतिपादित होने पर भी गौण रूप है अथवा हल के धर्मरूप है।

'हिंसा अथवा प्राणातिपात स्वतः दोष रूप है। जिस जीव को मोक्ष के मार्ग में लगना हो उसे इस दोष का पूरी तरह से त्याग करने के लिए बलवान प्रयत्न करना चाहिए, प्राणिवध के द्वारा देवताओं को संतुष्ट करने की भावना अपधर्म है, विधर्म है अथवा अधर्म है।' ऐसा स्पष्ट कथन करने वाले जैन तीर्थंकर थे।

किंतु उन चौबीस तीर्थंकरों में से पार्श्वनाथ (तेईसवें) और महावीर (चौबीसवें) वास्तव में ऐतिहासिक महापुरुष हैं। वे वासुदेव कृष्ण के पीछे हुए हैं। इन दोनों महापुरुषों से पार्श्वनाथ भगवान् बुद्ध के पहले हुए हैं और महावीर बुद्ध समकालीन थे। इन दोनों महापुरुषों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि हिंसा और शुद्ध धर्म इन दोनों का मेल संभव नहीं है तथा धर्म के बहाने से पशु वध करना पुण्य नहीं, किंतु पाप है। इस निश्चय का उन्होंने अपने शुद्ध चारित्र के द्वारा हिंदुओं पर ऐसा गहरा प्रभाव छोड़ा कि यज्ञ में हिंसा करना धर्म है ऐसा कहने के लिए कोई हिंदू तैयार नहीं है। आज विद्वान् और धर्म चिंतक शास्त्रीगण उस हिंसा का प्रतिपादन कर सकते हैं। किंतु यदि कोई ठेठ वैदिक धर्म के अनुसार श्रौतकर्म करने वाला सोमयाग करने को तत्पर हो तो हिंदू उसको तिरस्कारपूर्वक निकाल दें और स्लोटर हाउस में पशुवध करने वाले कसाई की तरह उसकी दुर्गति करें।

मेहता जी के उक्त विवेचन से भी यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म में दूसरों की बातों को अपनाने की अद्‌भुत शक्ति है और उत्तरकालीन उपनिषदों के द्वारा बौद्धों के अनेक मंतव्यों को इस प्रकार से अपने में सम्मिलित कर लिया गया मानो वह उपनिषदों की ही वस्तु हो। (सर राधाकृष्णन् का भी मत है कि कुछ उपनिषदों की रचना बुद्ध के बाद में हुई है।) इससे भी हमारे उक्त विश्वास की ही पुष्टि होती है। अतः उपनिषदों में जो जैन आचार-विचार का पूर्व रूप पाया जाता है, उससे यह निर्णय करना कि जैन धर्म उपनिषदों[1] से निकला है और इसलिए वह हिंदू धर्म की विद्रोही संतान है, सर्वथा भ्रांत है। जैन धर्म एक स्वतंत्र धर्म है। उसके आद्य तीर्थंकर श्रीऋषभदेव थे जो राम और कृष्ण से भी पहले हो गए हैं और जिन्हें हिंदुओं ने विष्णु का अवतार माना है। उन्हीं के विचारों की झलक उपनिषदों में मिलती है। जैसा कि[2] 'उपनिषद् विचारणा' के निम्न शब्दों से भी स्पष्ट है–

1. जर्मन विद्वान् ग्लैजनप ने अपने जैन धर्म नामक ग्रंथ में लिखा है कि प्रो० हर्टले का कहना है कि ब्रह्मलोक और मुक्तिविषयक जैन भावना उपनिषदों की भावना से जुदी प्रकार की है और ये दोनों समान नहीं हो सकती। दोनों में समानता है, वह केवल एक शाब्दिक है।

2. पृ० 201

'उपनिषदोंना छेवटना भागमां वेद-वाह्य विचार वाला साधुओंना आचार-विचार अरण्यवासिओंमा पेठला जणाय छे, अने तेमां जैन अने बौद्ध सिद्धांतों का प्रथम बीजे उग्यां होय ऐम जणाय छे। उदाहरण तरीके सर्वजीव ब्रह्मचक्रमां हंस एटले जीवभम छे जीवघन परमात्मा छे, जीव जे-जेशरीरमां प्रवेशे छेतेते शरीरमय होइ जायछे, केटलाक परमहंसी 'निर्ग्रंथ अने शुक्ल ध्यान परायणहता' आ विगेर उपनिषद् वाक्यों श्री महावीर पूर्वभावी निर्ग्रंथ साधुओंना विचारोंना पूर्व रूप छे। जैनोंना आद्य तीर्थंकर ऋृषभदेव आवर्गना, निर्ग्रंथ साधु हतां। अने पाछल थी तेमने हिंदुधर्मीओए विष्णुना अवतार मान्या छे।'

हिंदू धर्म और जैन धर्म के सिद्धांतों में बहुत अंतर है। जैन वेद को नहीं मानते, स्मृति ग्रंथों तथा ब्राह्मणों के अन्य प्रमाणभूत ग्रंथों को भी प्रमाण नहीं मानते। इसके सिवा दोनों में महत्व का भेद तो यह है कि जैन धर्म के धार्मिक तत्व और उनकी सरणि स्पष्ट और निश्चित है, किंतु हिंदू धर्म में परस्पर विरोधी अनेक सिद्धांत हैं और वे सब अपने सच्चे होने का दावा करते हैं। हिंदू जगत का नियामक और रचयिता ईश्वर को मानते हैं, जैनी नहीं मानते। हिंदू युग-युग जगत की सृष्टि और प्रलय को मानते हैं जबकि जैन जगत को अनादि अनंत मानते हैं। हिंदू मानते हैं कि सनातन धर्म को ईश्वर की प्रेरणा से ब्रह्मा ने प्रकट किया। जैनी मानते हैं कि युग-युग में तीर्थंकर होते हैं और वे अपने जीवन के अनुभव के आधार पर सत्य धर्म का उपदेश देते हैं। हिंदू मानते हैं कि देवता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं जबकि जैन मानते हैं कि मोक्ष केवल मानवीय अधिकारों की वस्तु है। यदि देवताओं को मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो तो उन्हें मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहिए और कर्मों के नाश के लिए तप करना चाहिए। हिंदू कर्म को अदृश्य सत्ता के रूप में मानते हैं और जैन मानते हैं कि कर्म सूक्ष्म पौद्गलिक तत्व है जो जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ बँध जाता है। हिंदू मानते हैं कि ईश्वर की भक्ति करने से उसकी कृपा से सुख मिलता है और जैनी मानते हैं कि अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार जीव स्वयं ही सुखी या दुःखी होता है। हिंदू मानते हैं कि मुक्त हुआ जीव वैकुंठ में अनादि काल तक सुख भोगता है अथवा ब्रह्मा में लीन हो जाता है। जैनी मानते हैं कि मुक्त जीव लोक के अग्रभाग से सदा काल विराजमान रहता है। जैन धर्म में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य गुणस्थान, मार्गणा आदि अनेक तत्व ऐसे हैं जो हिंदू धर्म में नहीं है। जैन न्याय में भी स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि बहुत-से ऐसे तत्व हैं जो जैनेतर न्याय में नहीं हैं। यह सब भेद होते हुए भी दोनों धर्मों के अनुयायियों में सांस्कृतिक दृष्टि से आज एकरूपता दिखाई देती है और कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें दोनों धर्मों के अनुयायी पाए जाते हैं और उनमें परस्पर में रोटी-बेटी व्यवहार भी चालू है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

पहले अनेक विद्वानों का यह मत था कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा है। किंतु स्व० याकोबी ने इस भ्रम का परिमार्जन करते हुए स्पष्ट रीति से यह साबित कर दिया कि ये दोनों दो स्वतंत्र धर्म हैं और इन दोनों में जो कुछ समानता है उस पर से यह प्रमाणित नहीं होता कि एक धर्म में से दूसरा धर्म निकला है।

दोनों में समानता

जैन धर्म और बौद्ध धर्म में अनेक समानताएँ हैं। दोनों वेद को प्रमाण नहीं मानते। दोनों यज्ञ हिंसा के विरोधी हैं। दोनों जगन्नियंता ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। दोनों पुरुषों में देवत्व की स्थापना करके उसकी पूजा करते हैं? दोनों के धर्म संस्थापक 'अर्हत् और जिन' कहलाते हैं। दोनों अहिंसा के सिद्धांत के अनुयायी हैं। दोनों के संघ में साधु और साध्वी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन समानताओं के सिवा महत्व की समानता तो यह है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनों का जन्म बिहार में हुआ था। महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था और यही नाम कुमार अवस्था में बुद्ध का था। बुद्ध की पत्नी का नाम यशोधरा था और श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता के अनुसार महावीर की पत्नी का नाम यशोदा था। किंतु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों धर्मों में जो मौलिक अंतर है उससे यह दोनों धर्म जुदे ही प्रमाणित होते हैं।

दोनों में भेद

दोनों के धार्मिक ग्रंथ जुदे हैं, इतिहास जुदा है, कथाएँ जुदी हैं। इतना ही नहीं किंतु धार्मिक सिद्धांत भी बिलकुल जुदे हैं। जैन धर्म नित्य और अभौतिक जीवतत्व का अस्तित्व मानता है तथा मानता है कि जब तक यह जीव पौद्गलिक कर्मों से बँधा रहता है, तब तक संसार में रहता है, फिर मुक्त होकर ऊपर सिद्धशिला पर जा विराजता है और अनंत काल तक आत्मिक गुणों में मग्न रहता हुआ शाश्वत सुख को भोगता है। किंतु बौद्ध जीवतत्व को नहीं मानते। उसके मत से जिसे आत्मा या जीव कहते हैं, वह कोई नित्य पदार्थ नहीं है, किंतु क्षणिक धर्मों की एक संतान है। उस संतान का विनाश ही मोक्ष है। जैसे तेल और बत्ती के जल चुकने पर दीपक का विनाश हो जाता है वैसे ही उस संतान का भी नाश हो जाता है। बौद्ध धर्म का यह सिद्धांत जैन धर्म के सिद्धांत से बिलकुल विपरीत है।

'महावीर केवल साधु न थे बल्कि तपस्वी भी थे। किंतु बोध के प्राप्त होने के बाद बुद्ध तपस्वी नहीं रहे, केवल साधु ही रहे और उन्होंने अपना पूरा पुरुषार्थ जीवन धर्म की ओर लगाया। अतः महावीर का लक्ष्य आत्म धर्म हुआ और बुद्ध का लक्ष्य लोक धर्म हुआ। इसी से बुद्ध अधिक प्रसिद्ध हुए। किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि महावीर लोक

समाज से सर्वथा दूर ही रहते थे। अर्हत् हो जाने के बाद वे भी लोक समाज में विहार करते थे, बुद्ध की तरह उनके अनेक शिष्य थे, उनका एक संघ भी था और यह संघ बराबर फैलता गया, किंतु भारत की सीमा के बाहर उसका पर्याप्त फैलाव न हो सका।'

महावीर और बुद्ध के जीवन का उक्त विश्लेषण करते हुए जर्मन विद्वान प्रो० लुइमान ने आगे लिखा है– 'महावीर संकुचित प्रकृति के थे और बुद्ध विशाल प्रकृति के थे। महावीर लोकसभा में मिलने से दूर रहते थे और बुद्ध लोक समाज की सेवा करते थे। यह बात इस प्रसंग से और भी स्पष्ट हो जाती है कि यदि बुद्ध को उनका कोई शिष्य जीमने का निमंत्रण देता था तो वह उसे स्वीकार करके उसके घर चले जाते थे, किंतु महावीर यह मानते थे कि समाज जीवन के साथ साधु का इस प्रकार का संबंध ठीक नहीं है। यह बात इससे और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध विहार करते समय जिस-तिसके साथ बातें करते जाते थे और अपने विचार और आचार में फेरफार करने के साथ-साथ लोगों को उपदेश देते और अपने में सम्मिलित करने की पद्धति में भी फेरफार कर लेते थे। किंतु महावीर में यह बात नहीं पाई जाती। आध्यात्मिक उपदेश करने या शिक्षा देने के लिए महावीर ने किसी को बुलाया हो ऐसा जान नहीं पड़ता। यदि कोई मनुष्य धार्मिक चर्चा करने के लिए उनके पास जाता था तो महावीर अपने कठिन सिद्धांतों के अनुसार उसका उत्तर मात्र दे देते थे। किंतु उसकी परवाह नहीं करते थे।

अतः ऊपर बताए गए कारणों से जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों स्वतंत्र धर्म हैं, एक से दूसरा नहीं निकला है। फिर भी दोनों धर्म सुदीर्घ काल तक एक ही क्षेत्र में फले-फूले हैं अतः एक का असर दूसरे पर न हुआ हो, यह संभव नहीं है।

जैन धर्म और मुसलमान धर्म

इस्लाम का उदय यद्यपि अरब में हुआ किंतु शताब्दियों तक दोनों धर्मों का भारत के नाते निकट संबंध रहा है और फलस्वरूप एक का दूसरे पर असर भी पड़ा है। मुस्लमानों का सबसे अधिक असर तो जैनों की स्थापत्यकला और चित्रकला पर पड़ा है। साथ-साथ जैनों की स्थापत्यकला का असर मुसलमानों की स्थापत्यकला और चित्रकला पर पड़ा है। किंतु इससे हमारा प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन तो धार्मिक क्षेत्र में मुसलमान धर्म ने जैन धर्म के ऊपर जो प्रभाव डाला है उससे है। मुसलमान धर्म का जैन धर्म के ऊपर महत्व का असर तो उसके अंदर उत्पन्न होने वाले मूर्तिपूजा विरोधी संप्रदायों का जन्म लेना है। मुसलमानों के मूर्तिपूजा विरोध और मूर्तिखंडन ने ही लोंकाशाह वगैरह के चित्त में इस भावना को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी संप्रदाय और तारणपंथ की स्थापना हुई।

मुसलमान धर्म पर जैन धर्म का असर बताते हुए प्रो० ग्लेजनप ने 'जैनिज्म' नामक ग्रंथ में A. Furher. V. Kremer के एक निबंध का हवाला देते हुए लिखा है कि अरब कवि और दार्शनिक अबुलअला ने (973-1048) अपने नैतिक सिद्धांत जैन धर्म के प्रभाव में स्थापित किए थे। इसका वर्णन करते हुए क्रेमर ने लिखा है– 'अबुलअला केवल अन्नाहार करता था और दूध तक नहीं पीता था। कारण, वह मानता था कि माता के स्तन में से बच्चे के हिस्से का दूध भी दुह लिया जाता है इसलिए इसे वह पाप मानता था। जहाँ तक बनता था वह आहार भी नहीं करता था। उसने मधु का भी त्याग कर दिया था। अंडा भी नहीं खाता था। आहार और वस्त्र की दृष्टि से वह सन्यासियों की तरह रहता था। पैर में लकड़ी की पावड़ी पहरता था। अकारण पशु को मारना और उसका चमड़ा काम में लाना पाप है। एक स्थान पर वह नग्न रहने की भी प्रशंसा करता है और कहता है– 'ऋतु ही तुम्हारे लिए संपूर्ण वस्त्र है।' उसका कहना है कि भिखारी को पैसा देने के बदले मक्खी को जीवनदान देना श्रेष्ठ है।

नग्नता, जीवरक्षा, अन्नाहार और मधु का त्याग आदि विषयों पर उसका पक्षपात यह बतलाता है कि इसके विचारों के ऊपर जैन धर्म का, खास करके दिगंबर संप्रदाय का असर था। अबुलअला बहुत समय तक बगदाद में रहा था। यह नगर व्यापार का केंद्र था। संभव है कि जैन व्यापारी वहाँ गए हों और उनके साथ कवि का संबंध हुआ हो।

उसके लेखों पर से जाना जाता है कि उसे भारत के अनेक धर्मों का ज्ञान था। भारत के साधु नख नहीं काटते इस बात का उसने उल्लेख किया है। मुर्दा जलाने की पद्धति की प्रशंसा करता है। भारत के साधु चिता की अग्निज्वाला में कूद पड़ते हैं। इस बात का अबुलअला को बहुत आश्चर्य हुआ था। मृत्यु के इस ढंग को जैन धर्म मानता है। बन सके तो केवल आहार का त्याग करो, अबुलअला के इस वचन से यह अनुमान किया जा सकता है कि उसे जैनों के सल्लेखना व्रत का ज्ञान था। किंतु यह व्रत वह स्वयं पाल सकता इतना उसका आत्मा सबल नहीं था। इन सब बातों से ऐसा लगता है कि अबुलअला जैनों के परिचय में आया था और उनके कितने ही धार्मिक सिद्धांतों को उसने स्वीकार किया था।

जैन सूक्तियाँ

प्राकृत

1. **णो लोगस्सेसणं चरे।**

   अर्थ– लोकैषणा का अनुसरण करना– लोगों की देखादेखी चलना नहीं चाहिए।

2. **सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया दुक्खपडिकुला अप्पियवहा।**
   पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।।–आचारांग

   अर्थ– समस्त जीवों को अपना-अपना जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है, वे दुःख नहीं चाहते, वध नहीं चाहते, सब जीने की इच्छा करते हैं। (अतएव सबकी रक्षा करनी चाहिए।)

3. **सव्वे जीवा वि इच्छंति जीवउं न मरिज्जिउं।**
   तम्हा पाणवहं घोरं णिग्गंथा वज्जयंति णं।।–दशवैकालिक

   अर्थ– सब जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। अतएव निर्ग्रंथ मुनि घोर प्राणिवध का परित्याग करते हैं।

4. **णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।**
   संगाह उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि।।–शिवार्य

   अर्थ– परिग्रहरहित साधु ही सदा कषायों को कृश करने में समर्थ होता है; क्योंकि परिग्रह ही कषायों को उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं; जैसे– सूखी लकड़ियाँ अग्नि को उत्पन्न करती और बढ़ाती हैं।

5. **समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुखो पसंसणिंदसमो।**
   समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।–कुन्दकुन्द

   अर्थ– जो शत्रु और मित्र में, सुख और दुःख में, प्रशंसा और निंदा में मिट्टी और सोने में तथा जीने में तथा मरने में सम है, वही श्रमण–जैन साधु है।

6. **भावरहिओ न सिज्झइ जइवि तवं चरइ कोडिकोडीओ।**
   जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थों गलियवत्थो।।–कुन्दकुन्द

   अर्थ– भाव रहित को सिद्ध की प्राप्ति नहीं होती, भले ही वह बिलकुल नग्न हुआ, हाथों को लंबा करके करोड़ों जन्मों तक नाना प्रकार के तप करता रहे।

7. **जेसिं सिवसयेसु रदी तेसिं दुक्खं बियाण सब्भावं।**
जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।।–कुन्दकुन्द
अर्थ– जिनकी इंद्रिय विषयों में आसक्ति है उनको स्वाभाविक दुःख समझना चाहिए, क्योंकि यदि उन्हें स्वाभाविक दुःख नहीं होता तो वे विषयों की प्राप्ति के लिए यत्न ही क्यों करते?

8. **वउ तउ संजमु सीलु जिय ए सब्बइं अकयत्थु।**
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु।।–योगीन्दु
अर्थ– व्रत, तप, संयम और शील का पालन तब तक निरर्थक है जब तक इस जीव को अपने पवित्र शुद्ध स्वभाव का बोध नहीं होता।

9. **राए रंगिए हिडवडए, देउ ण हीसइ संतु।**
दप्पणि मइलइ बिंबु जिम, एहउ जाणि णिभंतु।।–योगीन्दु
अर्थ– जैसे मैले दर्पण में मुख दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार रागभाव से रंगे हुए हृदय में वीतराग शांतिदेव का दर्शन नहीं होता, यह सुनिश्चित जानो।

10. **जो ण विजादि वियारं तरुणिणयण कडक्खवाणविद्धो वि।**
सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवइ सूरो।।–स्वामी कार्तिकेय
अर्थ– तरुणी स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से वेधा जाने पर भी जो विकार भाव को प्राप्त नहीं होता, वही शूरवीर है। जो रण में शूर है वह शूर नहीं है।

11. **जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।**
केम्वई मोक्खु ण अत्थि पर चित्तइ सुद्धि ण जंजि।।–योगीन्दु
अर्थ– हे जीव! तू चाहे जहाँ जा और चाहे जो क्रिया कर परंतु जब तक तेरा चित्त शुद्ध न होगा, तब तक किसी तरह भी तुझे मोक्ष नहीं मिल सकता।

12. **जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।**
विसकंटको व्व हिंसा परिहरिदव्वा तदो होदि।।–शिवार्य
अर्थ– वास्तव में जीवों का वध अपना ही वध है और जीवों पर दया अपने पर ही दया है। इसलिए विषकंटक के समान हिंसा को दूर से त्याग देना चाहिए।

13. **रायदोसाइदीहिं य डहुलिंज्जइ णेय जस्स मणिसलिलं।**
सि णय तच्चं पिच्चइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ।।–देवसेन
अर्थ– जिसका मनोबल राग, द्वेष आदि से नहीं डोलता है, वह आत्मतत्व का दर्शन करता है और जिसका मन रागद्वेषादिक रूपी लहरों से डाँवाडोल रहता है उसे आत्मतत्व का दर्शन नहीं होता।

संस्कृत

14. **आपदां कथितः पन्था इंद्रियाणामसंयमः।**
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थ– इंद्रियों का असंयम आपदाओं का–दुखों का मार्ग है और उन्हें अपने वश में करना संपदाओं का–सुखों का मार्ग है। इनमें से जो तुम्हें रुचे, उस पर चलो।

15. **हेयोणदेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ॥–वादीभसिंह**

अर्थ– यदि शास्त्रों को पढ़कर हेय और उपादेय का ज्ञान नहीं हुआ, किसमें आत्म का हित है और किसमें आत्म का अहित है, यह समझ पैदा नहीं हुई, तो श्रुताभ्यास में परिश्रम करना व्यर्थ ही हुआ।'

16. **कोऽन्धो योऽकार्यरतः को बधिरो यः रुणोति न हितानि।**
को मूको यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति॥–प्रश्नोत्तर रत्नमाला

अर्थ– अंधा कौन है? जो न करने योग्य बुरे कामों को करने में लीन रहता है। बहरा कौन है? जो हित की बात नहीं सुनता। गूँगा कौन है? जो समय पर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता।

17. **पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।**
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥–गुणभद्राचार्य

अर्थ– मनुष्य पुण्य का फल सुख तो चाहते हैं किंतु पुण्य कर्म करना नहीं चाहते और पाप का फल दुःख कभी नहीं चाहते, किंतु पाप को बड़े यत्न से करते हैं।

18. **तत्वज्ञानविहिनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम्।**
न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः॥–क्षत्रचूड़ामणि

अर्थ– जो लोग तत्वज्ञान से रहित हैं उनका निर्ग्रंथ साधु बनना भी निष्फल है; क्योंकि यदि भोजन की सामग्री, चावल वगैरह नहीं है तो केवल बटलोही वगैरह पात्रों से ही भोजन नहीं बनाया जा सकता।

19. **गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।**
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः॥–रत्नकरंडश्रा०

अर्थ– जो गृहस्थ होकर भी निर्मोह हैं वह मोक्ष के मार्ग में स्थित हैं, परंतु जो मुनि होकर भी मोही हैं वह मोक्ष के मार्ग में स्थित नहीं हैं। अतः मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

20. यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥

21. यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभाअपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्॥—पूज्यपाद

अर्थ— ज्यों-ज्यों आत्मतत्व का अनुभव होता जाता है त्यों-त्यों विषय सुलभ होते हुए भी नहीं रुचते और ज्यों-ज्यों विषय सुलभ होकर भी नहीं रूचते, त्यों-त्यों आत्मतत्व का अनुभव होता जाता है।

22. अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने॥—वादीभसिंह

अर्थ— यदि अपकार करने वाले पर कोप करना है तो फिर कोप पर ही कोप क्यों नहीं करते, क्योंकि कोप धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष और जीवन का भी नाश करने वाला है।

23. अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि॥—वादीभसिंह

अर्थ— जो दूसरों के दोषों की तरह अपने भी दोष को देखता है, उसके समान कौन है? वह शरीर से युक्त होते हुए भी वास्तव में मुक्त है।

24. आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
तत्कियद् कियदायाति वृथा है विषयैषिता॥—गुणभद्र

अर्थ— प्रत्येक प्राणी का आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसके सामने यह पूरा विश्व भी अणु के तुल्य है। ऐसी स्थिति में यदि इस विश्व का बँटवारा किया जाए तो प्रत्येक के हिस्से में कितना-कितना आएगा? अतः विषयों की चाह व्यर्थ ही है।

हिंदी

25. राग उदै जग अन्ध भयौ सहजहिं सब लोगन लाज गँवायी।
सीख विना नर सीखत हैं विषयादिक सेवन की सुघरायी।।
तापर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिए तिनके निठुरायी।
अन्ध असूघन की अंखियान में डारत हैं रज राम दुहाई।।**—भूधरदास**

26. राग उदै भोग भाव लागत सुहावने से,
बिना राग ऐसे लागैं जैसे नाग कारे हैं।

राग सौं जगतरीति झूठी सब सांचौ जानै,
राग मिटै सूझत आसार खेल सारे हैं।
रागी विन रागी के विचार में बड़ौई भेद,
जैसे भटा पच काहू काहू को बयारे हैं।।—**भूधरदास**

27. ज्यों समुद्र में पवन तैं चहुंदिसि उठत तरंग।
त्यों आकुलता सौं दुखित लहैं न सभरस रंग।।—**वृंदावन**

28. चाहत हैं धन होय किसी विधि तौ सब काज सरै जियरा जी।
गेह चिनाय करूँ गहना कुछ, व्याहि सुत सुता बांटिय भाजी।।
चिंतत यौ दिन जाहिं चले जम आनि अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गए रहि जाए रूपी शतरंज की बाजी।।—**भूधरदास**
कला वहत्तर पुरुष में, तामें दो सरदार।
एक जीव की, जीविका, एक जीव उद्धार।।

